श्री :

अथ षष्ठोऽध्यायः ।

पूर्वरङ्गविधिं श्रुत्वा पुनराहुर्महत्तमाः ।

अभिनवभारती

आह्लायन्तं सुव्यक्तेर्नासया हृदि संविदा
अभिवन्दे शिवं पुण्यं गन्धतन्मात्र रूपिणम् ।

मधुसूदनी

एषां रसानां सुव्यक्तिः कथं काव्येऽनुभाव्यताम्
इति तत्त्वं समाख्यातुं कृताभिनवभारती ।
तत्र बालसुबोधार्थं तन्यते मधुसूदनी
मिश्रं श्रीबालकृष्णाख्यं स्मारं स्मारं गुरुं गुरुम् ।

बालक्रीड़ा

सहृदयों को स्वप्रकाशरूप से नासिका के द्वारा सुव्यक्त होकर आह्लादित करने वाले पुण्यगन्धतन्मात्रात्मक भगवान् शिव को मैं प्रणाम करता हूँ । यहाँ "पुण्यो गन्धः पृथिव्यान्तु" के अनुसार गन्ध में पुण्यत्व विशेषण दिया है। जो शिवजी के अष्टमूर्ति होने से सार्थक हैं।

विशेष वक्तव्य आचार्य अभिनव गुप्त परममाहेश्वर हैं। अतः उन्होंने अपने ग्रन्थ अभिनव भारती के प्रत्येक अध्याय के आरम्भ में महेश्वर भगवान् शिवजी की स्तुति या बन्दना की है । अभिनव गुप्त प्रत्यभिज्ञा दर्शन के प्रवर्त्तक प्रसारक आचार्य हैं । प्रत्यभिज्ञा दर्शन में भगवान् शिव का ही महत्व प्रगट किया गया है । उसमें ३६ तत्व माने गये हैं । इधर नाट्यशास्त्र में भी ३६ अध्याय हैं । ३७ वां अध्याय उपसंहाराध्याय है । नाट्य का विषय सब ३६ अध्यायों में समाप्त हो गया है । अस्तु ! इन तत्त्वों के नाम हमने आरम्भ में ४ थे पेज में दे दिये हैं । ये भूमि प्रभृति ३६ मूर्तियाँ भगवान् शिव की हैं । तदनु सार प्रथम अध्याय में धरणी, द्वितीय अध्याय में जल, तृतीय में तेज, चतुर्थ में वायु, पंचम में व्योम नामक भगवान् की मूर्तियों की बन्दना की गई है । इसी वन्दना क्रम में पृथिवी आदि के गन्धादि गुणों के अनुसार तन्मात्राओं को भी भगवत्स्वरूप मानकर छठे अध्याय से १० वें अध्याय तक में वन्दनीय बनाया है अतः छठे में गन्धतन्मात्रा, ७ वें रसतन्मात्रा, ८ वें में रूपतन्मात्रा, ९ वें में स्पर्शतन्मात्रा १० वें में शब्दतन्मात्रा की वन्दना है । किन्तु दैव संयोग से छठे अध्याय के आरम्भ का पाठ विच्छिन्न हो गया है अतः हमने गुरु श्रीबाल कृष्ण जी मिश्र मैथिल जी की कृपा से मंगलाचरण के श्लोक का नव निर्माण किया है । इसी तरह मंगलाचरण के बाद की टीका के भी आरम्भ का कुछ अंश त्रुटित है । उसकी भी भी योजना यथाप्राप्त मूलग्रन्थ "तथापि" और "वचनमात्रात्" इस अभिनव भारती के

भरतं मुनयः सर्वे प्रश्नान्पञ्चाधिधत्स्व नः ॥१॥

अभिनवभारती

पूर्वरङ्गविधिं श्रुत्वेति । यद्यपि प्रथमाध्याये प्रश्नपंचकं पृष्टं तदर्थ विषये किञ्चिदुक्तञ्च तथापि नाट्यतत्त्वे सम्यङ् निर्ज्ञाते निर्णीतं भवति । न वचनमात्रात् । अनेनैवाभिप्रायेण दशरूपकनिरूपणे प्रथमप्रश्नार्थो निगमयिष्यते—

"भविष्यति युगे प्रायो भविष्यन्त्यबुधा नराः ।"

ये चापि हि भविष्यन्ति ते यत्नश्रुतबुद्धयः । (ना. शा. १९-१५०) इत्यादि ।

मधुसूदनी

आल्हादयन्तमिति । अत्रेदं हृदयं, परममाहेश्वरोऽभिनवगुप्ताचार्यः प्रत्यभिज्ञादर्शनप्रवर्त्तको महान् पुरुषः । तद्दर्शने च शिव एव सर्वस्वम् । तेन षट्त्रिंशदध्यायात्मकनाट्यशास्त्रे तद्दर्शनानुमतषट्त्रिंशतत्त्वरूपः शिवः प्रत्यध्यायं स्तुतो वन्दितश्च । तत्र प्रथमे धरणी, द्वितीये जलं, तृतीये तेजः, चतुर्थे वायुः, पंचमे व्योम वन्दितम् ।

बालक्रीड़ा

(मूल) पूर्वरंग—जिसका वर्णन पूर्व पंचम अध्याय में भरत मुनि कर चुके हैं—की विधि को सुनकर बड़ों के भी बड़ सभी आत्रय प्रमुख मुनियों ने पुनः भरतमुनि से कहा कि आप हमारे पाँच प्रश्नों का अभिधान समाधान करिये ॥१॥

आधार पर हमने की है । वह पाठ है । पूर्वरंगविधिं श्रुत्वेति । यद्यपि प्रथमाध्याये प्रश्न पंचकं पृष्टं तद्विषये किञ्चिदुक्तं च । विच्छिन्न पाठ की यह पूर्ति हमने की है । "पूर्वरंग विधिं- श्रुत्वा" यह अध्याय के आरम्भ के श्लोक की प्रतीक है । यद्यपि प्रथम अध्याय में पांच प्रश्न—

नाट्यवेदः कथं ब्रह्मन्नुत्पन्नः १ कस्य वा कृते २ ।

कत्यङ्गः ३ किंप्रमाणश्च ४ प्रयोगश्चास्य कीदृशः ५ ।

१ नाट्यवेद कैसे उत्पन्न हुआ । अर्थात् नाट्यवेद के बनाने की क्या आवश्यकता हुई । यह प्रथम प्रश्न नाट्यवेद के निर्माण की आवश्यकता के विषय में है । (२) किसके लिए इस नाट्य वेद को बनाया । यह दूसरा प्रश्न इस नाट्यवेद के अधिकारी के विषय में है कि कौन इसके पढ़ने का अधिकारी है । (३) इस नाट्यशास्त्र के कितने अंग हैं । यह तीसरा प्रश्न अंगों के बारे में है । (४) इस नाट्यशास्त्र का प्रमाण क्या है । यह चौथा प्रश्न है कि कितने श्लोक एवं कितने अध्याय इसमें है । (५) इस के प्रयोग की शैली क्या है कैसी है ? यह पाँचवा प्रश्न प्रयोग की शैली पद्धति के विषय में है । इनमें प्रथम तीन के ही विषय में उत्तर भी क्रमशः कह दिये हैं । इसी लिए लिखा कि "किंचिदुक्तञ्च तद्विषये" प्रश्नों का समाधान कुछ किया है । जैसे—

पूर्वं कृतयुगे विप्राः ? वृत्ते स्वायम्भुवेऽन्तरे ।

त्रेतायुगेऽथ सम्प्राप्ते मनोर्वैवस्वतस्य तु । १ । ८ ।

अभिनवभारती

तथा—

"बुद्धयः कर्मशिल्पानि वैचक्षण्यं कलासु च ॥"

सर्वाण्येतानि नश्यन्ति तदा लोकः प्रणश्यति (ना. शा. १९-१५१) इत्यादि।

मधुसूदनी

तत एतेषां गन्धादिगुणानुसारं षष्ठे गन्धतन्मात्रा, सप्तमे रसतन्मात्रा अष्टमे यद्यपि अभिनवभारती विच्छिन्ना तद्यपि रूपतन्मात्रा स्यात्, नवमे स्पर्शतन्मात्रा, दशमे शब्द-तन्मात्रा वन्द्या। एवमत्र षष्ठे गन्धतन्मात्रा वन्द्यते। अन्यत्रात्र षष्ठाध्यायारम्भ-भारतीपाठो मंगलं च दैवात् त्रुटितमेवमतो मंगलाचरण पद्यं पाठश्च गुरूणामा-शीर्वादेन निर्मायांकिते। तथाहि—हृदि सहृदयहृदये। जात्यभियायेणैकवचनम्।

बालक्रीड़ा

ग्राम्यधर्मप्रवृत्ते तु कामलोभवशं गते।
ईर्ष्याक्रोधादिसमूढे लोके सुखित दुःखिते। १। ९।
देवदानव गन्धर्वयक्षरक्षोमहोरगैः।
जम्बूद्वीपे समाक्रान्ते लोकपालप्रतिष्ठिते। १। १०
महेन्द्रप्रमुखै देवैरुक्तः किल पितामहः।
क्रीडनीयकमिच्छामो दृश्यं श्रव्यं च यद्भवेत्। १। ११।
न वेदव्यवहारोऽयं संश्राव्यः शूद्रजातिषु।
तस्मात्सृजापरं वेदं पंचमं सार्ववर्णिकम्। १। १२।

अर्थात् विश्व नाना प्रकार के दुःखों से आकुल हो गया है अतः दुखों से उन्मुक्त करने के लिए चारों वेदों से अतिरिक्त पांचवाँ वेद बनाइये जो कि सभी वर्गों के व्यवहार में आ सके। यह नाट्यवेद बनाने की क्या आवश्यकता हुई। इस प्रथम प्रश्न का उत्तर है।

क्वचिद्धर्मः क्वचित्क्रीडा क्वचिदर्थः क्वचिच्छमः।
क्वचिद् हास्यं क्वचिद् युद्धं क्वचित्कामः क्वचिद्वधः। १। १०८
धर्मोऽधर्मप्रवृत्तानां कामः कामोपभोगिनाम्।
निग्रहो दुर्विनीतानां मत्तानां दमनक्रिया। १। १०९
क्लीवानां धाष्टर्यजननमुत्साहः शूरमानिनाम्।
अबुधानां विबोधश्च वैदुष्यं विदुषामपि। १। ११०
ईश्वराणां विलासश्च स्थैर्यं दुःखार्दितस्य च।
अर्थोपजीविनामर्थो धृतिरुद्विग्नचेतसाम्। १। १११।
उत्तमाधममध्यानां नराणां कर्मसंश्रयम्।
हितोपदेशजननं धृतिक्रीडासुखादिकृत्। १। ११२।
एतद्रसेषु भावेषु सर्वकर्मक्रियास्वपि।
सर्वोपदेशजननं नाट्यं लोके भविष्यति। १। ११३।

अभिनवभारती

सिद्ध्यध्याये च द्वितीयप्रश्नार्थविषयो निर्णेष्यते। "तुष्यन्ति तरुणाः कामे" (ना. शा. २७-५८) इत्यादिना। एवमन्यत्रापि तत्र तत्रेति। एतच्च तद्व्याख्यानप्रसङ्ग एव दर्शयिष्यामः। तेन पूर्वप्रश्नितवस्तुतत्त्वनिर्णय एव क्रियतामिति तात्पर्यम्। प्रश्नान् पश्चेति।१।

मधुसूदनी

नासा नासिकाद्वारा संविदा स्वप्रकाशरूपेण सुव्यक्तेर्हेतोः आल्हायन्तं पुण्यगन्धतन्मात्ररूपिणं शिवमभिवन्दे इत्यन्वयः। अष्टमूर्त्तेः शिवस्य धरणीरूपतया प्रथमेऽध्याये निरूपितत्त्वात् 'पुण्यो गन्धः पृथिव्यान्तु" इत्युक्तेश्च गन्धे पुण्यत्वविशेषणमुचितमेव।

बालक्रीड़ा

दुःखर्तानां श्रमार्त्तानां शोकार्त्तानां तपस्विनाम्।
विश्रान्तिजननं काले नाट्यमेतद्भविष्यति। १। ११४।
धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्धनम्।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद्भविष्यति। १। ११५।

इस रूप में विश्व को उपदेश देने वाला यह नाट्यवेद होगा। अतः सभी वर्गों के प्राणियों के लिए इस नाट्य वेद को बनाया है। यह द्वितीय प्रश्न "किसके लिए यह नाट्यवेद बनाया गया है" का उत्तर है।

जग्राह पाठ्यमृग्वेदात्सामभ्यो गीतिमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि। १। १७।

नाट्यवेद अंगी है और पाठ्य, गीति, अभिनय एवं रस ये चार इस वेद के अंग हैं। इन चारों का चारों वेदों से पृथक् २ ग्रहण किया है। जिनमें ऋग्वेद से पाठ्य, सामवेद से गीतियां, यजुर्वेद से अभिनयों, एवं अथर्ववेद से रसों को लिया है। यह तीसरे प्रश्न (कत्यंगो नाट्यवेदः) का उत्तर है। इस प्रकार यहाँ तीन प्रश्नों का उत्तर कहा किन्तु चतुर्थ एवं पंचम प्रश्न का उत्तार नहीं कहा वह यों है—

एको द्वादश साहस्त्रैः श्लोकैरेकस्तदर्धतः
षड्भिः श्लोकसहस्त्रैर्यो नाट्यवेदस्य संग्रहः।

नाट्यवेद के प्रमाण के विषय में यह एक प्राचीन पद्य मिलता है कि नाट्यवेद का एक संग्रह १२ हजार श्लोकों का है। और दूसरा संग्रह ६ हजार श्लोकों का है। ऐसा दो प्रकार से नाट्यवेद के प्रमाण के विषय में उल्लेख हैं। किन्तु वर्त्तमान में उपलभ्यमान नाट्यशास्त्र में ६ हजार श्लोक हैं। दशरूपक के चतुर्थ प्रकाश के २१ वें श्लोक के अवलोक में धनिक ने नाट्यवेद के ७ वें अध्याय के ६ ठे श्लोक की वृत्ति (एभ्यश्च सामान्यगुण योगेन रसा निष्पद्यत्ते) का उद्धरण करते समय (षट् सहस्त्रीकृतापि उक्तम्) नाट्यवेद के कर्त्ता को ६ हजार श्लोकों के निर्माता के रूप में लिखा है। जैसे—रसाभिव्यतिके हेतु इन उनञ्चास भावों से सामान्य रूप में गुणकारी योग अर्थात् चर्वणा होने पर रसों की

मधुसूदनी

इदं मंगलाचरणम्। "यद्यपि प्रथमाध्याये प्रश्नपंचकं पृष्टं तदर्थविषये किंचिदुक्तं चेति" पाठश्च। तदर्थ विषये प्रश्नप्रतिपाद्यार्थविषये। किञ्चिदुक्तं चेति। अत्र विषये किम्वुक्तं तत् हिन्दीटीकायां बालक्रीड़ायो विस्तरेण द्रष्टव्यम्। इयं नवीन पाठयोजना "तथापि" इति पदं "न वचनमात्रा"दिति पदं च दृष्ट्वा बुद्ध्वा च कृतेति मन्तव्यं सहृदयैः ॥१॥

बालक्रीड़ा

निष्पत्ति होती है। ऐसा षट्सहस्रीकार ने कहा है अतः ६ हजार श्लोकों का संग्रह इसका प्रमाण है यह चौथे प्रश्न (किंप्रमाणश्च) का उत्तर है।

आंगिक, वाचिक, सात्विक एवं आहार्यिक चार प्रकार के अभिनयों से इसका प्रयोग होता है। यह पञ्चम प्रश्न (प्रयोगश्चास्य कीदृशः) का उत्तर है। तथापि नाट्य के प्रयोग के रूप में वस्तु का ज्ञान भली भाँति होता है और तभी उसका निर्णय भी होता है केवल वचन मात्र से अर्थात् विना प्रयोग से केवल कह देने से निर्णयात्मक सम्यक् ज्ञान नहीं होता है। इसी अभिप्राय से १९ अध्याय में दशरूपकों के निरूपण के प्रथम प्रश्न के अर्थ का निगमन करेंगे।

आगे आने वाले युग में मनुष्य प्रायः अबुध होंगे यानी जनता भावावबोध कलुषा होगी। तथा जो कोई बुद्धिमान् भी होंगे वे बड़े प्रयत्न से शास्त्र को पढ़ेंगे तब कहीं उनको बुद्धि प्राप्त होगी। क्योंकि जब बुद्धि, कर्म, शिल्प एवं कलाओं में दक्षता नष्ट हो जाती हैं तब लोक नष्ट हो जाते हैं।

यहां का भाव यह है कि नाट्यवेद का निर्माण इसलिए हुआ है कि भविष्य में जनता बुद्धि, कर्म शिल्प एवं कलाओं से शून्य होगी अतः उनकी बुद्धि को जागरित करने के लिए ऐसा सरस उपाय होना चाहिए जिससे विना आयास के उनको शास्त्र का ज्ञान हो जाय तथा विद्या की सुरक्षा रहे वह उपाय है नाट्य; फलतः नाट्यवेद उसके प्रचार प्रसार के लिए बनाया है।

द्वितीय प्रश्न "किस के लिए यह नाट्यवेद बनाया गया है इस नाट्यवेद के पढ़ने का अधिकारी कौन है" के अर्थ का निर्णय २७ वें सिद्धि नामक अध्याय में करेंगे। वहां लिखा है कि युवा लोग काम शृंगार को देखकर प्रसन्न होवें।

यहाँ का सार यह है कि होनहार बालकों को विद्या पढ़ाना एवं सुबुद्ध बनाना आवश्यक है इसलिए जिस उपाय से वे विद्या के अध्ययन में प्रवृत्त होवें वही उपाय करना चाहिए। उस अबोध जनता को विद्या के अध्ययन में प्रवृत्त करा देने वाला उपाय नाट्य है फलतः नाट्यवेद के अधिकारी उपदेश्य जनता है।

एवं इस प्रकार भिन्न-भिन्न स्थलों में भी यही विषय है। इसे हम उन-उन स्थलों के व्याख्यान के प्रसंग में दिखलायेंगे।

ये रसा इति पठ्यन्ते नाट्ये नाट्यविचक्षणैः ।
रसत्वं केन वै तेषामेतदाख्यातुमर्हसि ॥२॥

अभिनवभारती

ये रसा इत्यादि तु यत्प्रश्नत्रयं तत्रायं भावः—इहाङ्गगणनायां "जग्राह पाठ्यम् (ना. शा. १-१७) इत्यादौ पाठ्यगीतयोस्तावत्सुप्रसिद्धं रूपम्। अभिनयानामपि
"महागीतेषु चैवार्थान्सम्यगेवाभिनेष्यसि" इति (ना. शा. ४-१५)
"यदा प्राप्त्यर्थमर्थानां तज्ज्ञैरभिनयः" (ना. शा. ४-२६१)
इत्यादिवचनबलाच्च रूपं तावन्नातीव हृदयङ्गमम्।

मधुसूदनी

वै इति शब्द इति। प्रश्नः—रसत्वं केन वै इति द्वितीयपद्ये "वै" इतिशब्दः कमभिप्रायमुद्दिश्य उदटंकि। यतो हि प्रमाणभूतो नाट्याचार्यः दर्भपवित्रपाणिः शुचाववकाशे प्राङ्मुख उपविश्य महता प्रयत्नेन श्लोकान् आर्याश्च प्रणिनाय। तत्राशक्यं

बालक्रीडा

(मूल) नाटचशास्त्र का विशेषरूप से व्याख्यान करने में निपुण विद्वान् लोग नाटच म जिनको "रसाः" ऐसा पढ़ते हैं उनमें रसत्व कैसे अर्थात् उनको रस क्यों कहते हैं।

अब शंका होती है कि यह कौन व्याख्या का प्रकार है। क्योंकि यह आम्रान् पृष्टः कोविदारान् आचष्टे वाली कथा हुई। किसी ने प्रश्न किया आम कैसे हैं ? कितने हैं या कहाँ है ? उत्तर देते है कोंदों एसे हैं इतन हैं आदि। वैसे ही यहाँ का भाव है कि पाँच प्रश्न मुनियों ने किये। उनके बारे में कुछ न लिखकर प्रथम अध्याय के पाँच प्रश्नो के विषय में लिखना शुरूकर दिया यह कौन तरीका है। इसके उत्तर में कहते हैं कि पहले उस वस्तु के तत्त्व का निर्णय करना चाहिए जिसके विषय में पहले प्रश्न किया गया हो। यही हमारा तात्पर्य है और वही हम कर भी रहे हैं। जनता की रुचि भिन्न-भिन्न है। उसकी रुचि प्रधान है। जा पदार्थ उनको रुचिकर होता है उसी को वह ग्रहण करती है। उनकी रुचि के विषय है शृंगार आदि रस। फलतः जनता के रुचिकर रसों का निरूपण पूर्व प्रथमाध्याय में पूछे हुए नाट्यवेद का निर्माण क्यों हुआ इत्यादि प्रश्नों का ही समाधान है। क्योंकि चारों वेदों से पृथक् पृथक् अंशों को लेकर नाट्यवेद को बनाया है उनमें एक अंश अथर्ववेद से लिया हुआ रस है और इसी का निरूपण यहाँ प्रकृत में करते हैं इस तरह पूर्व प्रश्नित वस्तु के तत्त्व का निर्णय ही यहाँ हो रहा है। इसीलिए प्रतीक दिया कि पाँच प्रश्नों को इति। अर्थात् पूर्व में पूछे हुए पाँच प्रश्नों का समाधान करने के लिए वस्तु के तत्त्व का निर्णय ही करिये। यही यहाँ का तात्पर्य है।१।

ये रसा इत्यादि। जो रस हैं इत्यादि रूप से तीन प्रश्न किये हैं। नाट्य में जिन का रस इस नामसे पठन किया है। उनमें रसत्व कैसे ? यह प्रथम प्रश्न है। भाव क्यों कहे यह दूसरा प्रश्न है। वे किसकी भावना कराते हैं। यह तीसरा प्रश्न है। यहाँ

अभिनवभारती

ये तु "रसानाथर्वणात्" (ना. शा. १-१७) इति रसा उक्तास्ते तावत्प्रसिद्धाः षाडवादयः। न प्रकृतौ न विकृतौ युक्ताः। ये त्वन्ये श्रृङ्गारादयः केचन रसशब्देन सह प्रयुक्ताः "श्रृङ्गाररससम्भवः" (ना. शा. ४-२६९) इति "ततो रौद्ररसं श्लोकम्" (ना. शा. ५-१३२) इति तत्रापि श्रृङ्गारादिषु कथं रसशब्दवाच्यत्वम्। वैशब्दोऽक्षर-क्षमायाम्। रसनेन्द्रियग्राह्यो हि रसशब्दः प्रसिद्धः। न चायमनादरस्थानभूतोऽर्थो येनाविचारित एवोपेक्ष्येत। "खिन्नानां रसभावेषु" (ना. शा. ५-१५९) इत्यादा-वादरातिशयप्रतीतेः। अत एव शब्दप्रादुर्भाव इतिशब्दो रसा इति पठ्यन्त इति। तेन प्राधान्यादङ्गविषयप्रश्नान्तर्भूततमप्येतत्पुनः प्रश्नितमित्यर्थः। पुनः प्रश्नाभिप्रायेणै-वाख्यातुमर्हसीत्युपपन्नम्। पूर्वाख्यानेषु तु पुनरुक्तमभिधत्स्वेत्युक्तत्वात्।२।

मधुसूदनी

वर्णेन एकेनाऽपि अनर्थकेन भवितुम्। इति। उत्तरम्। वैशब्दः अक्षरक्षमायाम्। क्षमा तु पृथिवी क्षान्त्योरित्यमरः। अक्षरस्य पृथिव्याम्। श्लोकपादस्य पूरणे एकमक्षरं न्यून-मभवत्। तत्र न्यूनीभूतस्याक्षरस्य क्षमायां भूमौ स्थाने वैशब्दोऽस्ति। फलतः पाद-पूरणे वैशब्दः प्रयुक्तः। इति। रसशब्द इति। रसनेन्द्रियग्राह्यत्वे सति गुणत्वं रसत्वमिति न्यायशास्त्रे प्रसिद्धिः। शब्दस्य प्रादुर्भावः तस्मिन्। अयं भावः: अयमेक उत्तमः पदार्थः। यस्य कृते रस इत्यस्य शब्दस्य प्रादुर्भावः। अर्थात् रसः प्रधानभूतः पदार्थः। तेन तादृशशब्दप्रादुर्भावेण। प्रश्नितं प्रश्नः सञ्जातोऽस्येत्यर्थे इतच् प्रत्ययः ॥२॥

बालक्रीड़ा

मुनियों के पूछने का यह भाव है कि यहाँ इस नाट्यशास्त्र में अंगों की परिभाषा करते समय जो "जग्राह पाठ्यम्" इत्यादि में पाठ्य, गीत, अभिनय एवं रसों का निर्देश किया है उनमें पाठ्य एवं गीत का रूप सुप्रसिद्ध है। अभिनयों का भी रूप, "महा गीतों में अर्थों का अभिनय तुम सम्यक् करोगे" "जब अर्थ की प्राप्ति के लिए अभिनय के ज्ञाताओं ने अभिनव किया" इत्यादि वचनों से अतीव हृदयंगम नहीं हुआ (यहाँ काकु है) अर्थात् कुछ २ हुआ।

जो तो "रसानाथर्वणादपि" रसों को अथर्ववेद से लिया" इसमें जिन रसों को कहा है वे यदि षाडवादि (षाडवो गानरसयोः मेदिनीकोष से) रस प्रसिद्ध कर लिये जाय खास तौर से मान लिये जाय तो इनका प्रकृति नाट्य अर्थात् प्रधान भेद नाटक वगैरह में कोई उपयोग नहीं है और न विकृति यानी उपभेदों उपरूपकों डोम्बी आदि में ही कोई उपयोग है। और भी जो दूसरे आलंकारिकलोग रस (शब्द) के साथ श्रृंगार आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं। "श्रृंगाररससम्भवः" "ततो रौद्ररसं श्लोकम्" इत्यादि स्थलों में। वहां भी श्रृंगारादि में रस शब्द की वाच्यता कैसी। अर्थात् वे श्रृंगार आदि रस शब्द से कैसे कहे जा सकते हैं। यहाँ 'वै' यह शब्द श्लोक के पूर्ण होने में एक अक्षर की कमी पड़ती थी उसकी क्षमा भूमि यानी जगह में है। अर्थात् पादपूरण के लिए है। रस शब्द के अर्थ श्रृंगार आदि नहीं हो सकते हैं। इसमें हेतु देते हैं कि यह बात बाल वृद्ध वनिता

भावाश्चैव कथं प्रोक्ताः किं वा ते भावयन्त्यपि ।
संग्रहं कारिकां चैव निरुक्तं चैव तत्त्वतः ॥३॥

अभिनवभारती

भावाश्चेति चशब्दस्तुशब्दार्थे । भावास्त्वपठिता अपि कथं प्रोक्ताः । अथ पाठ्यादय एव भावाः । तत्किमेषां रूपम् । तेनादरविषयत्वाद्रसे प्रश्नान्तरम् (र) भूतावृत्त्या विस्मयस्थानत्वाद्भावेषु प्रश्नचतुष्कम् । तथा हि—रससहभावेन भावाः केचन प्रोक्ताः "खिन्नानाम्" इत्यत्र । ते च केन प्रकारेणोक्ताः । "जग्राह" इत्यादौ हि तेषां नामापि न श्रुतम् । अथैतेष्वेव भावशब्दः प्रवर्तितः । तत्रापि भवन्तीति भावयन्तीति व्युत्पत्तिः । किमेतत् । किमुत्पादयन्ति । अथ व्याप्नुवन्ति । द्वयोः कर्म किं स्यादिति वाशब्देन चशब्देनापिशब्देन च चत्वारो भावेषु प्रश्नाः । एवं प्राधान्यात्प्रश्नपञ्चकान्तरम् । वस्तुतः पुनः पञ्चप्रश्नो पूर्वोक्तैवेयं विष्फार्यते । सङ्ग्रहादि चाभिधत्स्व । ननु तैरिह किं प्रयोजनम् । आह—तत्त्वत इति ।

मधुसूदनी

ते च भावाश्च । तेषां भावानाम् । द्वयोरुत्पादनव्यापनयोः । तैः संग्रहकारिका निरुक्तैश्च । तत्त्वत इति । तृतीयश्लोकान्तर्गतं तत्त्वत इति पदं तत् तु अतः इत्येवं खण्डं कृत्वा व्याख्याति ॥३॥

बालक्रीड़ा

(मूल) भावों को क्यों कहा वे किसकी भावना कराते हैं । और संग्रह, कारिका एवं निरुक्त इनका आख्यान आपको करना चाहिए । क्योंकि वह रसादि का विश्लेषण इन संग्रह कारिका एवं निरुक्त से ही होगा ॥२।३॥

पर्यन्त प्रसिद्ध है कि जो गुण रसना जिह्वा इन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य है वह रस है ।, किन्तु शृंगारादि रसनेन्द्रिय ग्राह्य नहीं है अतः शृंगारादि में रस शब्द का प्रयोग कैसे किया जा सकता है । इसके सिवाय रस अनादर की भी वस्तु नहीं है कि जो विना विचार किये ही उसकी उपेक्षा करदी जाय । प्रत्युत "खिन्नेषु रसभावानाम्" इत्यादि स्थलों में बड़े आदर की प्रतीति की है । इसीलिए "रसा इति पठ्यन्ते" में इति शब्द का प्रयोग किया है । जिसका अर्थ है शब्द प्रादुर्भाव । तब तात्पर्य हुआ कि यह एक उत्तम पदार्थ है जिसके लिए रस इस शब्द का प्रादुर्भाव हुआ । फलतः रस प्रधान पदार्थ है । इस वास्ते अंग विषयक प्रश्न के अन्तर्गत होने पर भी इसके बारे में पुनः प्रश्न किया है । पुनः प्रश्न करने के अभिप्राय से ही इसके विषय में आपको व्याख्यान करना उचित है यह युक्ति संगत है किन्तु पूर्व में कहे हुए के विषय में ॥२॥

"भावाश्च" इति । यहां च शब्द तु शब्द के अर्थ में प्रयुक्त है । तु शब्द के प्रयोग का फल बतलाते हैं कि भावों का पहले कहीं पाठ नहीं किया है अतः अपठितों को भी कैसे कहा । अगर कहें कि पाठ्यादि ही भाव हैं अर्थात् पाठ्य, गीत, अभिनय एवं रस ही भाव

तेषां तु वचनं श्रुत्वा मुनीनां भरतो मुनिः ।
प्रत्युवाच पुनर्वाक्यं रसभावविकल्पनम् ॥४॥

अभिनवभारती

तुशब्दो हेतौ। तदित्याख्यानं परामृष्टम्। अत इति संग्रहादिबोधकम्। यतस्तदाख्यानमत एभ्यः संग्रहादिभ्य त्रिप्रकाररूपेभ्यः सदुपायेभ्यः। तस्मादाख्यातुमर्हसि ।३।

पुनः शब्दो भिन्नक्रमः। भरतमुनिः पुनः रसभावा विकल्प्यन्ते निश्चीयन्ते येन तादृग्वाक्यमुवाच। तदीयं वचनमुत्तरदानेन समादृतमिति पुनः शब्दार्थः। मुनेश्चायं भावो यद्भवद्भिर्युक्तमेतदुक्तम् ४।

मधुसूदनी

प्रतिपदमिति। अयं सारः। नाट्यस्य प्रतिपत्तौ प्रतिपदनिरूपणमनभ्युपायः। एवं हि श्रूयते महेश्वरस्ताण्डवं तण्डवे दिव्यं वर्षसहस्त्रं प्रोवाच नान्तं जगाम। महे-

बालक्रीड़ा

(मूल) उन मुनियों के वचन सुनकर भरत मुनि ने फिर रस एवं भावों के विकल्पन निश्चय कारी वाक्य को कहा ॥४॥

हैं पदार्थ हैं। तब इनका रूप क्या है। पाठ्यादिरूप ही भाव हैं। इस से जैसे आदर के विषय होने से रस के विषय में अलग प्रश्न की आवृत्ति की है वैसे ही विस्मय के कारण भावों के विषय में चार प्रश्न है। तथाहि कहने का मतलब है कि उनको दिखाते हैं। "खिन्नानां रसभावेषु" इस पद्य में रस के साथ कुछ भावों को कहा है। उनको किस प्रकार कहा। "जग्राह" इत्यादि अंगों में उनका नाम भी नहीं सुना। अगर कहें कि इन पाठ्यादि अर्थो में ही भाव शब्द की प्रवृत्ति हैं। तब इनकी व्युत्पत्ति माने साधनिका क्या है। वे होते हैं इसलिए भाव हैं या भावना करा देते हैं इसलिए भाव हैं। यह क्या हैं। क्या वे उत्पादन करते है इसलिए भाव है अथवा व्याप्त होते हैं इसलिए भाव हैं। तब प्रश्न होता है जब भावयन्ति के अर्थ उत्पादन एवं व्यापन करते हैं तब इन दोनों में कर्म क्या है अर्थात् किसके उत्पादक हैं और किसमें व्याप्त होते हैं। यह हमारी कपोल कल्पना नहीं है। किन्तु यहाँ इस कारिका में वाशब्द, चशब्द और अपि शब्द के प्रयोग के स्वारस्य से भावों के विषय में ये चार प्रश्न होते हैं। भाव क्या है। भाव शब्द का प्रसिद्ध अर्थ क्या है। अथवा व्युत्पत्ति लभ्य अर्थों में से कौन अर्थ यहाँ ग्राह्य है। इस तरह प्रधान रूप से किये गये वे पांच प्रश्न अलग हैं। संग्रहादि को कहिए। यहाँ आदि पद के अर्थ कारिका एवं निरुक्त। पुनः प्रश्न होता है कि इन संग्रह वगैरह से यहाँ क्या प्रयोजन है। उत्तर। कहते हैं तत्त्वतः। यहाँ आचार्य ने तत्त्वतः इस पद के तत्, तु और अतः ये तीन खण्ड किये हैं। जिनमें तु शब्द का अर्थ हेतु है। तत् शब्द से आख्यातुमर्हसि के आख्यान का परामर्श किया है। अतः यह संग्रहादि का बोधक है। इस तरह तत्त्वतः का

अहं वः कथयिष्यामि निखिलेन तपोधनाः ?।
संग्रहं कारिकां चैव निरुक्तं च यथाक्रमम् ।।५।।

अभिनवभारती

तत्राह–निखिलेनेति। उद्देशलक्षणपरीक्षासु प्राधान्यात्तदुपक्रममेव सङ्ग्राह्य लक्षणीयनिर्वचनीयात्मनोपलक्षितं सर्वमधिधेयम्। संग्रहमित्यादि। संग्रहादिषु समुच्चयार्थश्चः। तदभिधानेऽन्यन्न किञ्चिदवशिष्यत इत्येवशब्दः। संग्रहादित्रयमेव वक्ष्यामीति। यथाक्रममिति। पूर्वं संग्रहः। उद्देशप्रकारत्वात् । ततः कारिका निरुक्तं चेति क्रमेण। बुद्धिविषयं सबहु मानं गृह्णद्भ्यो युष्मभ्यमित्यभिप्रायेण वः ।५।

मधुसूदनी

इवरः प्रवक्ता तण्डुश्चाध्येता दिव्यं वर्षसहस्त्रमध्ययनकालो नान्तं जागाम। किं पुनरद्यत्वे यः सर्वथा चिरं जीवति स वर्षशतं जीवति। चतुर्भिश्च प्रकारैर्विद्योपयुक्ता भवति। आगमकालेन स्वाध्यायकालेन प्रवचनकालेन व्यवहारकालेनेति। आगम-

बालक्रीड़ा

(मूल) हे तपस्वियों ? मैं आप लोगों के लिए क्रमशः संग्रह, कारिका और निरुक्त को पूर्ण रूप से कहूँगा ।।५।।

अर्थ यह हुआ कि जब वह आख्यान इन संग्रहादि रूपवाले तीन समीचीन उपायों से होता है तब उनका आख्यान करना चाहिए ।३।

पुनः शब्द का क्रम स्थान भिन्न है। जिस जगह पर वह पढ़ा गया है उससे दूसरे स्थान भरत में उसका समन्वय है। रस और भावों का विकल्पन निश्चय जिस वाक्य से होता है वैसा वाक्य भरत मुनि फिर बोले। प्रश्नकर्त्ता मुनियों के वाक्य का उत्तर देकर समादर किया। यह पुनः शब्द का अर्थ है। यहाँ मुनि का भाव यह है कि मनन करके मैंने जान लिया है कि आप लोगों ने यह युक्त ही कहा ।४।

उस विषय में कहते हैं। निखिलेन। उद्देश लक्षण एवं परीक्षा की प्रधानता है अतः उन्हीं से संग्राह्य लक्षणीय एवं निर्वचनीय रूप से उपलक्षित सभी पदार्थों को कहना है। "संग्रहम्" इत्यादि। संग्रह आदि के समुच्चय के लिए चकार है। अतः उनके कहदेने पर और कुछ अवशिष्ट नही रहता है यह एव शध्द का अर्थ है। इसलिए संग्रह कारिका और निरुक्त तीनों ही को कहूंगा। यथाक्रमम्। इति। पहले संग्रह को कहूंगा क्योंकि वह उद्देश का प्रकार है। उसके सदृश हैं। (प्रकारो भेद सादृश्ये। इस कोष के अनुसार प्रकार सादृश्यार्थक है, उसके बाद कारिका एवं निरुद्ध को कहूँगा। बुद्धि गम्य पदार्थ को बड़े आदर के साथ ग्रहण करने वाले आपलोगों के लिए कहूँगा इस अभिप्राय से वः शब्द कहा है ।५।

न शक्यमस्य नाट्यस्य गन्तुमन्तं कथञ्चन ।
कस्माद्बहुत्वाज्ज्ञानानां शिल्पानां वाप्यनन्ततः ॥६॥

अभिनवभारती

तान्निदर्शयन्मुनिराह—न शक्यमस्येति । शक्यमिति सामान्योपक्रमात् माध्यस्थ्यविवक्षा । गन्तुमिति प्राप्तुम् । अन्तो निश्चयः । कथञ्चनेति । अमुं सङ्ग्रहादिप्रकारं वर्जयित्वाऽन्येन प्रतिपदनिरूपणादिनेत्यर्थः । यत्किल प्रतिपदं निरूपयितुं न शक्यं तल्लक्षणद्वारेणोच्यते । लक्षणस्यैवाङ्गमुद्देशपरीक्षे । विषयप्रदर्शने परिशुद्धौ च तयोर्व्यापारात् । न चात्र तस्य प्रतिपदं निरूपणं युक्तमिति ।

अत्र हेतुमाह—बहुत्वादिति । ज्ञानाख्यानि व्याकरणादीनि शास्त्राणि । शिल्पानि चित्रपुस्तादिकर्माणि । तेषामनन्ततोऽन्ताभावात् ।६।

मधुसूदनी

कालेनैव आयुः कृत्स्नं पर्युपयुक्तं स्यात् । नाट्यं तु अभिनयात्मकतया व्यवहारप्रधानं ततो नात्र ग्रन्थे तस्य नाट्यस्य प्रतिपदनिरूपणं कर्तुं युक्तं शक्यमिति ॥६॥

बालक्रीड़ा

(मूल) इस नाटच का अन्त निश्चय इद्मित्थं तत्त्व पाना किसी भी प्रकार से शक्य नहीं है । क्योंकि ज्ञान बहुत है और शिल्पों का भी अन्त नहीं है ॥६॥

उनका निदर्शन करते हुए मुनि कहते हैं कि इसका निर्णय करना शक्य नहीं है । "शक्यम्" । न शक्यमस्य इस श्लोक में "शक्यम्" पद का सामान्य रूप से उपक्रम कथन किया है अतः माध्यस्थ्यविवक्षा है अर्थात् कथन में उदासीनता का भाव है । गन्तुं का अर्थ है प्राप्त करने के लिए । अन्त निश्चय । कथंचन यानी इस संग्रह आदि प्रकार पद्धति के अतिरिक्त प्रतिपद निरूपण हरएक पदार्थ का पृथक् पृथक् प्रतिपादन शक्य नहीं है । अतः जिसका प्रतिपद निरूपण करना संभव नहीं है उसका लक्षण के द्वारा निरूपण किया जाता है । लक्षण के ही अंग साधन उद्देश एवं परीक्षा है । क्योंकि लक्षण के विषय लक्ष्य के क्रमशः सॅकीर्त्तन करने में उद्देश का और लक्षण की परिशुद्धि करने में परीक्षा का उपयोग होता है । इस तरह लक्षण के बारे में उद्देश और परीक्षा दोनों का व्यापार है । फलतः रस एवं भाव आदि का प्रतिपद निरूपण करना युक्त नहीं है । युक्ति संगत नहीं है इसमें हेतु को कहते हैं कि ज्ञानों में बहुत्व है । ज्ञान पद से व्याकरण आदि शास्त्रों की आख्या है कथन है । चित्र एवं पुस्तादि कर्म शिल्प हैं । पुस्त शब्द का अर्थ है लिपि एवं लेप्य मकान का पलस्तर और भिन्न २ वस्तुओं पर वार्निश । वे ज्ञान बहुत हैं और शिल्प अनन्त हैं अर्थात् उनका अन्त नहीं है ।

इस ज्ञान की अनन्तता का उपोद्बलन करते हैं कि नाट्य के अंगभूत किसी एक भी ज्ञान का अन्त पार पाना कठिन है । यह शेष है मूल श्लोक में नाट्यांगभूतस्य कस्यचित् इतने अंशका कहना शेष है अवशिष्ट है । अर्थ अभिधेय के तन्वतः तनन विस्तार के कारण

एकस्यापि न वै शक्यस्त्वन्तो ज्ञानार्णवस्य हि ।
गन्तुं किं पुनरन्येषां ज्ञानानामर्थतन्वतः ॥७॥

अभिनवभारती

एतदेवोपोद्वलयत्येकस्येति । नाट्याङ्गभूतस्य कस्यचिदिति शेषः । अर्थस्याभिधेयस्य तन्वतः । तननं विस्तारः । तेन । अन्येषामिति । अङ्गभूतानामपि यान्यङ्गत्वेनायान्तीत्यर्थः ।७।

मधुसूदनी

रसभावादि इति । अयं भावः । रसभावौ प्रधानभूतौ पदार्थौ । अतस्तौ आदि कृत्वा । अर्थात् प्राधान्यात् तयोरुपक्रमं कृत्वा आरम्भं विधाय । तेन उपक्रमेण किं स्यादित्याह—अनुमानमिति । केवलव्यतिरेकिहेतुरूपमनुमानं लक्षणम् । केवल व्यतिरेकिहेतुर्लक्षणं च समानकार्यकरम् । तथाहि—व्यावृत्तिर्व्यवहारो वा लक्षणस्य प्रयोजनम् । व्यावृत्तिश्च इतरभेदः । यथा गन्धवत्वं पृथिव्या लक्षणम् । तेन इतरभेदः सिध्यति । पृथिवी (पक्षः) जलाद्यष्टभ्यो भिन्ना (साध्यं) गन्धवत्वात् (हेतुः) यन्नैवं तन्नैवम् । एवं यल्लक्षणं गन्धवत्वं, पृथिवीं जलाद्यष्टभ्य इतरेभ्यो भेदयति तदेव गन्धवत्वं पृथिव्यां पक्षे जलाद्यष्टरूपेतरभेदसाध्यकानुमितौ हेतुः ।

बालक्रीड़ा

(मूल) जब एक भी ज्ञानरूपी समुद्र का अन्त निश्चय पाना शक्य नहीं है । तब अर्थ के विस्तार के कारण अन्य अंगभूत ज्ञानों का अन्त पाना शक्य होगा यह कहना तो बहुत ही कठिन है ॥७॥

अन्य अंगों का भी जो प्रकृत में अंगता को प्राप्त करते हैं अंग बन जाते हैं उनका भी पार पाना मुश्किल है । यह अर्थ है वस्तु स्थिति है । यहाँ तन्वतः इस पद के मूल में तनु विस्तारे धातु का स्पर्श है । और तृतीया के अर्थ में तसि प्रत्यय है । इसीलिए आचार्य ने तन्वतः का व्याख्यान तननं विस्तारः और तेन इससे तसिका अर्थ किया है ।

संग्रह आदि यहाँ प्रकृत में समीचीन उपाय हैं इसको दिखाते हैं—किन्तु इति । नाट्य का या नाट्यविषयक अर्थ का संग्रह अर्थात् जिससे विस्तृत नाट्य या उसके अर्थ का संक्षेप से ग्रहण करते हैं उस उद्देश को कहूँगा । प्रश्न—कैसे कहोगे । उत्तर । नाट्य में रस और भाव आदि विषय प्रधान हैं अतः उनका उपक्रम आरम्भ करके कहूँगा । यह भाव है । इस संग्रह से क्या होगा । इस पर कहते हैं कि प्रकृत में अनुमान केवल व्यतिरेकी हेतु रूप है । केवलव्यतिरेकी हेतु औंर लक्षण दोनों का एकही अर्थ है । दोनों समान कार्यकारी हैं ।

यहाँ का भाव यह है कि (व्यावृत्तिर्व्यवहारो वा लक्षणस्य प्रयोजनम्) व्यावृत्ति अथवा व्यवहार लक्षण का प्रयोजन है । व्यावृत्ति पद का अर्थ है इतरभेद । जैसे लक्षण इतरभेद करता है वैसे ही केवलव्यतिरेकी हेतु भी इतरभेद करता है । जैसे जो गन्धवत्त्व लक्षण पृथिवी

किन्त्वल्पसूत्र ग्रन्थार्थमनुमानप्रसाधकम् ।
नाट्यस्यास्य प्रवक्ष्यामि रसभावादिसङ्ग्रहम् ॥८॥

अभिनवभारती

संग्रहादयस्त्वत्र सदुपाया इति दर्शयति—किन्त्विति। नाट्यस्य नाट्यविषयस्यार्थस्य संग्रहं संक्षिप्य गृह्यतेऽनेनेति तमुद्देशं प्रवक्ष्यामीति। कथम्। रसभावावादि कृत्वा, प्राधान्यात्तदुपक्रममित्यर्थः। किं तेनेत्याहानुमानं लक्षणं तद्धि केवलव्यतिरेकिहेतुरूपम्। तस्य चोद्देशधर्मिणं प्रकल्पयतः प्रकृष्टः साधकः। आश्रयासिद्धत्वशङ्काशमनेन पक्षधर्मत्वमूलाङ्गपोषकत्वात्। तस्य संग्रहस्य स्वरूपमाह—सूत्रग्रन्थयोर्लक्षणपरीक्षयोर्योऽर्थो लक्ष्यपरीक्षितव्यलक्षणः सोऽल्पः सङ्कुचितो नाममात्रेणोद्देश्यतया यत्र।८।

मधुसूदनी

तस्य चोद्देशधर्मिणं प्रकल्पयत इति। अयमन्वयः। नाममात्रेणवस्तुसंकीर्तनमुद्देशः। उद्देशः संग्रहश्च पर्यायो। उद्देशे येन क्रमेण वस्तूनां संकीर्तनं भवति तेनैव क्रमेण तेषां वस्तूनां लक्षणं ग्रन्थेषु दृश्यते। एवमुद्देशगतधर्मिणं पदार्थं वस्तु प्रकल्पयतः निश्चाययतस्तस्य लक्षणस्य प्रकृष्टः साधकः संग्रहः। कथं स साधक इत्याह—आश्रयेति। आश्रयासिद्धत्वं नाम आश्रयासिद्धिरूपो दोष। तस्य या शंका तस्याः शमनेन। तां शंकां निरस्य। पक्षधर्मता मूलं यस्य तदंगमनुमितिजनकः परामर्शः। तस्य पोषकत्वात्। अधिकं बालक्रीडायाम्। अल्पः नाममात्रेण संकीर्तिततया संकुचितो लक्षणपरीक्षयोरर्थो यत्रेत्यन्वयः।

बालक्रीड़ा

(मूल) किन्तु तथापि इस नाटच के संग्रह को कहूँगा। जिसमें रस एवं भाव प्रधान होने से आदि हैं उपक्रम में प्रथम है। जहाँ सूत्र एवं भाष्य का अर्थ अल्प है नाममात्र से संकीर्तित होने से संक्षिप्त है और जो संग्रह अनुमान का प्रतिपाद्य विषय के लक्षण का प्रकृष्ट साधक है अर्थात् लक्षण का क्रमशः निर्देश करने में सुविधा का जनक है। सहायक है। इन अक्षरों का यह भी अर्थ बहुत ही सरल है जिसमें अल्पसूत्र यानी अल्प आकार वाले सूत्रण सूचन के प्रकार से अर्थ का ग्रन्थ निबन्धन जिसमें किया हुआ है और अनुमान जिसका प्रसाधक है यानी हेतुओं से जो सिद्ध किया हुआ है उस नाटच के लक्षण को कहूँगा ॥८॥

इतर जलादि आठों से भिन्न बतलाता है। वही गन्धवत्व, पृथिवीपक्ष में इतरभेद रूप साध्य की अनुमिति में हेतु है। "प्रमितिकरणं प्रमाणम्" में जो प्रमिति करणत्व प्रमाण का लक्षण है वही प्रमितिकरणत्व, प्रत्यक्षादि पक्षमें प्रमाणमिति व्यवहर्त्तव्यत्वरूप साध्यकी अनुमिति में हेतु है। "प्राणादिमत् सात्मकम्" में जो प्राणादिमत्त्व सात्मक वस्तु का लक्षण है वहीं प्राणादिमत्त्व जीवच्छरीर पक्ष में सात्मकत्वरूप साध्य की अनुमिति में हेतु है। शब्दगुणकमाकाशम्" में जो शब्दगुणकत्व आकाश का लक्षण है वही शब्दगुणकत्व, विवादा-

विस्तरेणोपदिष्टानामर्थानां सूत्रभाष्ययोः ।
निबन्धो यः समासेन सग्रहं तं विदुर्बुधाः ॥९॥

अभिनवभारती

अन्येऽप्येवमेव मन्यन्त इति दर्शयति—विस्तरेणेति । सूत्रं लक्षणम् । भाष्यं तद्व्यक्तीकरणरूपा परीक्षा । अल्पौ सूत्रग्रन्थौ यत्रार्थे सोऽर्थो यत्रेति तु व्याख्यानमनेन श्लोकेन न संवदते ।९।

मधुसूदनी

इति तु व्याख्यानमिति । अयमाशयः । किन्त्वल्पसूत्रगन्थार्थमित्यत्र कृतं व्याख्यानं अल्पौ सूत्रगन्थौ यत्रार्थे सोऽर्थो यत्रेति रूपम् । अनेन विस्तरेणोपदिष्टानामिति रूपेण श्लोकेन न संवदते । संवादो ह्यन्यसादृश्यम् । सदृशो नहि भवति ॥९॥

बालक्रीड़ा

(मूल) सूत्र और भाष्य के रूप से आकार में विस्तार से उपदिष्ट सूत्रित एवं व्याख्यात अर्थो का जो समास से नाममात्र से निबन्ध है संकीर्तन है उसको विद्वान् संग्रह शब्द से जानते हैं ॥९॥

स्पद पक्षक आकाशसाध्यक अनुमिति में हेतु है । इस तरह लक्षण एवं केवल व्यतिरेकी हेतु समानकार्यकारी है ।

नाममात्र से वस्तुओं का संकीर्तन जिसमें होता है वह संग्रह है । उद्देश और संग्रह दोनों पर्याय हैं । उद्देश में जिस क्रम से वस्तुओं का संकीर्त्तन किया हुआ रहता है उसी क्रम से उन वस्तुओं का लक्षण भी किया जाता है । इससे ग्रन्थ के शास्त्र के निर्माण में सुविधा होती है । अतः उद्देश में संकीर्तित धर्मियों का निश्चय करादेने वाले लक्षण का प्रकृष्ट साधक संग्रह है । जो आश्रयासिद्धत्व माने आश्रयासिद्धिरूप दोष की शंका का शमन करके पक्षधर्मता मूल है कारण है जिसका ऐसे अंग अनुमितिजनक परामर्श का पोषक है । व्याप्यस्य पक्षवृतित्वधीः परामर्शं उच्यते । पक्षवृत्तिता एवं पक्षधर्मता दोनों पर्याय शब्द हैं । साध्य-निरूपित व्याप्ति के आश्रय हेतु का पक्ष में रहने के ज्ञान को परामर्श कहते हैं । यहाँ जैसे अयं घट इत्याकारक ज्ञानका विषय घट उक्त ज्ञान का हेतु है । क्योंकि घट रहेगा तभी उक्त ज्ञान होता है । वैसे ही साध्य निरूपितव्याप्त्याश्रयहेतुगतपक्षधर्मता रहेगी तभी उक्त पक्षधर्मता के विषय का ज्ञान होगा । यही ज्ञान परामर्श है, इसीलिए कहा कि पक्षधर्मता है मूल जिसका इत्यादि । और वह परामर्शात्मक ज्ञान तभी पैदा होता है जब उसका कोई प्रतिबन्धक नहीं रहता है । उसका प्रतिबन्धक है हेतु में दोष का ज्ञान । वे दोष हैं व्यभिचार (१) विरोध (२) सत्प्रतिपक्ष (३) असिद्ध एवं बाध (५) ये पाँच । इन दोषों का हेतु में ज्ञान होने से अनुमिति या अनुमितिजनक परामर्श नहीं हो सकता है । इनमें व्यभिचार, विरोध एवं असिद्धि ये तीन दोष परामर्श के प्रतिबन्धक हैं । और सत्प्रतिपक्ष एवं बाध ये दो दोष अनुमिति के प्रतिबन्धक है । अतः आश्रयासिद्धत्व यह पद

रसा भावा ह्यभिनयाः धर्मी वृत्तिप्रवृत्तयः ।
सिद्धिः स्वरास्तथातोद्यं गानं रङ्गश्च सग्रहः ॥१०॥

अभिनवभारती

संग्रहं दर्शयति—रसा भावा इत्यादिना । चशब्द इतिशब्दार्थे । अभिनयत्रयं गीतातोद्ये चेति पञ्चाङ्गं नाट्यम् । अनेन तु श्लोकेन कोहल(स्य)मतेनैकादशाङ्गत्वमुच्यते । न तु भरते(तस्य) । तत्संगृहीतस्यापि पुनरत्रोद्देशः । अन्तर्भूतस्यापि प्रयोजनवशेन पुनरुद्देशदर्शनात् । क्रमस्य चाविवक्षितत्वादिति । निर्देशे चैतत्क्रमव्यत्यासनादित्यौद्भटाः । नटस्य हि रसभावयोगे मरणादौ तत्त्वावेशो लयादिभङ्गश्च स्यात् । दृष्टस्तु तत्प्रत्ययो नटेः भ्रमः । नैतदिति भट्टलोल्लटः । रसभावानामपि वासनावेशवशेन नटे सम्भवादनुसन्धिबलाच्च लयाद्यनुसरणम् । वयन्त्वत्रत्यं तत्त्वमग्रे वितनिष्याम इत्यास्तां तावत् ।१०।

बालक्रीड़ा

(मूल) अतः रस भाव, अभिनय, धर्मी, वृत्ति, प्रवृत्ति, सिद्धि, स्वर, आतोद्य, गान और रंग यह संग्रह है ॥१०॥

व्यभिचार विरोध एवं असिद्धि इन तीनों का उपलक्षण है । इसलिए आश्रयासिद्धत्व यह पद अपने आप स्वरूपासिद्धि और व्याप्यत्वासिद्धि का भी उपलक्षण हो गया ।

उस संग्रह के स्वरूप को कहते हैं सूत्र एवं ग्रन्थ यानी लक्षण एवं परीक्षा में जो लक्ष्य एवं परीक्षितव्य अर्थ है वह जहाँ अल्प अर्थात् नाममात्र से उद्देश्य संकीर्तनीय होने से संकुचित है ॥८॥

दूसरे लोग भी ऐसा ही मानते हैं इसको दिखाते हैं—विस्तार से । सूत्र का अर्थ लक्षण है । भाष्य माने लक्षण की व्यक्तीकरणरूपा परीक्षा । "जिस अर्थ के विषय में सूत्र और ग्रन्थ अल्प हैं वह अर्थ जहाँ रहे वह संग्रह है "ऐसा किसी का जो अल्पसूत्र ग्रन्थार्थम्" का व्याख्यान है वह "विस्तरेणोपदिष्टानामर्थानां सूत्रभाष्ययोः ।" इस श्लोक से संवाद नहीं करता है ॥९॥

संग्रह को दिखाते हैं—रसा भावा इत्यादि से । यहाँ रंगश्च में चशब्द इति शब्द के अर्थ में है । अभिनयादि तीन एवं गीत तथा आतोद्य यह पाँचों अंग नाट्य हैं । उनमें वाचिक (१) आंगिक (२) सात्त्विक (३) एवं आहार्यक (४) ये चार अभिनय हैं । धर्मी लोकधर्मी एवं नाट्यधर्मी ये दो धर्मियां इतिकर्त्तव्यताएँ हैं । जैसा कि कहा है संगीत रत्नाकर—और उसकी टीका में ।

इतिकर्त्तव्यता तस्य द्विविधा परिकीर्तिता ।
लोकधर्मीनाट्यधर्मीत्येते च द्विविधे पुनः ॥ सं. र.

तस्य अभिनयस्य इतिकर्तव्यता प्रकारनियमः । एते लोकधर्मीनाट्यधर्म्यौ । इति तट्टीका ।

अल्पाभिधानेनार्थो यः समासेनोच्यते बुधैः ।
सूत्रतः साऽनुपठिता कारिकार्थप्रदर्शिनी ॥११॥

अभिनवभारती

अथ कारिकां लक्षयति अल्पाभिधानेनेति । अनेनार्थस्य कारिकात्वं लक्षणरूपस्य दर्शयति । तद्वाचकस्य सूत्रस्य तत्संक्षिप्तार्थविवरणात्मकस्य च श्लोकस्य ।

बालक्रीड़ा

(मूल) जिसे विद्वान् लोग समासवाले यानी बहुतर लक्ष्यों के संग्रह करने वाले अल्प शब्दों से अर्थ को कहते हैं वह अर्थ कारिका है। या जो सूत्र के अनुसार सूचना के आधार पर अर्थ को दिखाने वाले श्लोक हैं तद्रूप वह कारिका है। इस तरह क्रिया भेद से कारिका के दो लक्षण हुए ॥११॥

और वृत्ति भारती (१) सात्वती (२) कौशिकी (३) एवं आरभटी (४) ये चार वृत्तियाँ हैं। तथा गीत मद्रक (१) उल्लोप्यक (२) अपरान्तक (३) प्रकरी (४) ओवेणक (५) रोविन्दक (६) और उत्तर (७) ये सात गीत हैं और तत (१) अवनद्ध (२) घन (३) सुषिर (४) ये चार आतोद्य वाद्य हैं। उक्त पाँचों अंगों का नाम नाट्य है। जैसा कि कहेंगे ततं तंत्रीकृतं ज्ञेयमवनद्धं तु पौष्करम् ।

घनं तालस्तु विज्ञेयः सुषिरो वंश उच्यते ।
प्रयोगस्त्रिविधो ह्येषां विज्ञेयो नाटकाश्रयः ॥ इति ॥

रस और भाव नाट्य के साध्य हैं अंग साधन नहीं है। क्योंकि यदि नट का रस एवं भावों के साथ योग सम्बन्ध मानेंगे अर्थात् नट को नाट्यरस का अनुभव कर्त्ता और भावों से आविष्ट मानेंगे तो काम की मरणादि दश दशाओं में तात्विक अभिनिवेश होने पर लय आदि यानी लय, ताल, पदक्रम एवं यति का भंग उसके द्वारा होने लगेगा। अगर कहीं उनका प्रत्यय नट में दिखाई भी पड़ता है तो वह भ्रम है।

यह श्लोक कोहल के मत के अनुसार नाट्य को एकादश अंगों वाला कहता है। किन्तु भरत के मत के अनुसार यह नहीं है। अथवा कोहल के द्वारा संगृहीत अंगों का यहाँ पुनः संकीर्त्तन है। हाँ निर्देश करने में क्रम का व्यत्यास हो गया है यह उद्भटानुयायिओं का मत है। ये दोनों कथन ठीक नहीं है यह भट्टलोल्लट का मत है। यही सिद्धान्त हैं। क्योंकि १०८ शिष्य पुत्रों में कोहल एक है। इसके सिवाय भरत ने स्वयं स्वीकार किया है कि "शेषमुत्तरतंत्रेण कोहलः पूरयिष्यति" तथा कोहल जो कहेंगे वह अपने निर्मित ग्रन्थ में कहेंगे। अतः भरत निर्मित ग्रन्थमें कोहल अपने मत को कैसे कहेंगे।

प्राक्तन एवं इदानींतन वासनाओं के वश से रस एवं भावों का आवेश नट में भी संभव है। और पूर्वापर के अनुसन्धान के बल पर लय आदि का अनुसरण भी किया जा सकता है। किसी के कहे हुए में अन्तर्भाव होने पर भी प्रयोजन के वश से पुनः कथन करना देखा गया है। क्रम की विवक्षा होती भी है और नहीं भी होती है। हम तो इसके विषय के तत्त्व को आगे विस्तार से कहेंगे अतः रहने दिया जाय ॥१०॥

नानानामाश्रयोत्पन्नं निघण्टुनिगमान्वितम् ।
धात्वर्थहेतुसंयुक्तं नानासिद्धान्तसाधितम् ॥१२॥

अभिनवभारती

अनेन लक्षणवाक्यं द्विधेति तात्पर्यम् । योऽर्थोऽल्पैः शब्दैः समासेन बहुतरलक्ष्यसङ्ग्रहेण सूत्रं वाचकमाश्रित्योच्यते सोऽर्थः कारिका । ज्ञप्तिसाधकत्वात्तदर्थिनी कारिका । सूत्रतः सूत्रणेन । एतेन सूत्रमपि कारिका । तत्सूत्रमपेक्ष्य या अनु पश्चात्पठिता श्लोकरूपा सापि कारिका । तथा हि—सूचनात्मकत्वात्सूत्राल्लब्धो योऽर्थो लक्षणात्मकः स एव सम्यगतिश्रव्यतया वर्णनात्मनेति वृत्तबन्धेनोच्यमानोऽल्पैश्च शब्दैर्निरूप्यमाणोऽर्थस्य लक्षणीयस्य प्रकर्षं धर्म्यन्तराद् व्यवच्छेदं दर्शयन् धर्मः कारिका। क्रियतेऽनेन ज्ञप्तिरिति कारिका । लक्षणमिति यावत् । तदर्थप्रकाशकत्वात् श्लोकोऽप्युपचारात्कारिका ।

एतदुक्तं भवति—उद्दिष्टस्य धर्म्यन्तरव्यवच्छेदकं लक्षणं वक्तव्यम् । तच्च पूर्वं सूत्रेण । ततोऽप्यकृताक्षेपोत्तरप्रपञ्चेन तद्विवरणमात्ररूपेण सुखग्राह्येण श्लोकेन । उभयोरपि हि लक्षणमेव प्रतिपाद्यम् । तदेव कारिकोच्यते । सूत्रश्लोकावुपचारादिति ।११।

बालक्रीड़ा

(मूल) समास से संक्षेप से जिस शंका एवं समाधान रूप वस्तु के रहने पर व्यक्ति भेद से भिन्न लक्षणीय अर्थ का सूचन करने वाला लक्षणभूत अर्थ स्थापित होता है वह निरुक्त

अब कारिका का लक्षण कहते हैं—अल्प अभिधान से। इससे लक्षण रूप अर्थ कारिका है इसको दिखाते हैं। लक्षण रूप अर्थ के वाचक सूत्र एवं उस सूत्र में संक्षेप से कहे अर्थ का विवरणात्मक श्लोक कारिका है इसको दिखाते हैं। इस कथन का तात्पर्य है कि लक्षण वाक्य दो प्रकार का है। जो अर्थ अल्प शब्दों के द्वारा बहुतर लक्ष्यों के संग्रह करने वाले समास के रूप में कहा जाता है वह अर्थ कारिका है। ज्ञान का साधन होने से उस अर्थ को बतलानेवाली कारिका है। सूत्रतः अर्थात् सूत्रण करने से। इससे सूत्र भी कारिका है ऐसा प्रतीत होता है। उस सूत्र की अपेक्षा करके जो अनु पीछे पढ़ा हुआ श्लोक है वह श्लोक रूप भी कारिका है। जैसे सूचनात्मक सूत्र से लब्ध जो लक्षणरूप अर्थ है वही अच्छी प्रकार अत्यन्त श्रव्य होने से वर्णनात्मा वृत्त छन्दमयी रचना से उच्यमान अल्प शब्दों से निरूप्यमाण लक्षणीय अर्थ के प्रकर्ष धर्म्यन्तर से व्यवच्छेद पार्थक्य को दिखाने वाला धर्म कारिका है। इससे ज्ञान किया जाता है अतः यह कारिका है। यानी लक्षण है। कारिका के अर्थ का प्रकाशक होने से श्लोक को भी प्रकाश्यप्रकाशक में अभेद का उपचार करके कारिका कह दिया है। इसका आशय यह हुआ कि उद्दिष्ट-संगृहीत पदार्थ का अन्य धर्मियों से व्यवच्छेद व्यावृत्ति करने वाले को लक्षण कहना चाहिए। जो पहले सूत्र से, फिर आक्षेप एवं उत्तर यानी शंका एवं समाधान से रहित केवल सूत्र के विवरणरूप अनायास से समझने लायक श्लोक से या फिर दोनों से प्रतिपाद्य है। वह लक्षण ही है वही कारिका है। वह उपचार से सूत्र एवं श्लोक है ॥११॥

अभिनवभारती

अथ परीक्षात्मकं निरुक्तं लक्षयति श्लोकद्वयेन—नानानामेति स्थापित इति च। संक्षेपेणानेकव्यक्तिभेदभिन्नस्यार्थस्य लक्षणीयस्य यः सूचकोऽर्थो लक्षणात्मकः स यत्राक्षेपप्रतिसमाधानलक्षणे वस्तुनि सति स्थापितो भवति। नचैवं परिभाषा। किन्त्वर्थमेवं निर्भज्याक्षेपप्रतिसमाधानाभ्यां लक्षणस्य वचनमिति। एतदाह—किंत्वर्थं वचनमिति।

कथं तल्लक्षणं स्थाप्यत इत्याशङ्क्य क्रियाविशेषणाभिधानद्वारेणाक्षेपप्रतिसमाधानप्रकारं दर्शयति—नानेत्यादिना। नानाप्रकाराणि यानि नामानि लक्षणवाक्येऽर्थप्रतिपादकाः सुबन्ताः शब्दास्तानाश्रित्योत्पन्नः उत्पाद आक्षेपप्रतिसमाधानयोर्यत्र। ननु नामपदेषु कथामाक्षेपप्रतिसमाधाने। आह—निघण्टुनाऽभिधानकोशेन रूढिषु। अन्येषु प्रकृतिप्रत्ययविभागनिगमनया। अन्वितमन्वयो यत्रोत्पादे। यानि च लक्ष-

बालक्रीड़ा

(मूल) है। प्रश्न—क्या यह इस प्रकार निरुक्त की परिभाषा है। उत्तर। नहीं। किन्तु शंका एवं समाधान द्वारा विभाग करके अर्थ (लक्षण) के स्थापन का वचन है कथन है। प्रश्न—जिस शंका एवं समाधान के द्वारा स्थापन का कथन है उस शंका एवं समाधान का प्रकार क्या है। उत्तर। नाना नाम प्रातिपदिक के आश्रय से उस शंका एवं समाधान की उत्पत्ति होती है। पुनः प्रश्न—नाम से शंका एवं समाधान का उत्पाद कैसे। उत्तर।

अब नानानामेत्यादि दो श्लोकों से परीक्षारूप निरुक्त का लक्षण कहते हैं। समास संक्षेप से अनेक व्यक्तियों के भेद से भिन्न लक्षणीय अर्थ का सूचक जो लक्षणात्मक अर्थ है वही अर्थ जहाँ शंका एवं समाधान लक्षण वस्तुओं के द्वारा स्थापित किया जाता है तब परीक्षारूप निरुक्त है। इसको अर्थ की परिभाषा नहीं समझना। किन्तु इस प्रकार अर्थ का शंका एवं समाधान के द्वारा निर्वचन करके लक्षण कथन यह है। इसी को कहते हैं—किन्तु अर्थवचनमिति

कैसे उस लक्षण की स्थापना की जाती है ऐसी आशंका करके क्रियाविशेषणों के अभिधान के द्वारा शंका एवं समाधान के प्रकार को दिखाते हैं "नाना" इत्यादि लक्षण वाक्य में नाना प्रकार के जो नाम अर्थपतिपादक सुबन्तपद हैं उनके आश्रय से जहाँ आक्षेप एवं समाधान का उत्पाद रहता है। प्रश्न होता है कि नाम पदों में आक्षप और समाधान कैसे रहता है। इस पर उत्तर देते हैं कि रूढिस्थल में निघण्टु अभिधान कोश के द्वारा और योग स्थल में प्रकृति एवं प्रत्ययों के विभाग का निगमन करके जहाँ उत्पाद में अन्वय होता है। अस्तु। सुबन्त पदों में यह प्रकार है किन्तु तिङन्त पदों में कैसो प्रकार होगा इस पर कहते हैं लक्षण वाक्य में जो तिङन्त पद हैं उनमें प्रकार को बतलाते हैं—धातु के अर्थ क्रिया और उनके हेतु क्रिया निमित्त कारकों का संयोजन विचार जिस स्थापन में रहता है। इससे यह सिद्ध किया कि लक्षण वाक्य में पहिले शब्द परीक्षा दिखलाई अर्थात् यह शब्द इस अर्थ में कैसे प्रवृत्त है ऐसा आक्षेप और इस प्रकार प्रवृत्त है ऐसा समाधान दिखाया। यह सब लक्षण वाक्य में प्रदर्शित वस्तु से ही प्राप्त हुआ है।

अभिनवभारती

णवाक्ये तिङन्तानि पदानि तेषु प्रकारमाह—धात्वर्थस्य क्रियाया, हेतूनां च क्रियानिमित्तानां कारकाणां संयोजनं विचारो यत्र स्थापने। इयता लक्षणवाक्ये पूर्वं शब्दपरीक्षा दर्शिता। अयं शब्दः कथमत्रार्थे वर्तत इत्याक्षेपः। इत्थमिति च प्रतिसमाधानम्। एतत् प्रदर्शितवस्तुप्रणीतमेव।

अर्थपरीक्षामपि दर्शयति—नानाप्रकारैः सर्वतन्त्रप्रतितन्त्रादिभिः सिद्धान्तैः। प्रमाणमूलैरर्थैः साधितमाक्षेपोत्तरयोः साधना यत्र स्थापने। एवं परीक्षाऽनेन

बालक्रीड़ा

अब शब्द परीक्षा के बाद अर्थपरीक्षा को दिखाते हैं। नाना प्रकार के सर्वतन्त्र सिद्धान्त प्रतितंत्र सिद्धान्त, अधिकरणतंत्रसिद्धान्त और अभ्युपगमतंत्र सिद्धान्त यानी प्रमाणभूत शास्त्र मूलक अर्थ उनसे साधित अर्थात् जिसमें आक्षेप एवं उत्तर की साधना हो वह स्थापन है। इस प्रकार इन प्रतिपादनों से परीक्षा दिखा दी यानी परीक्षा का निरूपण कर दिया। तंत्रादिन्याय शास्त्रों के न्याय 'हेतु' उस परीक्षा के अंग हैं साधन हैं।

यहाँ बारहवीं कारिका में उत्पन्न का उत्पाद यानीं उत्पत्ति, अन्वित का अन्वय, संयुक्त का संयोजन और साधित साधन अर्थ आचार्य ने किया है अतः भाव में क्त प्रत्यय इन चारों पदों में है। परवर्त्ती आचार्य मम्मट ने भी अर्थकृते, व्यवहारविदे, उपदेशयुजे के कृत् विद् युज् में भाव में क्विप् करके ऐसे प्रयोग किये हैं। सिद्धान्त पद की नैयायिकमतानुसार व्याख्या की है। वहाँ न्याय के सूत्र ये हैं तंत्राधिकरणाभ्युपगमसंस्थितिः सिद्धान्तः। प्रमाण से अभ्युपगत शास्त्र को तंत्र कहते हैं। आधार और अधिकरण 'आधारोऽधिकरणम्' के अनुसार समानार्थक है। अभ्युपगम स्वीकार है। संस्थिति का अर्थ है सम्यक् प्रकार से निश्चय रूप से स्थिति जिसमें होवे। इस तरह सूत्र का अर्थ हुआ कि प्रमाणभूत शास्त्र के आधार पर स्वीकार किया अर्थ सिद्धान्त है। वे सिद्धान्त चार हैं। क्योंकि "सर्व तंत्र प्रतितंत्र अधिकरण तंत्र एवं अभ्युपगमतंत्र की संस्थितियों के अर्थों में परस्पर भेद है। जैसा कि सूत्र है सर्वतंत्रप्रतितंत्राधिकरणाभ्युपगमसंस्थित्यर्थान्तरभावात्। इसका भाव है कि सभी तंत्रों की संस्थिति एक प्रकार की नहीं होती है। यदि एक ही प्रकार की वह होवे तो वाद एवं प्रतिवाद ही नहीं बन सकता है। फलतः संस्थितियाँ चार होती हैं तदनुसार सिद्धान्त भी उक्त प्रकार से चार हैं। उनमें पहला वह है जो अपने तंत्र में बतलाया गया है उसका किसी तंत्र से विरोध नहीं होता है वह सर्वतंत्र सिद्धान्त है। सर्वतंत्राविरुद्धस्तंत्रेऽधिकृतोऽर्थः सर्वतंत्रसिद्धान्तः। जैसे गुरुजनों के वाक्य में श्रद्धा करनी चाहिए। जगत् सकारण है। प्रत्यक्ष प्रमाण है। प्राणादिमज्जीवच्छरीर सात्मक है। गन्धवती पृथिवी है। गुरुजनों की गोष्ठी श्रेयस्करी है इत्यादि सभी को समान रूप से मान्य है। अपने तंत्र और अपने समान तंत्र में मान्य होने पर भी पर अपने से प्रतिकूल तंत्र में जो अमान्य हो वह प्रतितंत्र सिद्धान्त है। समानतंत्रसिद्धः परतन्त्रासिद्धः प्रतितंत्रसिद्धान्तः। जैसे न्याय में मन को इन्द्रिय माना है। वेदान्ती उसको इन्द्रिय नहीं मानता है। ज्ञान का साधन मन है ऐसा एकमत है। साँख्य कहता है बुद्धीन्द्रिय एवं कर्मेन्द्रिय रूप में उभयात्मक मन है। न्याय मत में

स्थापितोऽर्थो भवेद्यत्र समासेनार्थसूचकः ।
किन्त्वर्थवचनश्चैवं निरुक्तं तत्प्रचक्षते ॥१३॥

अभिनवभारती

दर्शिता । तन्त्रादिन्यायास्तु तदङ्गम् । निरुक्तमपि । तच्चतुर्धा—नाम्ना वा—उलौ ऊर्ध्वे खमस्येत्युलूखस्तं लाति आदत्ते उलूखलः । धातुना वा—रस्यत इति रसः । द्वाभ्यां वा—पिशितमाचामति अश्नातीति पिशाचः । समयेन च—सोऽपि त्रिधा—लौकिको यथा भू सत्तायाम् । वैदिको यथा—दीधीङ् दीप्तिदेवनयोः, वेवीङ् वेतिना तुल्ये । प्रतिशाखपार्षदो यथा—गान्धर्ववेदे गीतकविशेषे ओवेणकादिशब्दः । तदेतदुक्तं नानेत्यादिना । निरुक्तस्य तु प्रयोजनं संक्षेपेणार्थावधारणम् ।१२-१३।

मधुसूदनी

सर्वतंत्रेति । तंत्रं शास्त्रम् । सिद्धान्तश्च सिद्धोऽन्तो निर्णयो यत्रार्थात्—इदम्, इत्थभूतं च इत्यभ्यनुज्ञायमानोऽर्थः । ते च सर्वतंत्रसिद्धान्तः १ प्रतितंत्रसिद्धान्तः २ अधिकरणसिद्धान्तः ३ अभ्युपगमसिद्धान्तश्चेति चत्वारः । तथा च सूत्रं न्याये—सर्वतंत्रेति । तदर्थश्च बालक्रीडायां द्रष्टव्यः ॥१२॥१३॥

बालक्रीडा

(मूल) रूढ़ नाम स्थल में निघण्टु शब्दकोश से अन्वय होता है । और अन्य यौगिक नामों में प्रकृति एवं प्रत्यय के विभाग रूप निगम से अन्वय होता है । लक्षणवाक्यस्थ तिङन्त पदों की स्थिति का स्पष्टीकरण करते हैं कि धात्वर्थ यानी क्रिया और क्रिया जिनमें हेतु है वे कारक उन दोनों का जहाँ संयोग होता है । और नाना अनेक सर्वतंत्रसिद्धान्त, प्रतितंत्रसिद्धान्त अधिकरणसिद्धान्त एवं अभ्युपगमसिद्धान्तों से जहाँ साधना होती है वह निरुक्त है ॥१२।१३॥

वागादि पांच कर्मेन्द्रियाँ नहीं है अतः एकादश इन्द्रियाँ नहीं होती हैं । लिंगशरीर सूक्ष्मशरीर जो सप्तदश अवयवों से युक्त है ऐसा मानने वाले वागादि पंच कर्मेन्द्रियों को भी मानते हैं । इत्यादि प्रतितंत्र सिद्धान्त भिन्न २ हैं । ईश्वर को व्यापक मानते हुए भी भक्त लोग निराकार नहीं मानते हैं । अन्य लोग कहते हैं कि ईश्वर को व्यापक मानने पर निराकार मानना ही पड़ेगा । यत्सिद्धावन्यप्रकरणसिद्धिः सोऽधिकरणसिद्धान्तः । जहाँ एक कोई अर्थ प्रमाण-से सिद्ध हो जाता है वहाँ उसके सम्बन्धी अर्थ उसके साथ स्वतः सिद्ध हो जाते हैं वह प्रमाण सिद्ध अर्थ अधिकरण सिद्धान्त कहाता है । जैसे ईश्वर जगत् का कर्त्ता है यह प्रमाणों से सिद्ध हो जाता है इस अवस्था में उसकी सर्वज्ञता स्वतः सिद्ध हो जाती है । क्योंकि विना सर्वज्ञ हुए प्राणियों के कर्म के फल भोग के लिए सर्वविध सृष्टि का निर्माता नहीं हो सकता है । अपरीक्षिताभ्युपगमात्तद्विशेषपरीक्षणमभ्युपगमसिद्धान्तः । जो अपरीक्षित ही अर्थ किसी धर्म विशेष की परीक्षा के लिए केवल परीक्षा के समय तक ही प्रामाणिक रूप से माना जाय वह अभ्युपगम सिद्धान्त है । जैसे । मान लेते हैं कि जीव पैदा होता है किन्तु यह बतलाइये कि वह किसी कारण से पैदा होता है या विना कारण के । ब्रह्म जगत की सृष्टि करता है

संग्रहो यो मया प्रोक्तः समासेन द्विजोत्तमाः ?।
विस्तरं तस्य वक्ष्यामि सनिरुक्तं सकारिकम् ॥१४॥

अभिनवभारती

अथोद्दिष्टानां विभागं सूचयति—संग्रहो यो मयेति। तस्येति सङ्ग्रहस्य। सङ्ग्रह एव विस्तारितो विभाग इत्यर्थः। किं तदुक्तावेव सर्वं सम्पन्नम्। नेत्याह। सनिरुक्तं परीक्षापर्यन्तमित्यर्थः। अन्तवचनेऽव्ययीभावः। न चालक्षितस्य परीक्षेत्याह—सकारिकं कारिकासम्पदोपेतम्। सम्पत्तौ समासः।१४।

मधुसूदनी

सनिरुक्तमिति। अत्र निरुक्तेन सहेति अन्तवचनेऽव्ययीभावः समासः। अतः परीक्षापर्यन्तमित्यर्थः ॥१४॥

बालक्रीड़ा

(मूल) हे उत्तम द्विजो ? जिस संग्रह को मैंने संक्षेप से कहा है निरुक्त एव कारिका के सहित उसको विस्तार से कहूँगा ॥१४॥

मान लेते हैं किन्तु वह किसी की सहयता लेता है या विना सहायता के सृष्टि करता है। अच्छा वह ब्रह्म अविद्या की सहायता से सृष्टि करता है मान लेते हैं किन्तु वह अविद्या ब्रह्म से अलग है या अलग नहीं है यह सब अभ्युगमसिद्धान्त हैं।

निरुक्त भी शास्त्र है जो निर निश्चय से अर्थ को कहता है। वह चार प्रकार का है। कहीं केवल नाम प्रातिपदिक से अर्थ का निर्वचन-जैसे उलूखल। यह धान्यकण्डन का साधन पात्र है। मुसलको ऊपर आकाश में ले जाकर फिर जिसमें गिराते हैं वह उलूखल बनता है। उलू माने ऊपर ख माने आकाश में लेजाकर नीचे लाते हैं जिसमें वह पात्र उलूखल है। केवल धातु से जैसे रस आस्वादे धातु है उससे रस बना उसका अर्थ है। जिसका रसन आस्वादन किया जाय वह रस है। नाम एवं धातु दोनों से—जैसा पिशाच। पिशं पिशितम् आचामति अश्नाति मांस को खाता है वह पिशाच है। समय संकेत से जैसे। वह संकेत भी तीन प्रकार का है। लौकिक भू धातु सत्ता अर्थ में है। वैदिक दीधीङ दीप्ति और देवन अर्थ में है। वेवीङ वेति के तुल्य अर्थ में है। प्रतिशास्त्रपार्षद जैसे—गान्धर्व वेद में एक गीत का ओवेणक नाम है। इसी लिए कहा कि नाना इत्यादि। निरुक्त का प्रयोजन है संक्षेप से अर्थ का अवधारण ॥१२।१३॥

अब उद्दिष्ट पदार्थों के विभाग को सूचित करते हैं कि जिस संग्रह को मैंने कहा उस संग्रह के विस्तार को कहूँगा। प्रश्न—आपने प्रतिज्ञा की थी कि विभाग को सूचित करते हैं किन्तु आचार्य कहते हैं कि विस्तार को कहूँगा। इस पर उत्तर देते हैं कि संग्रह ही विस्तारित हुआ विभाग होता है अर्थात् एक जगह संगृहीत वस्तु को यदि फैलादिया जाय विस्तृत कर दिया तो उसको विभाग कहते हैं। प्रश्न—तब क्या संग्रह के कह देने पर सब सम्पन्न हो गया अर्थात् सब पदार्थो का कथन हो गया। उत्तर कहते हैं कि नहीं।

श्रृङ्गारहास्यकरुणा रौद्रवीरभयानकाः ।
बीभत्साद्भुतशान्ताश्च नव नाट्यरसाः स्मृताः ॥१५॥

अभिनवभारती

तत्र विभागं तावदाह—शृङ्गारहास्येत्यादिना नाट्यसंग्रह (६-३१) इत्यन्तेन । तत्र नाट्यं नाम नटगताभिनयप्रभावसाक्षात्कारायमाणैकघनमानसनिश्चलाध्यवसेयः समस्तनाटकाद्यन्यतमकाव्यविशेषाच्च द्योतनीयोऽर्थः । स च यद्यप्यनन्तविभावाद्यात्मा तथापि सर्वेषां जडानां संविदि, तस्याश्च भोक्तृवर्गे, भोक्तृवर्गस्य च प्रधाने भोक्तरि पर्यवसानान्नायकाभिधानभोक्तृविशेषस्थायिचित्तवृत्तिस्वभावः ।

मधुसूदनी

नाट्यमिति । नटगतः नटप्रयुक्तो योऽभिनयः । तस्य प्रभावेण साक्षात्कारायमाणा प्रत्यक्षवत् प्रतीताः ये पदार्थाः । तेषु एकघनमेकतानमत एव निश्चलं यन्मानसं तेन अध्यवसेयः । समस्तेषु नाटकादिषु अन्यतमात् काव्यविशेषाच्च द्योतनीयः प्रकाशनीयः । नायकाभिधानस्य भोक्तुः प्रधानस्य स्थायिन्याः चित्तवृत्तेः स्वभावः ।

एकचित्तवृत्तिरिति । सा एकस्य कस्यचित् नायकाभिधानस्य भोक्तृविशेषस्य एका चित्तवृत्तिः । स्वकीया परकीया च मितिः प्रमितिः । तस्या मानात् परिमाणात् प्रच्याविता दूरीकृता । अतएव साधारणीभूता । तत्तया च सामाजिकानपि स्वात्म-

बालक्रीड़ा

(मूल) श्रृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स अद्भुत एवं शान्त ये नव रस नाट्य दश रूपकों में स्मरण किये हैं ॥१५॥

सनिरुक्त अर्थात् परीक्षापर्यन्त संग्रह को कहूँगा । यहाँ निरुक्त पद का परीक्षा अर्थ है । और सह शब्द अन्त वचन के अर्थ में हैं । अतः अन्त वचन में अव्ययीभाव समास है । यह भी बात है कि विना लक्षण किये हुए की परीक्षा भी नहीं होती है अतः कहा कि सकारिकम् । यहाँ सकारिकम् में सह शब्द का सम्पत्ति के अर्थ में अव्ययीभाव समास है ॥१४॥

विभाग को कहते हैं श्रृंगारहास्य इत्यादि नाट्य संग्रह पर्यन्त श्लोकों से । नाट्य उस अर्थ को कहते हैं जो नट के द्वारा प्रयुक्त अभिनय के प्रभाव से साक्षात्कारायमाण प्रत्यक्ष की तरह प्रतीत पदार्थों में एकघन एकतान हुए अतएव निश्चल मन से अध्यवसेय जानने के योग्य और समस्त नाटकादि दश रूपकों में किसी एक काव्यविशेष से द्योतनीय है। यद्यपि वह अर्थ आलम्बन एवं उद्दीपन रूप अनन्त विभाव एवं क्रिया रूप अनन्त अनुभाव तथा ३३ व्यभिचारी भाव स्वरूप है तद्यपि ज्ञाने परिसमाप्यते के अनुसार सम्पूर्ण जडपदार्थों का संवित् ज्ञान में पर्यवसान है । और निराश्रय ज्ञान नहीं होसकता है अतः ज्ञान का भोक्ताओं में भोक्तृवर्ग का भी "प्रधानमनुवर्तन्ते" "सर्वे भावाः पराश्रिता" के अनुसार किसी एक प्रधान भोक्ता में पर्यवसान होता है अतः नायक नामक भोक्तृविशेष की स्थायी चित्तवृत्तिरूप वह अर्थ है ।

अभिनवभारती

सा चैकचित्तवृत्तिः स्वपरकीयमिति-मानादनन्तचित्तवृत्त्यन्तरगतविशेषिताऽलौकिक-गीतगेयपदादिलास्याङ्गदशकोपजीवनस्वीकृतलक्षणगुणाऽलङ्कारनृत्तातोद्यादिसम्यक्सुन्दरीभूत (दृश्य) काव्यमहिमप्रयोगमालाऽभ्यासविशेषाश्रयत्वात् प्रच्याविता अत एव साधारणीभूततया सामाजिकानपि स्वात्मसद्भावेन समावेशयन्ती तादात्म्यादेव चानुमानागमयोगिप्रत्यक्षादिकरणकतटस्थप्रमातृप्रमेयपरकीयलौकिकचित्तवृत्तिविलक्षणतया निर्भासमाना परिमितस्वात्मान्याश्रयतानिर्भासनविरहाच्च लौकिक-

मधुसूदनी

सद्भावेन तादात्म्येन समावेशयन्ती आत्मस्वरूपतां नयन्ती इत्यन्वयः। अनन्तानां चित्तवृत्तीनामन्तर्मध्ये अगता अनिविष्टा अतएव विशेषिता विशेषभूता। ततश्च लौकिकग्रामीणगीतेभ्यो भिन्ना अलौकिका गीतगेयपदादयः। लास्यस्य अंगदशकस्य उपजीवनेन स्वीकृतलक्षणा लक्षणसम्पन्नाः। गुणालंकारनृत्तातोद्यदयः तै-सम्यक् सुन्दरीभूतं यद् दृश्यं काव्यम्। तस्य महिम्ना नटद्वारा कृता या प्रयोगमाला तस्या अभ्यासविशेषस्य आश्रयत्वात् आश्रयणात् हेतोः स्वपरेति मानात् प्रच्यावितेति समन्वयः।

बालक्रीड़ा

वह एक किसी भोक्तृविशेष की एक ही चित्तवृत्ति है किन्तु विश्व के प्राणियों के अनन्त चित्तावृत्तियों के अन्तः मध्य में गत नहीं होने से कोई विशेषता विशेषभूता है अत एव लौकिक ग्रामीण गीतों से भिन्न अलौकिक यानी चमत्कारपूर्ण जो गीत उनके गेयपदादि जो लास्य के दश अंग, उन के उपजीवन से स्वीकृत लक्षण अर्थात् लक्षण सम्पन्न तथा गुण, अलंकार, नृत्तं आतोद्य और आदि पद ग्राह्य स्वर ताल लय एवं यति से सम्यक् सुन्दरीभूत दृश्य काव्य की महिमा से नट के द्वारा किये गये बहुत से प्रयोगों के अभ्यास की विलक्षणता के कारण अपने एवं दूसरे की मिति प्रतीति रूप मान परिमाण से प्रच्यावित दूर कर कर दी गयी। और दूरीकरण के बदौलत ही साधारणीभूततया सर्वसाधारण के सम्बन्धी के रूप में समझने से सामाजिकों को भी जो अपनी सीमा में समाविष्ट करलेती है जिसके फलस्वरूप तादात्म्य अर्थात् नायक एवं सामाजिक की चित्तावृत्तियों में अभेद हो जाने से अनुमान आगम (शब्द) योग (यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार ध्यान धारणा समाधिरूप अष्टांगयोग) और प्रत्यक्ष अर्थात् षड्विध इन्द्रिय रूप प्रत्यक्ष प्रमाण, तथा आदि पद ग्राह्य उपमान अर्थापत्ति ऐतिह्य करण सहायक है जिसके ऐसा तटस्थ रंगस्थलीबाह्य

(यहां रंगस्थलीस्थ प्रभाता सामाजिक की चर्चा ऊपर कर दी गई है और इसको चक्षुरिन्द्रिय श्रोत्रेन्द्रिय एवं मन के अतिरिक्त अनुमानादि करणों की अपेक्षा भी नहीं है अतः उदासीन प्रमाता की प्रमेय के विषय में जो लौकिक चित्तवृत्तियां है उनसे विलक्षणरूप में मालूम पड़नेवाली तथा परिमित परिच्छिन्न अपने (आत्मा) अन्तःकरण और अन्य अन्तःकरण रूप आश्रय के रूप में आभास नहीं होने से लौकिक प्रमदा वगैरह से जनित लौकिक रति एवं शोकादि की तरह षड्भावविकारों से जन्य हान उपादान तथा असम्भवरूप भिन्न २

अभिनवभारती

प्रमदादिजनितनिजरतिशोकादिवत् षड्जहानादिचित्तवृत्त्यन्तरजननाक्षमा तत एव निर्विघ्नस्वसंवेदनात्मक विश्रान्तिलक्षणेन रसनापरपर्यायेण व्यापारेण गृह्यमाणत्वाद्रस-शब्देनाभिधीयते ।

मधुसूदनी

तादात्म्यादेव स्वात्मसद्भावादेव अनुमानादि करणं साधनं यत्र तैस्तटस्थैः प्रमतृभिः प्रमेयाः ज्ञेयाः परकीया लौकिकचित्तवृत्तयः । तेभ्यो विलक्षणतया निर्भास मानाः । स्वस्य अन्यस्य च आत्मा अन्तः करणं तद्रूपो य आश्रय आधारः । तस्य भावस्तत्ता तस्या निर्भासना प्रतीतिः । तस्या विरहात् ।

बालक्रीड़ा

चित्तवृत्तियों के जनन करने में सक्षम अतएव निर्विघ्न सर्वविध प्रतिबन्धक रहित स्वसंवेद-नात्मक विश्रान्ति नामा "रसन आस्वादन है अपर पर्याय संज्ञा जिसकी ऐसे" व्यापार से ग्राह्य चर्वणीय होने से वह एक चित्तवृति रस शब्द से कही जाती है ।

इससे सिद्ध हुआ कि रस ही नाट्य है । जिसकी व्युत्पत्ति को फल कहते हैं । इसीलिए "रसादृते" के रसात् पद में एक वचन की उपपत्ति हो गई । क्योंकि फल एक ही होता है समुदित कारण का परिणाम एक ही निष्पन्न होता है । इस वास्ते मुख्यभूत महा-रस की अपेक्षा तत्समुदाय रूप अन्य रसों का निरूपण भागों के अभिनिवेश की दृष्टि से किया जाता है । अभिनिवेश पद का अर्थ है यह कार्य अवश्य कर्त्तव्य है ऐसी मन की स्थिति यानी आग्रह । प्रकृत में भी इसका आशय यह है कि जब महारस मुख्यभूत है तब अमुख्यभूत अल्परस अन्य तत्समुदायरूप भी अवश्य होंगे इस तरह आग्रह है । स्फोट मानने वालों के मत में जैसे स्फोटान्तर, अन्विताभिधानवादी के मत में जैसे असत्य उपा-यान्तर और अभिहितान्वय वादी के मत में जैसे सत्य उपायान्तर का भागाभिनिवेश की दृष्टि से निरूपण किया जाता है ।

यहाँ का भाव यह है कि

"वाक्यस्फोटोऽतिनिष्कर्षे तिष्ठतीति मतस्थितिः ।

महाभाष्यकारादि वैयाकरणों के मत की स्थिति है कि वाक्यस्फोट पारमार्थिक है क्यों कि अन्य वर्णस्फोट १ पदस्फोट २ अखण्डपदस्फोट ३ अखण्डवाक्यस्फोट ४ वर्णगत जातिस्फोट ५ पदगतजातिस्फोट ६ वाक्यगतजातिस्फोट ७ से आकांक्षादि की निवृत्ति नहीं हो पाती है अतः ये स्फोट अवास्तव हैं । किन्तु शास्त्रीय प्रक्रिया के निर्वाह के लिए सिद्धांत में इन को स्वीकार कर लिया है । अन्विताभिधान वादी प्रभाकर का मत है

प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा श्रुतौ लोके व्यवस्थितिः
वाक्येनैव यतः सत्यं तथाशक्तिपरिग्रहात् ।

वेद एवं लोक में प्रवृत्ति एवं निवृत्ति रूप व्यवस्था व्यवहार वाक्य से ही होता है । क्योंकि यह सत्य है कि शक्तिग्रह उस वाक्य से हुआ है । अतः उपायान्तर (पद एवं

अभिनवभारती

तेन रस एव नाट्यम्। यस्य व्युत्पत्तिः फलमित्युच्यते। तथा च रसाद्दत (ना. शा. ६-३१) इत्यत्रैकवचनोपपत्तिः। ततश्च मुख्यभूतात् महारसात्, स्फोटदृशीव स्फोटान्तराणि वा असत्यानि वा, अन्विताभिधानदृशीव उपायान्तराणि, सत्यानि

मधुसूदनी

लौकिकप्रमदादिभिर्जनिता ये निजा रतिशोकादयः। तद्वत्। षड्भ्यो भावविकारेभ्यो जन्यानि यानि हानोपादानादि चित्तवृत्त्यन्तराणि। तेषां जनने अक्षमा। तत एव निर्विघ्ना संवेदनात्मिका विश्रान्तिः। तल्लक्षणेन। रसनासंज्ञकोऽपरः पर्यायो यस्य तेन व्यापारेण गृह्यमाणत्वात् चर्व्यमाणत्वात्। सा एका चित्तवृत्तिः रसशब्देन अभिधीयते इत्यन्वयः।

बालक्रीड़ा

उसके अवयवों (प्रकृति प्रत्ययों) में शक्तिग्रह असत्य हैं किन्तु उनका निरूपण भागाभिनिवेश की दृष्टि से किया जाता है। अभिहितान्वयवादी का मत है कि शक्ति की सहायता से पदों के द्वारा उपस्थापित अर्थो का अन्वय संसर्गरूप वाक्यार्थ आकांक्षा योग्यता एवं सन्निधि के वश से होता है। अतः वाक्यार्थ मुख्य है। उसके उपायान्तर पद एवं उसके अवयव प्रकृति प्रत्यय सत्य हैं अतः भागों में स्पष्टता करने के अभिनिवेश की दृष्टि से उनका निरूपण किया जाता है। इसलिए कहेंगे कि "काव्यार्थान् भावयन्ति।" अतः संग्रह में प्रथम "रसाः" ऐसा कहा है। वे रस नो हैं। शान्त का अपलाप करने वाले तो आठ हैं ऐसा वहाँ पढ़ते हैं।

काम कामना सकल जातियों सम्पूर्णप्राणियों में सुलभ होने से अत्यन्त परिचित है अत एव सबके लिए स्पृहणीय है। कामना एवं रति एक ही वस्तु है। रति का ही परिणाम श्रृंगार है। अत एव सबसे पहले श्रृंगार का निर्देश किया। श्रृंगार का अनुगामी हास्य है। यह हास्य काम प्रधान हैं। उसके बाद निरपेक्षभाव होने से श्रृंगार एवं हास्य के विपरीत करुण का निर्देश किया है। यहाँ का आशय यह है कि आलम्बनीय एवं आलम्बनकर्त्ता इन दोनों को एक दूसरे के भावों की अपेक्षा बनी रहती है। किन्तु करुण में आलम्बनीय या अलिम्बनकर्त्ता का अभाव रहता है अतः एक दूसरे को एक दूसरे के भावों की अपेक्षा बनी रहनी असंभव है। जिसके कारण करुण को निरपेक्षभाव कहते हैं। करुण के बाद करुण के निमित्तकारण रौद्र का निर्देश किया। यह अर्थ प्रधान है। श्रृंगार कामस्वरूप है। हास्य काम प्रधान है। और रौद्र अर्थ प्रधान है। इन काम और अर्थ का मूल धर्म है अतः इनके बाद धर्मप्रधान वीर का निर्देश किया। और वीर का वीरत्व भयभीतों को अभय प्रदान करना है इसलिए वीर के बाद भयानक का निर्देश किया। बीभत्स और भयानक के विभावों में साधारण्य समानता की संभावना है अतः भयानक के बाद बीभत्स का निरूपण किया। जो वीर के आक्षेप आक्रम का फल है। और सभी कार्यों से आश्चर्य होना स्वाभाविक है अतः बीभत्स के अनन्तर अद्भुत्

एते नव रसाः प्रोक्ता द्रुहिणेन महात्मना।
पुनश्च भावान्वक्ष्यामि स्थायिसञ्चारिसत्त्वजान् ॥१६॥

अभिनवभारती

वा अभिहितान्वयदृशीव, तत्समुदायरूपाणि रसान्तराणि भागाभिनिवेशदृष्ट्या निरूप्यन्ते। तद्वक्ष्यन्ते "काव्यार्थान् भावयन्ति" इति। तेन प्रथमं रसाः। ते च नव। शान्तापलापिनस्त्वष्टाविति तत्र पठन्ति।१५।१६।

मधुसूदनी

तेन एकस्याः चित्तवृत्तेः रसशब्देनाभिधीयमानत्वेन हेतुना। यस्य नाट्यस्य व्युत्पत्तिः विशिष्टं जननं फलमिति कथ्यते। फलं च एकं ततो "रसादृते" इत्यत्रत्यमेक वचनमुपपन्नं भवति। स्फोटवादिमते स्फोटान्तराणि इव। अविन्ताभिधानवादिमते असत्यानि उपायान्तराणि इव। अभिहितान्वयवादिमते सत्यानि उपायान्तराणि इव मुख्यभूतान्महारसात् रसान्तराणि भागानामभिनिवेशस्य दृष्ट्या निरूप्यन्ते ॥१५॥१६॥

बालक्रीड़ा

(मूल) महात्मा ब्रह्माजी ने इन नव रसों को कहा है। इसके बाद स्थायी संचारी एवं सात्विक भावों को कहूँगा ॥१६॥

का उपादान किया है। जैसा कि कहेंगे "जानकार लोगों को अवश्य ही अन्त में अद्भुत रस का उपादान करना चाहिए" अतः इसके बाद धर्म अर्थ काम इस त्रिवर्गरूप प्रवृत्तिप्रधान धर्म के विपरीत निवृत्तिप्रधानधर्मस्वरूप मोक्षफलक शान्त का उपन्यास किया है। इन सबमें अपने आत्मा आनन्दरूप के प्रवेश से रसचर्वणा होती है। क्योंकि अन्तः करण के धर्म विभावादि के सम्बन्ध से अन्तःकरण धर्म साक्षिभास्य रति की चर्वणा के समय आनन्दाश में आवरण के भंग होने पर चेतन आनन्दस्वप आत्मा का भी चर्वणा में निवेश है ॥१५॥

वह रस चर्वणा भी विभावादि के बल से होती अतः विभावों को कहना चाहिए। क्योंकि जब तक कवि या नट लौकिक रत्यादि चित्तवृत्तियों को नहीं समझेगा तब तक किसी रस के विषय में विशिष्ट विभावादिकों का आहरण निरूपण यानी दर्शन नहीं कर सकता है। क्योंकि शुद्ध विभाव का निदर्शन असंभव है अतः वैशिष्टय का उपपादन करने के लिए स्थायिभावों को कहा। वहाँ शांत का स्थायी शम है ऐसा कोई पढ़ते हैं। अन्य लोग कहते हैं कि शान्त का स्थायी उत्साह ही है। कोई जुगुप्सा को स्थायी कहते हैं। एक ऐसे भी है जो कहते हैं कि विस्मय शम, एवं उत्साह ये सब शान्त के स्थायी हैं। निर्वेद दो प्रकार का होता है। एक तत्त्वज्ञान से उत्पन्न। दूसरा साँसारिक विषयों से ऊब जाने से उत्पन्न। उनमें पहला तत्त्वज्ञानज निर्वेद इस शान्त रस का स्थायी है। इसीलिए उभयधर्म के उपजीवी होने के कारण अर्थात् स्थायित्व एवं व्यभिचारित्व दोनों धर्मों की स्थिति निर्वेद में होने से अमंगलबहुल को भी व्यभि-

रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा ।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्तिताः ॥१७॥
निर्वेदग्लानिशङ्काख्यास्तथासूया मदः श्रमः ।
आलस्यं चैव दैन्यं च चिन्ता मोहः स्मृतिर्धृतिः ॥१८॥

अभिनवभारती

तत्र कामस्य सकलजातिसुलभतयाऽत्यन्तपरिचितत्वेन सर्वान्प्रति हृद्यतेति पूर्वं शृङ्गारः। तदनुगामी च हास्यः। इमौ कामप्रधानौ। निरपेक्षभावत्वात् तद्विपरीतस्ततः करुणः। ततस्तन्निमित्तं रौद्रः। स चायञ्चार्थप्रधानः। ततः कामार्थयोर्धर्ममूलत्वाद्वीरः। स हि धर्मप्रधानः। तस्य च भीताभयप्रदानसारत्वात्। तदनन्तरं भयानकः। तद्विभावसाधारण्यसंभावनात्। ततो बीभत्सः इति यद्वीरेणाक्षिप्तम् फलम्। पर्यन्तेऽद्भुतः इति तदनन्तरं तदुपादानम्। तथा च वक्ष्यते "पर्यन्ते कर्तव्यो नित्यं हि रसोऽद्भुतः।" (ना. शा. १८-४३) इति। ततस्त्रिवर्गात्मकप्रवृत्त(त्ति)धर्मविपरीतनिवृत्त(त्ति)धर्मात्मको मोक्षफलः शान्तः। तत्र स्वात्मावेशेन रसचर्वणेत्युक्तम्।१७।

सा च विभावादिबलादिति भावा वक्तव्याः। तत्र नाज्ञातलौकिकरत्यादिचित्तवृत्तेः कवेर्नटस्य वा तद्विषयविशिष्टविभावाद्याहरणं शक्यमिति स्थायिन उद्दिष्टाः। तत्र शान्तस्य स्थायी 'विस्मयशमा" इति शमः कैश्चित्पठितः। उत्साह एवास्य स्थायी-

मधुसूदनी

इमौ शृंगारहास्यौ कामप्रधानौ कामरूपपुरुषार्थप्रधानकौ। निरपेक्षो भावः यः प्राणी मृतः। तस्यापेक्षया रहितः। तस्याभावेऽपि तमनुरुध्य परिदेवितादयः क्रियन्ते अतः करुणः शृंगारहास्याभ्यां विपरीतः निरपेक्ष भाव इत्युच्यते। धर्मार्थकामानां त्रयाणां वर्गः समूहः तदात्मको यो प्रवृत्तिप्रधानो धर्मः। तद्विपरीतो यो निवृत्तिप्रधानो धर्मः। तदात्मकः मोक्षफलकः शान्तः। तत्र शान्ते आनन्दरूपस्य स्वात्मनः आवेशेन रसविषयिणी चर्वणा ॥१७॥

बालक्रीड़ा

(मूल) रति हास शोक क्रोध सत्साह भय जुगुप्सा विस्मय ये स्थायी भाव कहे हैं। इनमें संख्या का निर्देश नहीं है ॥१७॥

चारियों में प्रथम स्थान दिया। स्थायिओं के अन्त में व्यभिचारियों के आरम्भ में रहने से अर्थात् दोनों के मध्य में रहने से मध्यमणिन्याय से दोनों ओर उसका सम्बन्ध हो गया है। स्थायिओं की संख्या निश्चित नहीं है। इसीलिए अपने लोग कहते हैं कि स्थायिओं की संख्या नहीं बतलाई है। इतना ही कहा कि ये स्थायी भाव है। किन्तु ये अपुष्ट होने पर व्यभिचारी भी हो जाते है। इसको आगे विस्तार से कहेंगे ॥१६।१७॥

व्रीडा चपलता हर्ष आवेगो जडता तथा ।
गर्वो विषाद औत्सुक्यं निद्रापस्मार एव च ॥१९॥
सुप्तं विबोधोऽमर्षश्चाप्यवहित्थमथोग्रता ।
मतिर्व्याधिस्तथोन्मादस्तथा मरणमेव च ॥२०॥
त्रासश्चैव वितर्कश्च विज्ञेया व्यभिचारिणः ।
त्रयस्त्रिंशदमी भावाः समाख्यातास्तु नामतः ॥२१॥

अभिनवभारती

त्यन्त्ये । जुगुप्सेति केचित् । सर्व इत्येके । तत्त्वज्ञानजो निर्वेदोऽस्य स्थायी । एतदर्थमेवोभयधर्मोपजीववित्वख्यापनायामङ्गलभूतोऽप्यसौ पूर्वं निर्दिष्टो व्यभिचारिषु । स्थायिषु च सङ्ख्या नोक्तेत्यपरे । अत एव तु स्थायिन एते व्यभिचारिणोऽपि भवन्ति । एतच्चाग्रे वितनिष्यामः । व्यभिचारिण एत इत्युभयतो नियमार्थं सङ्ख्योपादानम् ॥१८।१९।२०।२१॥

मधुसूदनी

सा च रसचर्वणा च विभावादीनां बलात् सामर्थ्यात् । इत्यतो विभावादयो वक्तव्याः । तत्र रसविषये अज्ञाताः लौकिक्य रत्यादयश्चित्तवत्तयो येन तस्य कवेर्नटस्य वा । तैः रत्यादिचित्तवृत्तिभिः विशिष्टानां विभावादीनामाहरणं न शक्यमित्यतः स्थायिनो रत्यादयः उद्दिष्टाः संकीर्तिताः । एतदर्थमेवेत्यस्य व्याख्या उभयोधर्मयोः स्थायित्वव्यभिचारित्वरूपयोरुपजीवी अयं निर्वेदः । तस्य भावस्तत्वं तस्या ख्यापनाय ॥१८॥१९॥२०॥२१॥२२॥

बालक्रीड़ा

(मूल) निर्वेद यह जब तत्त्वज्ञान "ब्रह्म सत्य है जगत् मिथ्या है" ऐसे ज्ञान से उत्पन्न होता है तब शान्त रस का स्थायी होता है । और अन्य कारणों से जब यह उत्पन्न होता है तब यह व्यभिचारी भाव है । इसी वास्तविकता को बतलाने के लिए ही इस अमंगल भूत निर्वेद का व्यभिचारियों के आरम्भ में कथन किया है । अतः निर्वेद के दो रूप हैं एक शान्तरस का स्थायी है । दूसरा व्यभिचारी । इस तरह निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दैन्य, चिन्ता मोह, स्मृति, धृति, व्रीडा, चपलता, हर्ष, आवेग, जडता, गर्व, विषाद, औत्सुक्य, निद्रा, अपस्मार, सुप्त, विबोध, अमर्ष, अवहित्था, उग्रता, मति, व्याधि, उन्माद, मरण, त्रास एवं वितर्क इनको व्यभिचारी समझना चाहिए । इन तैंतीस भावों का नाम से कथन कर दिया है ॥१८।१९।२०।२१॥

इनको व्यभिचारी समझो और तैंतीस ये भाव हैं । व्यभिचारिणो विज्ञेयाः त्रयस्त्रिशदमी भावाः । इस प्रकार दोनों तरफ से नियम करने के लिए संख्या का उपादान किया है ॥१८।२१॥

स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरभङ्गोऽथ वेपथुः ।
वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्त्विकाः स्मृताः ॥२२॥
आङ्गिको वाचिकश्चैव ह्याहार्यः सात्त्विकस्तथा ।
चत्वारोऽभिनया ह्येते विज्ञेया नाट्यसंश्रयाः ॥२३॥
लोकधर्मी नाट्यधर्मी धर्मीति द्विविधः स्मृतः ।
भारती सात्वती चैव कैशिक्यारभटी तथा ॥२४॥

अभिनवभारती

सात्त्विका व्यभिचारिवृत्तमभिनयवृत्तं चोपजीवन्तीति पृथगभिनयेभ्यो व्यभिचारिभ्यश्च गणिताः । ॥२२॥

चत्वार इति । आहार्यस्यापि धनुःप्रतिशीर्षकमुकुटादेः प्रत्यक्षबुद्धावुपयोगेऽन्तरङ्गत्वं सूचयति । नाट्यसंश्रया इति । लोके तु कदाचिन्न भवंत्यपि गृहीतत्वात् । नाट्ये तु त एव जीवितम् । अत एव रसभावानन्तरमभिनया उद्दिष्टाः ॥२३॥

अभिनयाश्च लौकिकं धर्मं तन्मूलमेव तदुपजीविनं सामयिकं नाट्यीयं धर्मं वानुवर्तन्त इत्यतस्तदनन्तरं धर्मी । न चाभिनयोऽभिनेतव्यमन्तरेणास्तीति दशरूपकयोगद्वारेण तदुपकारिण्यो वृत्तयः ॥२४॥

मधुसूदनी

आहार्यस्य धारयितुं योग्यस्य धनुषः प्रतिशीर्षकस्य शिरोवेष्टनस्य । साक्षात्कारज्ञाने ॥२३॥

बालक्रीड़ा

(मूल) स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभंग, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु एवं प्रलय ये आठ सात्विक भाव हैं ॥२२॥

(मूल) आंगिक, वाचिक, आहार्यिक एवं सात्विक इन चारों को नाटच में अभिनय समझना चाहिए ॥२३॥

(मूल) लोकधर्मी एवं नाटचधर्मी ये दो धर्मियाँ नाटच में स्मरण की गई हैं । ये अभिनय की इतिकर्त्तव्यताएँ हैं अर्थात् अभिनय के प्रकारों के विषय में ये नियम हैं ।

सात्विकभाव अभिनय के स्वभाव का और व्यभिचारियों के स्वभाव का उपजीवन करते हैं अतः व्यभिचारी भावों के अनन्तर अभिनयों से और व्यभिचारियों से पृथक् इन सात्विकों की गणना की है ॥२२॥

ये चार हैं । आहार्य धनुष एवं प्रतिशीर्ष मुकुट आदि का भी प्रत्यक्ष ज्ञान में उपयोग है अतः इनकी अन्तरंगता को सूचित करते हैं । नाटच संश्रय कहने का भाव है कि लोक में इनका कदाचित् उपयोग नहीं है किन्तु नाटच में तो ये जीवित हैं प्राण हैं अतः इनका ग्रहण कर लिया है । इसलिए रस और भावों के अनन्तर अभिनयों को कहा ॥२३॥

चतस्रो वृत्तयो ह्येता यासु नाठ्यं प्रतिष्ठितम् ।
आवन्ती दाक्षिणात्या च तथा चैवोढ्रमागधी ॥२५॥
पाञ्चालमध्यमा चेति विज्ञेयास्तु प्रवृत्तयः ।
दैविकी मानुषी चैव सिद्धिः स्याद् द्विविधैव तु ॥२६॥
शारीराश्चैव वैणाश्च सप्त षड्जादयः स्वराः ।
निषादर्षभगान्धारमध्यपञ्चमधैवताः ।
ततं चैवावनद्धं च घनं सुषिरमेव च ॥२७॥

अभिनवभारती

द्वे तिस्रः पञ्चेति निराकणरणाय चतस्र इत्युक्तम् । ता अपि देशवशाद्भूयसा भवन्तीति तदनन्तरं प्रवृत्तयः ॥२५॥

सर्वमेतत्सिद्धिपर्यवसानमिति ततो द्विविधा सिद्धिः ॥२६॥

स्वराः पाठ्यगानसंगृहीता अपि पृथगुपात्ताः । केवलानामपि प्रयोगोपरञ्जकत्वं यल्लक्ष्ये दृश्यते यत्रान्तरालाप इति प्रसिद्धिस्तदभ्युपगमार्थम् ॥२७॥

बालक्रीड़ा

(मूल) भारती सात्वती कैशिकी तथा आरभटी ये चार वृत्तियाँ हैं। जिनमें नाट्य प्रतिष्ठित है। आवन्ती, दाक्षिणात्या ओण्ड्रमागधी तथा पाञ्चालमध्यमा इनको प्रवृत्तियाँ समझना चाहिए। और दैवी तथा मानुषी दो प्रकार की सिद्धियाँ हैं ॥२४।२५।२६॥

(मूल) षड्ज आदि सात स्वर शारीर एवं वैण है। षड्ज, निषाद, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम और धैवत ये सात स्वरों के नाम हैं ॥२७॥

अभिनय भी लौकिक धर्म और तन्मूलक तथा तदुपजीवी सांकेतिक नाट्यीय धर्म का उपजीवन करते हैं। इसलिए अभिनयों के बाद धर्मी को कहा। अभिनेतव्य के विना अभिनय नहीं किया जा सकता है अतः दश रूपकों के योग सम्बन्ध के जरिये तदुपकारिणी वृत्तियों को कहा।

वे वृत्तियाँ दो हैं तीन हैं या पाँच है छ हैं इनके निराकरण करने के लिए चार कहा ॥२४॥

वे भी देश के वश से बहुत हो जाती है अतः वृत्तियों के अनन्तर प्रवृत्तियों को कहा ॥२५॥

इन सबका पर्यवसान सिद्धि में होता है इसलिए उसके बाद दो प्रकार की सिद्धियों को कहा ॥२६॥

स्वर एवं पाठ्य का यद्यपि गान में संग्रह हो गया है तद्यपि पृथक् उनका उपादान किया। क्योंकि लक्ष्य में प्रयोग में इनमें से एक के भी अनुष्ठान करने से आकर्षण दिखाई पड़ता है।

चतुर्विधं च विज्ञेयमातोद्यं लक्षणान्वितम् ।
ततं तन्त्रीगतं ज्ञेयमवनद्धं तु पौष्करम् ॥२८॥
घनस्तु तालो विज्ञेयः सुषिरो वंश एव च ।
प्रवेशाक्षेपनिष्क्रामप्रासादिकमथान्तरम् ॥२९॥

अभिनवभारती

लक्षणान्वितमिति । अन्यत्तु मल्लकपटफलकज्वालामुखपक्षवाद्यादि लौकिकं, नैतत्सङ्गृहीतं बाध्यत्वादित्यर्थः । एतच्चान्ते लक्ष्यते । यदपि चतुर्विधं न सर्वमिदं बहुलचर्मकारादिवाद्यमपि च वक्ष्यमाणलक्षणान्वितम् । आतुद्यतेऽभिहन्यत इत्यर्थः । पुष्करशब्दश्रवणादागतं [1]पुष्करावर्त्तदेवताधिष्ठितं; पद्मपत्राकारं चर्मपुटं भाषं चेति पौष्करम् । हन्यते कलासाम्यार्थमिति घनः । अत एव तालैकप्रमाणत्वात्स्वरवर्णसम्भवात्ताल इत्युक्तः कांस्यतालादिः । एवकारः कोहलादिव्युदासाय ॥२८॥

पात्रस्य प्रवेशे भावप्रकृत्यवस्थानादिसूचकं यद्गीयते तत्प्रवेशगानम् । प्रविष्टस्यान्तर्गतां चित्तवृत्तिं सामाजिकान्प्रति प्रसादयितुं प्रसादगानम् । रसान्तरोपक्षेपार्थमाक्षेपगानम् । आन्तरमिति गतिपरिक्रमणनिरूपणादिरवसरः । तत्र यद्गीयते तदान्तरं गानम् । पात्रस्य निष्क्रमणे तु निष्क्रामगानम् । प्रवेशादय उपचाराद्गाने । प्रसादोऽस्य प्रयोजनं प्रासादिकम् । अन्ये तु समासान्मत्वर्थीयं ठनं कृत्वा प्रसादिक-

बालक्रीड़ा

(मूल) तत, अवनद्ध घन एवं सुषिर इन चार प्रकारों को लक्षण सम्पन्न आतोद्य समझना चाहिए । आतोद्य पद का अर्थ है अभिहनन के योग्य सतत बजाये जाने लायक

है । जहाँ अन्तरालाप होता है (यह गाने का प्रकार है) वहाँ स्वर प्रधान गाना होता है ऐसी प्रसिद्धि है । अतः इस प्रसिद्धि के अभ्युपगम के लिए इनका पृथक् उपादान किया ॥२७॥

लक्षणों से अन्वित इति । और भी बहुत से मल्लक पट फलक, ज्वालामुख, पक्षवाद्य आदि लौकिक वाद्य हैं उनका संग्रह इनमें नहीं किया हैं । क्योंकि वाद्यत्वेन यावद् वाद्यों का संग्रह करने में प्रत्येक की पृथक्-पृथक् विलक्षणता बाधक है । इसका निरूपण अन्त में करेंगे । क्योंकि ये चार प्रकार के वाद्य ही सब वाद्य नहीं है । बहुत से चर्मकार आदि के वाद्य हैं जो कि वाद्य के लक्षणों से समन्वित हैं ।

आतोदन किया जाता है अर्थात् आहनन किया जाता है जिस पर । पुष्कर मेघ के शब्द सुनने के बाद निर्माण क्रिया में आया, पुष्करावर्त्तक देवताओं से अधिष्ठित, कमल के पत्ते के आकार वाला और चमड़े के द्वारा मंढ देने से भाष (शब्द) कारक जो वाद्य है वह पौष्कर चर्मावनद्धवाद्य है । कलाओं में साम्य करने के लिए जो बजाया जाय वह घन वाद्य है । अतएव ताल ही के मुख्य प्रमाण होने से वह ताल होता है किन्तु जिसमें स्वर एवं वर्णों का होना संभव है ऐसे कांस्यताल आदि ताल कहे जाते हैं । एवकार कोहलादिके व्युदास के लिए हैं ॥२८॥

[1] जातं वंशे भुवनविदिते पुष्करावर्त्तकानामित्युक्तेः।

गानं पञ्चविधं ज्ञेयं ध्रुवायोगसमन्वितम् ।
चतुरश्रो विकृष्टश्च रङ्गस्त्र्यश्रश्च कीर्तितः ॥३०॥

अभिनवभारती

मिति । ध्रुवा गीत्याधारो नियतः पदसमूहः । तत्र योगेन युज्यमानतया समन्वितं तदर्थप्राधान्येन नियतरूपत्वादिति गानस्य गान्धर्वाद्भेदः सूचितः ॥२९॥

कक्ष्याविभागेन गत्युपकारेण सर्वाभिनयानुभावोपकारो गानातोद्योपकारी च मण्डपः । यथोक्तम् "यश्चाप्यास्यगतो भाव" (ना. शा. २-२०) इति, तथा "गम्भीरस्वरता येन कुतपस्य" इत्यादि (ना. शा. २-८२) । रङ्गेणैव च कक्ष्याविभागः सङ्गृहीत इति नानुदिष्टं कक्ष्यायाः ॥३०॥

मधुसूदनी

धर्मी इतिकर्त्तव्यता । वृत्तयो भारत्याद्याः ॥२४···३०॥३१॥

बालक्रीड़ा

(मूल) वाद्य । उनमें तंत्रीगत अर्थात् ताम्रादि धातुओं से विनिर्मित तारों के आधार पर स्वरों के व्यंजक वाद्य, ततवीणा आदि है । पौष्कर चर्म आदि से अवनद्ध है । घन ताल है । सुषिर वंश हैं । ध्रुवाओं के योग से समन्वित प्रवेश, आक्षेप, निष्क्राम, प्रासादिक और आन्तर नामों वाले पाँच प्रकार के गानों को समझना चाहिए । चतुरश्र चौकोर, विकृष्ट दूर तक फैला हुआ विस्तृत एवं त्र्यश्र यानी तिकोना इस तरह तीन प्रकार का रंग कहा गया है ॥२८।२९।३०॥

पात्र के प्रवेश के अवसर पर उसके भाव, प्रकृति एवं अवस्था आदि का सूचक जो गान गाया जाता है वह प्रवेश गान कहा कहाता है । प्रविष्ट पात्र की अन्तर्गत चित्तवृत्ति को सामाजिकों के प्रति प्रसन्नता प्रकट करने के लिए जो गाना गाया जाता है उसे प्रसाद गान कहते हैं । रसान्तर के अर्थात् प्रकृत रस से भिन्न रस के उपक्षेप के लिए जो गान किया जाता है उसे आक्षेप गान कहते हैं । अन्तर शब्द का अर्थ है गति या परिक्रमण आदि के निरूपण का अवसर । उस अवसर पर जो गान होता है उसे आन्तर गान कहते हैं । पात्र के निष्क्रमण के समय का गान निष्क्राम गान कहलाता है । इस प्रकरण में प्रवेश आदि शब्द लक्षणया गान में प्रयुक्त हैं । प्रसन्नता ही जिसका प्रयोजन है वह गान प्रासादिक है । दूसरे व्याख्याता तो प्रवेशाक्षेपनिष्क्रामप्रसाद इन पदों के समास से मत्वर्थीय ठन् करके प्रसादिक शब्द बनाते हैं । ध्रुवा उसे कहते हैं जो गाने का आधारभूत नियत पदसमूह है । उसमें योग युज्यमानता से समन्वित अर्थात् उसके अर्थ की प्रधानता के कारण नियत रूप है । इससे गान का गान्धर्व से भेद सूचित कर दिया गया है ॥२९॥

कक्ष्या के विभाग से रूप एवं गति के उपयोग उपकार से सभी प्रकार के अभिनयों के अनुभव में और गाने तथा बजाने में सहायता करने वाला मण्डप है । जैसा कि कहा है—जो तो अभिनेता के मुख का भाव है वह लम्बे चौड़े माण्डप में थोड़ा स्पष्ट होता है तथा जिससे कुतप के स्वर की गम्भीरता हो जाती है इत्यादि । प्रश्न—कक्ष्या विभाग

एवमेषोऽल्पसूत्रार्थो निर्दिष्टो नाट्यसंग्रहः ।
अतः परं प्रवक्ष्यामि सूत्रग्रन्थविकल्पनम् ॥३१॥

अभिनवभारती

एतदुपसंहरत्येवमित्यादिना ।

एवमुद्देशविभागभेदेन द्विधा सङ्ग्रहमभिधाय लक्षणपरीक्षे वक्तुं प्रतिजानीते—अतः परमिति । सूत्रग्रन्थविकल्पनमिति । सूत्रं सूत्रकं लक्षणं वक्ष्यामि । तेनैव च कारिका सङ्गृहीता । ग्रन्थो भाष्यम् । तत्कृतं च विकल्पनमाक्षेपप्रतिसमाधानात्मकमिति परीक्षा निरुक्तशब्दवाच्या प्रतिज्ञाता । सूत्रविवरणस्वभावा तु कारिका सूत्रमपि प्रकाशयन्ती बहुतराक्षेपसमाधानव्याकुलशिष्यजनं स्थिरपक्षनिरूपणेनोपकरोतीति भाष्यस्य पश्चादस्याः पाठः ।

एवं सूत्रं भाष्यं परीक्षां च प्रवक्ष्यामीति प्रतिज्ञाय रसविषयमेव सूत्रप्रभृति प्रथमं वक्तव्यमित्यत्र परिकरबन्धं घटयितुमाह—तत्रेति । तेषां रसादीनां मध्ये । एवकारोऽवधारणे । तावदिति क्रमे । अभितः आदितः सूत्रग्रन्थपरीक्षाक्रमेण विभज्याख्यास्यामः ।

बालक्रीड़ा

(मूल) इस प्रकार अल्पाकार वाले सूत्रों से प्रतिपाद्य यह नाटय संग्रह कह दिया गया है । इसके बाद सूत्र और ग्रंथ का विकल्पन कहूँगा ॥३१॥

का संग्रह में उद्देश नहीं किया गया है तब उसके निरूपण का यहाँ क्या प्रसंग है । उत्तर । रंग के उद्देश से ही कक्ष्याविभाग का संग्रह हो गया है अतः पृथक् कक्ष्या का उद्देश नहीं किया गया है ॥३०॥

"एवम्" इत्यादि से इसका उपसंहार करते हैं । इस प्रकार उद्देश एवं विभाग का भेद करके दो प्रकार से संग्रह को कहकर लक्षण और परीक्षा को कहने के लिए उपक्रम करते हैं प्रतिज्ञा करते हैं । उसके बाद सूत्र और ग्रन्थ के विकल्प को कहूँगा । सूत्र अर्थात् सूत्रण करने वाले लक्षण को कहँगा । इसी से कारिका का भी संग्रह हो गया । ग्रन्थ माने भाष्य । उसके द्वारा किया गया आक्षेपप्रतिसमाधानात्मक विकल्पन । इससे निरुक्त शब्द के वाच्य परीक्षा की प्रतिज्ञा करी । सूत्र का विवरण करने के स्वभाव वाली कारिका तो सूत्र का भी प्रकाश करती हुई बहुत प्रकार के शंका एवं समाधानों से व्याकुल शिष्यजन का स्थिर पक्ष के निरूपण करने से उपकार करती है अतः भाष्य के पश्चात् इसका पाठ किया है ।

इस तरह सूत्र, भाष्य एवं परीक्षा को कहूंगा ऐसी प्रतिज्ञा करके रस के बारे में सूत्र एवं भाष्य को पहिले कहना है अतः इस विषय में परिकरबन्ध को करने के लिए कहते हैं—उन रस और भाव आदि के बारे में निश्चय ही क्रमपूर्वक आरम्भ से सूत्र ग्रन्थ एवं परीक्षा पर्यन्त विभाग करके आख्यान करेंगे ।

तत्र रसानेव तावदादावभिव्याख्यास्यामः ।
न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते ।
तत्र विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः ।

अभिनवभारती

उद्देशक्रमस्यैव पर्यनुयोज्यतामाशङ्क्यापरं क्रमहेतुमाह—न हीति । हि यस्मात् रसं विना विभावादिरर्थो बुद्धौ व्याख्येयतया न प्रवर्तते । यतश्च तं विनाऽर्थः प्रयोजनं प्रीतिपुरस्सरं व्युत्पत्तिमयं न प्रवर्तते । यतश्च रसं प्रत्यादृते रसनात्मकप्रतीत्येकघन-विश्रान्ते सामाजिकलोकेऽन्यो भावादिरर्थः प्रविभागेन बुद्धौ न वर्तते । सर्वस्य जडस्य चित्तवृत्त्यन्तरोपकृतप्रधानस्थायिनामधेयचित्तवृत्तिमग्नत्वेन विभावानुभावादिवर्गस्याव-भासात् । अतो व्याख्यातृनटसामाजिकाभिप्रायेण तस्यैव प्राधान्यमिति रस एव तावत्पूर्वमुद्दिष्ट इति तस्यैव लक्षणादि कर्तव्यमिति तात्पर्यम् ।

मधुसूदनी

उद्देशे यः क्रम आदृतः तस्यैव पर्यनुयोज्यतां प्रश्नविषयतामाशंक्य उद्देश क्रमानुसारमेव ग्रन्थेषु लक्षणाभिधानं दृश्यते, भवता तत्परित्यज्यते तत्कोऽत्र हेतुरिति आशंकां कृत्वा रसनिरूपणक्रमे अपरं हेतुमाह नहीति । व्युत्पत्तिमयं व्युत्पत्ति स्वरूपम् । स्वरूपार्थे मयट् । प्रयोजनस्य विशेषणमेतत् । सर्वस्य जडस्य विभा-वानुभाववर्गस्य भिन्नाभिश्चित्तवृत्तिभिरुपकृतायां प्रधानभूतायां स्थायिनामधेयायां चित्तवृत्तौ मग्नत्वेन अवभासात् प्रतीतेः । तस्यैव रसस्यैव । तस्यैव रसस्यैव । पूर्वत्र "रसा इति पठ्यन्ते" इत्यत्र रसाः "तत्र रसानेव तावदादौ अभिव्याख्यास्याम" इत्यत्र

बालक्रीड़ा

(मूल) अब पहिले रसों की अभितः पूर्ण रूप से व्याख्या करेंगे । क्योंकि रस के विना कोई अर्थ प्रवृत्त नहीं होता है । विभाव अनुभाव एवं व्यभिचारी के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है ।

उद्देश में किये हुए क्रम के सम्बन्ध में पर्यनुयोग प्रश्न की आशंका करके अर्थात् संग्रह में सबसे पहिले रस को ही क्यों रक्खा ऐसी जिज्ञासा के शमन के लिए क्रम के विषय में अपर हेतु को कहते हैं—न हि इति । रस के विना विभावादि पदार्थ व्याख्यान करने के लिए बुद्धि में नहीं आते हैं । क्योंकि रस के विना आनन्द के साथ व्युत्पत्ति होना जो काव्य का फल है वह सिद्ध नहीं होता है । और रस के विषय में आदर करने वाले एवं आनन्दा-त्मक एकमात्र प्रतीति में विश्राम करन वाले सामाजिक लोक में विभावादि अन्य अर्थ अलग-अलग स्पष्ट रूप से बुद्धि में नहीं आते है । विभावानुभावादि सम्पूर्ण जडमय वर्ग भिन्न-भिन्न चित्तवृत्तियों से उपकृत अतएव प्रधान स्थायिनामधेय चित्तवृत्ति में मग्न होकर अवभासित होता है । इस लिए व्याख्याता, नट एवं सामाजिकों के अभिप्राय से उसी

अभिनवभारती

पूर्वत्र बहुवचनमत्र चैकवचनं प्रयुञ्जानस्यायमाशयः—एक एव तावत्परमार्थतो रसः सूत्रस्थानीयत्वेन रूपके प्रतिभाति। तस्यैव पुनर्भागदृशा विभागः। सोऽपि च न तदेकमुखप्रेक्षितामतिवर्तते। एतच्चोद्देश एवास्माभिर्हितचरम्। अभिधास्यते चाग्रे।

एवं क्रमहेतुमभिधाय रसविषयं लक्षणसूत्रमाह—विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः। अत्र भट्टलोल्लटप्रभृतयस्तावदेवं व्याचख्युः—विभावादिभिः संयोगोऽर्थात् स्थायिनस्ततो रसनिष्पत्तिः। तत्र विभावश्चित्तवृत्तेः स्थाय्यात्मिकाया उत्पत्तौ कारणम्। अनुभावाश्च न रसजन्या अत्र विवक्षिताः। तेषां रसकारणत्वेन

मधुसूदनी

च रसानिति च बहुवचनम्। अत्र रसादृते इति एकवचनम्। अभिहितचरमिति। मुख्यभूतान्महारसात् रसान्तराणि भागाभिनिवेशदृष्ट्या निरूप्यन्ते इति षोडशकारिकाव्याख्याने पूर्वमभिहितम्।

ततः संयोगात्। तत्र रसनिष्पत्तौ। अनुभावा इति। प्रश्नः—अनुपश्चाद् भवन्ति वा भावयन्ति वा। ननु कस्य पश्चात्। किं रसनिष्पत्तेः पश्चात्। तर्हि इमे रसजन्याः। उत्तरम्। नेति। रसजन्या इमे न विवक्षिताः। यतो विभावादीनां संयोगाद्रस निष्पत्तिः। अतः इमे रसकारणानि न तु रसकार्याणि। एवं रसकारणत्वेन गणनीयानां तेषामनुभावानां रसकार्यत्वेन गणनाया अनर्हत्वात्। तर्हि

बालक्रीड़ा

की प्रधानता के कारण रस ही का सर्वप्रथम उद्देश किया अतः उसी के लक्षणादि कर्त्तव्य हैं यह तात्पर्य है।

पहले रसा भावा इस श्लोक में रसाः यह बहुवचन कहा गया है यहाँ रसादृते में रसात् यह एकवचन कहा इसमें आचार्य का यह आशय है कि किसी भी रूपक में परमार्थतः सूत्रस्थानीय एक ही रस प्रतिभात होता है। उसी का खण्ड-खण्ड करने की दृष्टि से विभाग होता है। वह विभाग भी उसी प्रधान रस की मुखप्रेक्षिता का अतिवर्त्तन नहीं करता है। इस बात को हमने उद्देश में कह दिया था और आगे भी कहेंगे।

इस प्रकार क्रम के हेतु को कहकर रस के विषय में लक्षणात्मक सूत्र को कहते हैं—विभाव अनुभाव एवं संचारी के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। इसके विषय में भट्टलोल्लट प्रभृतियों की इस प्रकार की व्याख्या है। विभावादि के साथ संयोग अर्थात् स्थायि का जो सम्बन्ध है उस से रस की निष्पत्ति होती है। उसमें विभाव वह है जो स्थायी रूप चित्तवृत्ति की उत्पत्ति में कारण है।

प्रश्न—अनुभाव क्या हैं। अनु पश्चात् जो उत्पन्न होते हैं वे कार्य अनुभाव हैं। क्या यहाँ प्रकृत में रसनिष्पत्ति में रस के पीछे उत्पन्न होते हैं। तब तो ये रस से जन्य अर्थात् रस के कार्य हुए। उत्तर। नहीं, ये रसजन्य अनुभाव यहाँ विवक्षित नहीं है। क्योंकि विभावादि

अभिनवभारती

तथा गणनानर्हत्वात्। अपि तु भावानामेव। विभावा अनुभावाश्च चित्तवृत्त्यनात्मकत्वात् यद्यपि न सहभाविनः स्थायिना तथापि वासनात्मकतेह तेषां विवक्षिता। दृष्टान्तेऽपि व्यञ्जनादिमध्ये कस्यचिद्वासनात्मकता स्थायिवत्। अन्यस्योद्भूतता

मधुसूदनी

केषां जन्याः। अपि तु भावानां स्थायिनां जन्याः। कर्तृकर्मणोः कृतीति कर्त्तरि षष्ठी।

ननु विभावादिभी रसनिष्पत्तिः। कार्यकारणयोश्च दैशिकः कालिकः सहभावोऽपेक्षितः। तत्र स्थायिनां व्यभिचारिणां तु चित्तवृत्तिरूपतया समानस्वरूपतया सहभावो भवितुमर्हः। किन्तु विभावानामनुभावानां चित्तवृत्त्यनात्मकतया नहि सहभावः। अत आह—वासनात्मकतेति। तयोरपि वासनात्मकता अत्र विवक्षिता। अयं सारः। नहि बाह्या जागतिकाः दुष्यन्तादयो शकुन्तलादयो वा विभावाः। न च बाह्य जागतिक दुःष्यन्त शकुन्तलादीनां कटाक्षवीक्षणभुजक्षेपप्रभृतयः क्रिया अनुभावाः। अपि तु अभिनय-काव्यशब्द-गीतशब्द-चित्ररेखाभिः प्रतीताः बौद्धा मनोमयास्ते विवक्षिताः। तदुक्तम् भर्तृहरिणा—

शब्दोपहितरूपांस्तान् बुद्धेर्विषयतांगतान्।
प्रत्यक्षानिव कंसादीन् साधनत्वेन मन्यते। इति।

विभावादीनामपि स्वप्नतुरगादीनामिव रंगरजतादीनामिव (अन्तः करणधर्मतया) साक्षिभास्यत्वमविरुद्धम्। इति रसगंगाधरे। अधिकं तु रसगांधरमधुसूदन्यां तद्बालक्रीडायां च।

बालक्रीड़ा

के संयोग से रस की निष्पत्ति है अतः ये अनुभाव रस के कारण हैं। इस तरह जो रस के कारण के रूप नें गणनीय है उनकी रस के कार्य के रूप में गणना करना अनर्ह है। प्रश्न—तब ये किसके कार्य हैं। क्योंकि जो अनु कारण के पश्चात् पैदा होते हैं वे कार्य अनुभाव हैं इस व्युत्पत्ति से यह प्रसिद्ध है कि ये किसी के कार्य हैं। उत्तर। ये स्थायी भावों के कार्य हैं। प्रश्न–विभावादि के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। यहाँ निष्पत्ति का स्वरूपेण प्रकाशन, उत्पत्ति, अनुमिति, भुक्ति, अभिव्यक्ति या आरोप कुछ भी अर्थ मानें। सभी अवस्थाओं में विभावादि, स्थायी एवं रसों का दैशिक और कालिक सहभाव अवश्य अपेक्षित है। उनमें स्थायी एवं व्यभिचारी भावों का चित्तवृत्तिस्वरूप होने से सहभाव हो सकता है किन्तु विभावों दुःष्यन्तादि और शकुन्तलादि तथा अनुभावों कटाक्ष वीक्षण भुजक्षेप प्रभृति कार्यों का चित्तवृत्तिस्वरूप नहीं होने से स्थायी एवं व्यभिचारियों के साथ सहभाव कैसे हो सकेगा। उत्तर। विभाव और अनुभावों की भी वासनात्मकता यहाँ विवक्षित है। यहाँ का भाव यह है कि बाह्य जागतिक दुष्यन्त शकुन्तलादि यहाँ विभाव नहीं है और न बाह्य जागतिक दुष्यन्त शकुन्तलादि की कटाक्ष निक्षेप भुजक्षेप प्रभृति क्रियायें अनुभाव हैं। किन्तु

अभिनवभारती

व्यभिचारिवत् । तेन स्थाय्येव विभावानुभावादिभिरुपचित रसः । स्थायी भवत्वनुपचितः । स चोभयोरपि । [मुख्यया वृत्त्या रामादौ] अनुकार्ये; अनुकर्तर्यपि चानुसन्धानबलात्—इति ।

चिरन्तनानां चायमेव पक्षः । तथा हि दण्डिना स्वालङ्कारलक्षणेऽभ्यधायि ।

"रतिः शृङ्गारतां गता रूपबाहुल्ययोगेन" इति (काव्यादर्शे २।२८१)

"अधिरुह्य परां कोटिं कोपो रौद्रात्मतां गतः ।" (२-२८३) इत्यादि च ।

मधुसूदनी

स्थाय्येवेति अत्र एवकारो भिन्नक्रमः । उपचित एव न तु अनुपचितः स्थायी रसः । ननु यर्हि तथाविध एव स रसः तर्हि अनुपचितस्य अस्य का गतिरित्यत आह—अनुपचितः स्थायी भवतु भावो भवतु । तदुक्तम् ।

रसावस्थः परं भावः स्थायितां प्रतिपद्यते ।
उद्बुद्धमात्रः स्थायी च भाव इत्यभिधीयते । इति च ।

स च स्थायी च उभयोरपि आलम्बनीयालम्बनकर्त्रोरपि अथवा अनुकार्यानुकर्त्रोरपि । तत्र अनुकार्ये मुख्यया वृत्त्या । अनुकर्त्तरि रामादिरूपताया अनुसन्धानबलादिति भेदः ।

"व्यभिचारिणश्च चित्तवृत्त्यात्मकत्वात् यद्यपि न सहभाविनः स्थायिना" इति पाठश्चेत्तत्रेयं समन्वितिः । योग्यविभुविशेषगुणानां स्वोत्तरवर्त्तिगुणनाश्यत्व नियमः । उत्तरस्मिन् गुणे समुत्पन्ने सति पूर्वस्य गुणस्य तेन नाश इति नियमः । एवं हि स्थायिव्यभिचारिणोरान्तरधर्मयोः कथं सहभावोऽर्थात् सहभावो नहि भविष्यति । उत्तरं तु उभयत्र समानमिति ।

बालक्रीड़ा

अभिनय, काव्यशब्द, गीतशब्द एवं चित्र रेखाओं से प्रतीत बौद्ध मनोमय विभाव एवं अनुभाव है अतः चित्तवृत्ति रूप वासनामय होने से सहभाव हो जाता है । दृष्टान्त में भी देखते हैं कि व्यंजनों में कोई स्थायी की तरह वासनात्मक है या कोई व्यभिचारियों की तरह उद्भूत हैं । इससे विभावादिकों से उपचित ही हुआ स्थायी रस है । अनुपचित हुआ तो स्थायी ही है अर्थात् भाव ही होता है । वह स्थायी दोनों में आलम्बनीय एवं आलम्बनकर्ता में रहता है । अथवा अनुकार्य एवं अनुकर्त्ता दोनों में रहता है । अनुकार्य रामादि में मुख्यवृत्ति से साक्षात् रहता है । और अनुकर्त्ता में रामरूपता का अनुसन्धान करने से उपचार से रहता है क्योंकि देखने सुनने वालों को यह नट राम ही मालूम पड़ता है । चिरन्तन आचार्यों का भी यही पक्ष है । जैसा कि दण्डी ने अपने अलंकारलक्षण काव्यादर्श में कहा है कि रूप बाहुल्य के योग से विभावादि के सम्बन्ध से रति शृंगार रस बन गई । पराकोटि उत्कर्ष को प्राप्त हुआ कोप रौद्रस्वरूप हो गया । इत्यादि ।

अभिनवभारती

एतन्नेति श्रीशङ्कुकः। विभावाद्ययोगे स्थायिनो लिङ्गाभावेनावगत्यनुपपत्तेः भावानां पृथक् पूर्वमभिधेयताप्रसङ्गात्। स्थितदशायां लक्षणान्तरवैयर्थ्यात्। मन्दतरतममाध्यस्थ्याद्यानन्त्यापत्तेः। हास्यरसे षोढात्वाभावप्राप्तेः। कामावस्थासु दशस्वसङ्ख्यरसभावादिप्रसङ्गात्। शोकस्य प्रथमं तीव्रत्वं कालात्तनुमान्द्यदर्शनं क्रोधोत्साहरतीनाममर्षस्थैर्यसेवाविपर्यये ह्रासदर्शनमिति विपर्ययस्य दृश्यमानत्वाच्च।

मधुसूदनी

विभावादिभिः सहः स्थायिनः संयोगाभावे स्थायिनो लिंगानि विभावादीनि न स्युः। लिंगाभावे च तैस्तस्यावगतिर्भवतीत्यस्यानुपपत्तिः स्यात्।

यदि विना विभावादियोगं प्रतीतिः स्वीकार्या तदि विभावादिभ्यः पूर्वं भावानां स्थायिनाम्। अभिधेयतायां कथनीयतायाः प्रसंगः स्यात्। ननु ते पूर्वं कथिता अतः स्थिताः पूर्वमिति चेत्तर्हि पूर्वस्थितिदशायां लक्षणान्तरस्य विभावादिरूपलिंगान्तरस्य वैयर्थ्यं स्यात्। ननु पूर्वं ते सूक्ष्मरूपेण अवस्थिता आसन् पश्चात् विभावादिभिः सह संयोगात् ते स्पष्टाः प्राञ्जलाः अभूवन्। अथ च साधारणीकरणादुदासीनाश्चेति चेत्तर्हि मन्दमन्दतरमन्दतमोदासीनस्पष्टस्पष्टतरस्पष्टतमतया आनन्त्यं तेषां स्यात्। ननु भवतु तेषामानन्त्यं तथाह—हास्ये षोढात्वाभावस्य प्राप्तिः। दशसु कामावस्थासु असंख्यानां रसभावानां प्रसंगः स्यात्। अन्यच्च उपचितः पुष्टः स्थायी रस इत्यपि कथनमसंगतं स्यात् यतः शोकस्य प्रथमं तीव्रत्वमुपचितत्वं पश्चात्तनुत्वम्। ननु नात्रैव तत्, क्रोधादिष्वपि विपर्ययस्य दृश्यमानत्वात्।

बालक्रीड़ा

श्रीशंकुक कहते हैं कि यह प्रतिपादन ठीक नहीं है। क्योंकि स्थायी का विभावादि के साथ सम्बन्ध नहीं मानेंगे तो लिंग हेतु के अभाव में उसकी अवगति अनुमिति रूप की उपपत्ति नहीं होगी। यदि विना विभावादि के योग के ही प्रतीति हो सकती है मानेंगे तो स्थायी भावों को पहले कहना पड़ेगा। यदि कहें कि स्थायी भाव पहिले से ही मौजूद है तब लक्षणान्तर करना व्यर्थ है अर्थात् विभावादि का प्रतिपादन करना ही व्यर्थ है। यदि कहें कि पहले सूक्ष्म रूप में था बाद में विभावादि के साथ सम्बन्ध होने पर स्पष्ट प्राञ्जल हो गया और यदि कहें कि साधारणीकरण हो जाने से स्थायी भाव उदासीन है तो इस प्रकार स्थायीभाव का स्वरूप अनन्त मानना पड़ेगा। जैसे——मन्द, मन्दतर, मन्दतम, उदासीन, स्पष्ट, स्पष्टतर स्पष्टतम इत्यादि। इस पर यदि कोई कहे कि स्थायी के अनन्तरूप हो जाने में क्या हानि है। इसके उत्तर में कहते हैं कि हास्य रस को छः प्रकार का आचार्य के द्वारा मानना असंगत हो जायगा। क्योंकि उक्त रीति से वह छः प्रकार का न रह कर अनन्त रूपों वाला हो जायगा। और काम की दश अवस्थाओं में अनन्त स्थायी भावों का सम्बन्ध हो जाने से शृंगारादि रस एवं भाव असंख्य हो जायेंगे। और भी बात है कि विभावादि से उपचित हुआ ही स्थायी रस है यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि शोक पहली अवस्था में ही तीव्र होता है उपचित होता है फिर तो धीरे २ समय पाकर वह सूक्ष्म एवं मन्द होता हुआ दिखाई पड़ता है।

अभिनवभारती

तस्माद्धेतुभिर्विभावाख्यैः कार्यैश्चानुभावात्मभिः सहचारिरूपैश्च व्यभिचारिभिः प्रयत्नार्जिततया कृत्रिमैरपि तथानभिमन्यमानैरनुकर्तृस्थत्वेन लिङ्गबलतः प्रतीयमानः स्थायी भावो मुख्यरामादिगतस्थाय्यनुकरणरूपः। अनुकरणरूपत्वादेव च नामान्तरेण व्यपदिष्टो रसः।

विभावा हि काव्यबलादनुसन्धेयाः। अनुभावाः शिक्षातः। व्यभिचारिणः--कृत्रिमनिजानुभावार्जनबलात्। स्थायी तु काव्यबलादपि नानुसन्धेयः। 'रतिः शोक' इत्यादयो हि शब्दा रत्यादिकमभिधेयीकुर्वन्त्यभिधानत्वेन। न तु वाचिकाभिनयरूपतया-ऽवगमयन्ति। न हि वागेव वाचिकः। अपि तु तया निर्वृत्तः। अङ्गैरिवाङ्गिकः। तेन—

"विवृद्धात्माऽप्यगाधोऽपि दुरन्तोऽपि महानपि।
बाडवेनेव जलधिः शोकः क्रोधेन पीयते॥" इति।

मधुसूदनी

विभावादीनां प्राक् प्रयत्नार्जितत्वमुक्तं तत् स्पष्टयितुमाह—विभावा हीति।

"शोकः क्रोधने पीयते" इति। शोको नाम दुःखजन्मा वैक्लवाख्यश्चित्तवृत्ति विशेषः। परमापराधजन्मा प्रज्ज्वलनाख्यश्चित्तवृत्तिविशेषः क्रोधः। तत्र पूर्वस्या वृत्तेः स्वोत्तरवर्त्तिवृत्तिनाश्यत्वनियमात् तेन स पीयते नाश्यते इति भावः।

बालक्रीड़ा

शोक ही की यह हालत नहीं है किन्तु क्रोध, उत्साह एवं रति के मूल कारण अमर्ष, स्थिरता एवं सेवा (प्रवणता) में विपर्यय हो जाने पर ह्रास देखा जाता है अतः उपचित स्थायी रस होता है यह कथन असंगत हो गया। इसलिए विभाव यानी हेतुओं अनुभाव-कार्यों और सहचारी रूप व्यभिचारियों–जो कि प्रयत्न से अर्जित होने के कारण कृत्रिम होने पर भी कृत्रिम नहीं माने जाते हैं तथा जो अनुमिति के लिंग हैं हेतु हैं—से मुख्य रामादिगत स्थायी के अनुकरण रूप स्थायी भाव की प्रतीति अनुमिति होती है। लिंग से लिंगी की प्रतीति अनुमिति ही है। यही प्रतीयमान स्थायी अनुकरण रूप होने के कारण रस रूप नामान्तर से व्यपदिष्ट किया गया है।

अब विभावादिक किस प्रयत्न से अर्जित किये जाते हैं उसको बतलाते हैं—विभावों का अनुसन्धान काव्य के द्वारा होता है। अनुभावों का नाट्याचार्य की शिक्षा से और व्यभिचारियों का कृत्रिम निज अनुभव के अर्जन के बल से। स्थायी की प्रतीति केवल अनुमान से होती है काव्यादि किसी भी प्रकार से नहीं होती है। रति, शोक एवं उत्साह आदि शब्द से रत्यादिकों का अभिधान है अतः संज्ञा रूप से वे रत्यादिकों को अभिधेय करते हैं कहते हैं। वाचिक अभिनय के रूप से रत्यादिका अवगमन नहीं कराते हैं। यह वाचिक अभिनय नहीं है क्योंकि वाणी ही वाचिक अभिनय नहीं है। अपितु वाणी से सम्पन्न हुआ अभिनय वाचिक है। जैसे अंगों से सम्पन्न हुआ अभिनय आंगिक कहलाता है।

इससे अत्यन्त विस्तृत अगाध एवं जिसका अन्त छोर नहीं दिखाई देता है ऐसे महान् जलधि को जैसे वाडवाग्नि सुखा देती है उसी तरह शोक क्रोध को पी जाता है।

अभिनवभारती

तथा—

"शोकेन कृतः स्तम्भः तथा स्थितो योऽनवस्थिताक्रन्दैः ।
हृदयस्फुटनभयार्त्तैरर्दितुमभ्यर्थ्यते सचिवैः ॥"

इत्येवमादौ न शोकोऽभिनेयः । अपि त्वभिधेयः ।

"भाति पतितो लिखन्त्याः तस्या बाष्पाम्बुशीकरकणौधः ।
स्वेदोद्गम इव करतलसंस्पर्शादेष मे वपुषि ॥" (रत्ना २-११)

इत्यनेन तु वाक्येन स्वार्थमभिदधता उदयनगतः सुखात्मा रतिः स्थायीभावोऽभिनीयते न तूच्यते । अवगमनशक्तिर्ह्यभिनयनं वाचकत्वादन्या । अत एव स्थायिपदं सूत्रे

मधुसूदनी

शोकेनेति । शोकेन यस्य स्तम्भः स्तब्धीभावः संजातः । तथा अवस्थारहितान् आक्रन्दान् कुर्वन् यः स्थितः स उदयनः । हृदयस्य स्फुटनाद्भयं तेनार्त्तैः दुःखितैः सचिवैः । अर्दितुं लावणकात् प्रचलितुं । अभ्यर्थ्यते याच्यते । अत्र अर्द गतौ याचने च इति धातोस्तुमन् प्रत्यये सति "अर्दितुम्" इति प्रयोगः ।

भातीति । वियोगदशायां मनोविनोदार्थं चित्रं लिखन्त्याः किन्तु वियोगासहिष्णुतया दुःखाद्रुदन्त्यास्तस्याः नायिकायाः । चित्रोपरि पतितः बाष्पाम्बुशीकरकणौघः तथा भाति यथा लेखनसमये छविरूपशरीरेण सह तस्याः करतलस्पर्शात् मे वपुषि उद्गत एष स्वेदो भाति ।

अनेनेति । अनेन वाक्येन अभिनीयते इति वाचिकोऽभिनयः सूच्यते । न तु उच्यते रतिशब्देन रतिरभिधानतया न कथ्यते । ननु कुतो न कथ्यते इत्याह—अवगमेति । अत एव अन्यत्वादेव अभिनयनशक्तेः प्राधान्यादेव ।

बालक्रीड़ा

तथा शोक से जो स्तब्ध हो गया है और अनवस्थित चरमसीमारहित आक्रन्दनों से जो जड़ हो गया है । उस उदयन की हृदय के स्फुटित हार्ट के फेल हो जाने के भय से आर्त्त दुःखी मंत्री लोग लावाणक से चलने के लिए प्रार्थना करते हैं । यहाँ अर्द गतौ याचने च इस धातु से तुमुन् प्रत्यय करने पर अर्दितुं बना है । अतः अर्दितुं का अर्थ चलने के लिए है ।

इस तरह के पद्यों में शोक अभिनेय नहीं है । किन्तु अभिधेय है ।

विरह से व्याकुल उस नायिका के आसुओं की बून्दे चित्र लिखते समय चित्र पर गिर कर ऐसी सुशोभित हो रही हैं कि मानों उसके कर के स्पर्श से मेरे शरीर में सात्विक भाव स्वेद का उद्गम हो गया है ।

स्वार्थ को कहने वाले इस वाक्य से उदयनगत सुख स्वरूप रति का अभिनय होता है न कि कथन होता है । अवगमन शक्ति अभिनयन वाचकत्व से अभिधा से भिन्न है । अर्थात् अभिनयन और अभिधा में अन्तर है । क्योंकि अभिनयन व्यंजना स्वरूप है । इसीलिए

अभिनवभारती

भिन्नविभक्तिकमपि नोक्तम् । तेन रतिरनुक्रियमाणा शृङ्गार इति तदात्मकत्वं तत्प्रभवत्वं च युक्तम् । अर्थक्रियापि मिथ्याज्ञानाद् दृष्टा—

"मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्ध्याभिधावतोः ।
मिथ्याज्ञानाविशेषेऽपि विशेषोऽर्थक्रियां प्रति ॥" इति ।

न चात्र नर्तक एव सुखीति प्रतिपत्तिः । न चाप्ययं न सुखीति । नाप्ययमेव राम इति । नापि रामः स्याद्वा न वायमिति । न चापि तत्सदृश इति । किन्तु सम्यङ्मिथ्या-संशयसादृश्यप्रतीतिभ्यो विलक्षणा चित्रतुरगादिन्यायेन यः सुखी रामः असावयमिति प्रतीतिरस्तीति । तदाह—

मधुसूदनी

तदात्मकत्वं तत्प्रभवत्वमित्यत्र तत्पदार्थः अनुक्रियमाणा रतिः । तथात्वं श्रृंगारस्य युक्तम् । ननु तथात्वं श्रृंगारस्य युक्तमित्युक्तिर्न युक्ता । स्वाभाविकात् कृत्रिममन्यदेवेति हेतोः तादृशी रतिर्न वास्तविकी किन्तु कृत्रिमत्वेन मिथ्याभूतैव । तथाभूताया ज्ञानं कथं सुखजनकमित्यत आह—अर्थेति-मिथ्याज्ञानादपि भ्रान्तेरपि अर्थक्रिया प्रमाणीकृतिर्दृष्टा । अर्थक्रियापीति अपिशब्दो भिन्नक्रमः । तेन ।

मणीति । क्व दृष्टा प्रमाणीकृतिरिति दर्शयितुमाह—मणिप्रदीपेति । एकत्र मणिप्रभा दीप्यते अपरत्र प्रदीपप्रभा दीप्यते । वस्तुत इयं मणिप्रभैवेति एकस्तयोः मणिप्रभां मणिं बुद्ध्वा अभिधावति । अन्यः प्रदीपप्रभां मणिं मत्वा धावति ।

बालक्रीड़ा

आचार्य ने रस सूत्र में भिन्न विभक्ति वाले भी स्थायी पद को नहीं कहा । अत एव अनुकरण की गई रति ही श्रृंगार है । इसका अर्थ हुआ कि रतिरूप या रतिजन्य श्रृंगार है यह युक्त है । अर्थक्रिया मिथ्याज्ञान से भी होती है ऐसा देखा गया गया है ।

एक व्यक्ति वस्तुतः यह मणिप्रभा ही है ऐसा नहीं समझ रहा है किन्तु चाकचक्य से मणि समझ कर प्रवृत्ति करता है । दूसरा व्यक्ति प्रदीपप्रभा को मणि समझ कर दौड़ रहा है प्रवृत्ति कर रहा है । दोनों प्रभाओं में मिथ्या ज्ञान भ्रान्ति समान है किन्तु अर्थक्रिया के प्रति विशेष है भेद है । एक को मणि की प्राप्ति होती है । दूसरी तरफ केवल दौड़ना भर है ।

प्रयत्न से सम्पादित होने के कारण कृत्रिम होने पर भी विभावादिकों से स्थायीभाव का अनुमान होता है । यहाँ पर विभावादिकों को मिथ्या बतलाया गया है । इन मिथ्या विभावादिकों से आनन्दानुभूति कैसे होती है इस पर श्री शंकुक कहते हैं कि मिथ्या या सत्य दोनों से काम एक ही प्रकार का होता है जैसे मणिप्रभा एवं प्रदीपप्रभा से । यह मणि प्रदीपप्रभा न्याय है ।

विभावादिकों से दर्शक लोग अभिनेता में रति का अनुमान करते हैं कि यह रतिमान् है । इस तरह जब उसमें रति है तब उसे सुखी होना चाहिए किन्तु वह नर्तक ही है और वह

अभिनवभारती

"प्रतिभाति न सन्देहो न तत्त्वं न विपर्ययः ।
धीरसावयमित्यस्ति नासावेवायमित्यपि ॥
विरुद्धबुद्धिसम्भेदादविवेचितसंप्लवः ।
युक्त्या पर्यनुयुज्येत स्फुरन्ननुभवः कया ॥" इति ।

तदिदमन्तस्तत्त्वशून्यं न विमर्दक्षममित्युपाध्यायाः । तथाहि—अनुकरणरूपो

मधुसूदनी

उभयोरपि मिथ्याज्ञाने विशेषो भेदो नास्ति । किन्तु अर्थक्रियां प्रति फलप्राप्तिं प्रति एकत्र मणिलाभः । अपरत्र केवलमभिधावनम् । इति । विशेषो भेदः । परं तयोः प्रवृत्तिः मिथ्याज्ञानं च समानमेव ।

प्रतिभातीति । किंचिद् वस्तु प्रतिभाति । किन्तु तत्र न सन्देहस्तर्हि मास्तु सन्देहः, तत्वमस्तु, तत्राह—न तत्त्वम् । ननु सन्देहो नास्ति इत्यस्तु असंदेहः । तत्त्वं नास्ति अतत्त्वमस्तु । इत्याह—न विपर्ययः तत्त्वसंदेहयोरभावो विपर्ययोऽपि नास्ति । अथ च अयं प्रत्यक्षेऽनुभूयमानः असौ स इति अपि धीर्नास्ति । अयम् असौ एव इत्यपि धीर्नास्ति । एवमस्तिनास्त्योर्विरुद्धयोर्बुद्ध्योः संभेदात् सम्मिश्रणात् । अविवेचित सम्प्लवः विरोधविवेचनां विना स्फुरन् जायमानः । अनुभवः कया युक्त्या केन हेतुना पर्यनुयुज्येत प्रश्नविषयी क्रियेत ।

तदिदमपि श्रीशंकुकमतमन्तस्तत्वशून्यं क्षोदक्षमरहितमित्युपाध्याया भट्टतौताः ।

बालक्रीड़ा

सुखी है ऐसी प्रतिपत्ति नहीं होती है । और न यही प्रतिपत्ति है कि यह सुखी नहीं है । और न यह प्रतीति है कि यही राम है । और न यह प्रतीति होती है कि यह राम है कि नहीं है । तथा यह भी नहीं कह सकते हैं कि यह राम के सदृश है । किन्तु सम्यक्, मिथ्या, संशय एवं सादृश्य प्रतीतियों से विलक्षण चित्र के घोड़े की तरह जो सुखी राम है वह यही है ऐसी विकल्पात्मिका प्रतीति होती है । जैसा कि कहते हैं कि शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ।

प्रतिभान होता है प्रतीति होती है किन्तु वह सन्देहात्मिका है ऐसा नहीं कह सकते है या वह तत्त्वज्ञान है ऐसा भी नहीं कह सकते हैं और न वह विपर्यय है मिथ्याज्ञान है ऐसा कह सकते हैं । यह वह है ऐसी बुद्धि होती है और यह वह है ऐसी बुद्धि नहीं भी होती है इस तरह बुद्धियों के परस्पर संमिश्रण से विरोध की विवेचना के विना स्फुरित होने वाले अनुभव को किस युक्ति से प्रश्न का विषय बनाया जा सकता है कि क्या यह अनुभव ठीक है क्या यह अनुभव ठीक नहीं है । इत्यादि । श्री शंकुक का मत है ।

यह मत भी अन्तस्तत्त्व शून्य है । विमर्द क्षम नहीं है । विचार विमर्श में ठहर नहीं सकता है । ऐसा उपाध्याय जी का कथन है । रस अनुकरण रूप है ऐसा जो कहा जाता

अभिनवभारती

उत प्रतीत्यभिप्रायेण,

रस इति यदुच्यते तत्किं सामाजिकप्रतीत्यभिप्रायेण, किं वा वस्तुवृत्तविवेचकव्याख्यातृबुद्धिसमवलम्बनेन यथाहुः—"व्याख्यातारः खल्वेवं विवेचयन्ति" इति।

अत्र भतमुनिवचनानुसारेणाद्यः पक्षोऽसङ्गतः। किञ्चिद्धि प्रमाणेनोपलब्धं तदनुकरणमिति शक्यं वक्तुम्। यथा, 'एत्रमसौ सुरां पिबति' इति सुरापानानुकरणत्वेन पयःपानं प्रत्यक्षावलोकितं प्रतिभाति। इह च नटगतं किं तदुपलब्धं यदनुकरणतया भातीति चिन्त्यम्। तच्छरीरं, तन्निष्ठं प्रतिशीर्षकादि, रोमञ्चकाद्गदिकादि, भुजाक्षेपादि, अंगवलनप्रभृति, भ्रक्षेपादि, कटाक्षादिकं, च न रतेश्चित्तवृत्तिरूपतयानुकारत्वेन १

मधुसूदनी

सामाजिकेति। किं सामाजिकाः प्रतियन्ति यदयं नटो रामरतिमनुकरोतीति सामाजिकस्य प्रतीतेः। उत नटोऽभिनयति। अभिनयः कस्यापि वस्तुनः साक्षादिव करणम्। न तु वस्तुतः करणम्।

आद्यः पक्षः "अनुकरणरूपो रसः" इति। प्रमाणेन उपलब्धं प्रत्यक्षीकृतम्। इह अभिनये नटगतं किं तत् उपलब्धम्, यत् अनुकरणतया भाति प्रतीतं भवति। तच्छरीरं तन्निष्ठप्रतिशीर्षकादि क्रियाश्च सर्वं जड़म्। चक्षुषा श्रोत्रेण वा ग्राह्यम्। काश्चित् रोमांचक्रिया अंगे। गद्गदिका कण्ठे। भुजाक्षेपः भुजयोः। एवं भेदः। रतिः प्रेम। सा ज्ञानेच्छादिभ्यो भिन्ना। शकुन्तलारतिमति दुःष्यन्त एव शाकुन्तलं सुखं नान्यस्मिन् दुःष्यन्तभिन्ने राजनि। ज्ञानन्तु शकुन्तलायां द्वेषं कुर्वत्यपि। तेन शकुन्तलाज्ञानिनि तत्सुखं नास्ति इति। प्रेम सिद्धासिद्धयोर्द्वयोरपि। इच्छा तु असिद्धस्यैव वस्तुनः। तत्र शकुन्तला तु सिद्धैव प्राप्तैव। तस्मान्न रतिरिच्छारूपेति।

बालक्रीड़ा

है। वह क्या दर्शक सामाजिक की प्रतीति के अभिप्राय से या अभिनेता नट के अभिप्राय से अथवा वस्तुतत्त्व के विवेचक व्याख्याता की बुद्धि का अवलम्बन करके कहा जाता है जैसा कि कहते हैं कि व्याख्याता लोग ऐसी विवेचना करते हैं।

इनमें पहला पक्ष भरत के वचन के अनुसार असंगत है। जो कुछ प्रमाण से उपलब्ध रहता है पहले से ज्ञात रहता है (बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानम् यह न्यायसूत्र है) उसका अनुकरण होता है। यह कहा जा सकता है। "जैसे वह दूध को पीता है उसी प्रकार यह सुरा को पीता है" यहाँ प्रत्यक्ष देखा हुआ पयः पान सुरापान के अनुकरण के रूप में मालूम पड़ता है। यहाँ नट में किस अंश को आप ने समझा या पाया जो अनुकरण मालूम पड़ता है। स्पष्ट है कि नट में कोई ऐसा तथ्य नहीं है जिससे रस को अनुकरण माना जाय। अतः दर्शक की दृष्टि से माना गया अनुकरण पक्ष चिन्त्य है।

रति आदिक भाव अन्तःकरण की वस्तु है और अनुकरण बाह्य क्रिया है—उसका शरीर, उसकी पगड़ी आदि, रोमाञ्च आदि, गद्गदिका आवाज का भर्रा जाना कण्ठ रुक जाना आदि, भुजा का आक्षेप आदि, अंग का वलन आदि, भ्रू का संचालन आदि, कटाक्ष

अभिनवभारती

कस्यचित्प्रतिभाति। जडत्वेन भिन्नेन्द्रियग्राह्यत्वेन भिन्नाधिकरणत्वेन च ततोऽतिवैलक्षण्यात्। मुख्यामुख्यावलोकने च तदनुकरणप्रतिभासः। न च रामगतां रतिमुपलब्धपूर्विणः केचित्। एतेन रामानुकारो नट इत्यपि निरस्तः प्रवादः।

अथ नटगता चित्तवृत्तिरेव प्रतिपन्ना सती रत्यनुकारः शृङ्गार इत्युच्यते, तत्रापि किमात्मकत्वेन सा प्रतीयत इति चिन्त्यम्। ननु प्रमदादिभिः कारणैः कटाक्षादिभिः कार्यैः धृत्यादिभिश्च सहचारिभिर्लिङ्गभूतैर्या लौकिकी कार्यरूपा कारणरूपा सहचारि-

मधुसूदनी

मनसाभिन्नेन इन्द्रियेण ग्राह्या। अनुकार्यान्तःकरणे एकस्मिन्नधिकरणे तस्याः स्थितिश्च। तच्छरीरादिकं रतेरनुकरणत्वेन कस्यचिदपि न प्रतिभाति। तच्छरीरनिष्ठप्रतिशीर्षकादेरधिकरणं नटः। ततो रामात् नटेऽतिवैलक्षण्यम्।

मुख्यस्य अनुकार्यस्य रामादेः। अमुख्यस्य अनुकर्तुर्नटस्य अवलोकने सति तस्या रतेरनुकरणस्य सामाजिकान् प्रति भासः। उपलब्धपूर्विणः पूर्वत उपलम्भनकारकाः। नटे नटगता प्रेमाख्या चित्तवृत्तिः रतिः। रतेश्चित्तवृत्तिरूपत्वात्।

बालक्रीड़ा

निक्षेपण आदि कोई भी क्रिया चित्तवृत्तिरूप रति के अनुकरण के रूप में किसी को भी नहीं मालूम पड़ती है। उसका कारण है कि ये सब जड़ हैं भिन्न २ इन्द्रियों से ग्राह्य हैं और आश्रयण अधिकरण भी इनका भिन्न २ है।

रति आदि जड़ चित्तवृत्ति रूप हैं, ये एक मन इन्द्रिय से ग्राह्य हैं और इसका एक अन्तःकरण अधिकरण है जिससे उनसे इनमें अत्यन्त वैलक्षण्य है। अतः नट की दृष्टि से माना गया अनुकरण पक्ष भी चिन्त्य है। मुख्य एवं अमुख्य अनुकार्य एवं अनुकरण दोनों को देखने वाला ही व्यक्ति बतला सकता है कि यह अनुकरण है अथवा नहीं। क्योंकि दोनों के देखने पर ही अनुकरण का प्रतिभास हो सकता है अन्यथा नहीं। किन्तु राम की रति को पहिले से जानने वाले कोई भी व्यक्ति नहीं है। क्योंकि त्रेताकालीन राम की रति आज कल कलियुग में देखने को उपलब्ध नहीं है। तब कोई कैसे कह सकते हैं यह अमुक का अनुकरण है। अतः राम के भावों का कार्यों का अनुकारी नट है या राम का अनुकरण नट में है यह प्रवाद भी निरस्त हो गया अर्थात् राम का अनुकरण नट करता है यह कहना असंगत है।

नट की चित्तवृत्ति ही को दर्शक रति का अनुकरण शृंगार समझता है। क्योंकि जब तक चित्त में रति भाव नहीं होगा तब तक अनुकरण नहीं हो सकता है। इस पर प्रश्न होता है कि नट की चित्तवृत्ति को अनुकरण समझने के लिये आधार क्या है। अर्थात् नट में वह रति किस रूप में प्रतीत होती है। अतः यह पक्ष चिन्त्य है। तीसरी अवस्था यह है कि प्रमदादि कारण, कटाक्षादि कार्य, धृत्यादि सहकारी लिंग प्रमाणों से (हेतुरपदेशो लिंगं प्रमाणं करणमित्यनर्थान्तरम् ९।२।४ इस वैशेषिक दर्शन के सूत्र के अनुसार लिंग पद का अर्थ प्रमाण है) जो लौकिक कार्यरूपा, कारणरूपा एवं सहकारी रूपा चित्तवृत्ति प्रतीति के

अभिनवभारती

रूपा च चित्तवृत्तिः प्रतीतियोग्या तदात्मकत्वेन सा नटे चित्तवृत्तिः प्रतिभाति। हन्त तर्हि रत्याकारेणैव सा प्रतिपन्नेति दूरे रत्यनुकरणतावाचोयुक्तिः।

ननु ते विभावादयोऽनुकार्ये पारमार्थिकाः। इह त्वनुकर्तरि न तथेति विशेषः। अस्त्वेवम्। किन्तु ते हि विभावादयोऽतत्कारणातत्कार्यातत्सहचाररूपा अपि काव्य-

मधुसूदनी

रतेरनुकरणतायाः वाचो युक्तिर्दूरे। इदं रहस्यम्। नटस्य स्वकीयं चित्तम्। कारणविशेषाच्च तस्य तत्तद्रत्याकारा वृत्तयश्च। स नटो रामस्य चित्तवृत्तीर्न जानाति। देशकालपात्रावस्थादिभिरन्तरायात्। ज्ञानं विना अनुकरणासंभवः। अतो रामस्य चित्तवृत्तीनामनुकरणं नटः करोतीति दूरे गतम्। इति।

न तथा न पारमार्थिकाः सत्याः अर्थात् अवास्तवाः। इति विशेषो वैलक्षण्यम्। अणुरपि विशेषोऽध्यवसायकारः। इति।

अतत्कारणेति—यद्यपि ते विभायादयस्तस्या रामनिष्ठरत्यादे कारणादिरूपा न तथापि क्रमशः काव्यस्य शिक्षाया निजानुभावार्जनयस्य च बलादुपकल्पिता उपस्थिता। अथवा सामाजिकैः कृत्रिमत्वेन न गृह्यन्ते। यदि कृत्रिमत्वेन गृह्यन्ते तदि तैः कृत्रिमत्वेन गृहीतैस्तैर्विभावादिभिः।

बालक्रीड़ा

योग्य होती है उसी स्वरूप से वह चित्तवृत्ति नट में मालूम पड़ती है। तब तो कहना चाहिए कि नट की ही रति को आप ने समझा अतः रति को अनुकरण कहने की युक्तियाँ दूर हो गई। क्योंकि नट की स्वयं की जो रति चित्तवृत्ति है उसका स्वरूप क्या होगा। आखिर उसको भी तो अन्तःकरण हैं। इसलिए नट की रति को अनुकरण समझना ठीक नहीं है।

यहाँ का सार यह है कि नट के पास उसका अपना चित्त है और कारण विशेष से उसकी तत्तदाकारा वृत्तियाँ भी होती हैं। किन्तु राम की चित्तवृत्तियों को वह जानता नहीं है इसलिए राम की चित्तवृत्तियों का अनुकरण वह कर ही नहीं सकता है और विना जाने अनुकरण करना असंभव है। क्योंकि देश काल एवं अवस्था का नितान्त भेद है।

इस पर कहें कि अनुकार्य राम में विभावादिक पारमार्थिक हैं किन्तु यहाँ इन अनुकर्त्ताओं में वे पारमार्थिक नही हैं यह विशेष है विलक्षणता है। सिद्धान्त है कि (अणुरपि विशेषोऽध्यवसायकरः) थोड़ा भी वैलक्षण्य अधिक में पर्यवसान कर देता है स्थिति को बदल देता है। तब उत्तर देते हैं कि अस्तु यही सही। किन्तु वे विभावादि उस रति के कारण कार्य एवं सहकारी नहीं है। तब भी काव्यानुसन्धान एवं शिक्षा के बल से नट कल्पना करके उन विभावादि को रंगमंच पर कारणादि के रूप में दिखाता है। अब प्रश्न उठता है कि नट के द्वारा कल्पना करके दिखाये गये ये विभावादि कृत्रिम अवश्य है। ऐसी अवस्था में सामाजिक दर्शक लोग उनको कृत्रिम समझते हैं अथवा नहीं अर्थात् स्वाभाविक

अभिनवभारती

शिक्षादिबलोपकल्पिताः कृत्रिमाः सन्तः किं कृत्रिमत्वेन सामाजिकैः गृह्यन्ते न वा। यदि गृह्यन्ते तदा तैः कथं रतेरवगतिः।

नन्वत एव तत्प्रतीयमानं रत्यनुकरणबुद्धेः कारणम्। कारणान्तरप्रभवेषु हि कार्येषु सुशिक्षितेन तथाज्ञाने वस्त्वन्तरस्यानुमानं तावद्युक्तम्। असुशिक्षितेन तु तस्यैव प्रसिद्धस्य कारणस्य। यथा वृश्चिकविशेषाद्गोमयस्यैवानुमानम्। वृश्चिकस्यैव तत्परं मिथ्याज्ञानम्। यत्रापि लिंगज्ञानं मिथ्या तत्रापि न तदाभासानुमानमयुक्तम्। न हि

मधुसूदनी

अत एव कृत्रिमत्वेन गृह्यमाणत्वादेव प्रतीयमानं तद्विभावादिकं कारणादि। तथाज्ञाने कारणान्तरप्रभवत्वज्ञाने। यथा वृश्चिकेति। वृश्चिकस्योत्पत्तिः वृश्चिकात् स्वयोनितः। गोमयात्। जलप्लुतविकृतस्थानाच्च। किन्तुः प्रसिद्धः गोमयोत्पादः। एवं च यथा वृश्चिकविशेषाद् वृश्चिकविशेषं दृष्ट्वा गोमयस्यैवानुमानम्। परं किन्तु तत् अनुमानं मिथ्याज्ञानम्। धूमत्वेन ज्ञातात् अनुकारप्रतिभासमानादपि धूमसदृश-

बालक्रीड़ा

समझते हैं। यदि उनको कृत्रिम समझते हैं तो उनसे रति की अवगति कैसे हो सकती है। अर्थात् अवगति नहीं हो सकती है।

इस पर पुनः शंकुक कहते हैं कि इसलिए (कृत्रिम होने से ही) तो हम उसको अनुकरण कहते हैं। अर्थात् सच या झूठ किसी भी तरह प्रतीयमान हुए ये विभावादि रतिको अनुकरण समझने में कारण हैं। जिससे रति की अनुमिति सामाजिक दर्शक लोग करते हैं यही अनुमिति रस है। ठीक भी है कारणान्तर से उत्पन्न होने वाले कार्यों में सुशिक्षित लोगों को वैसा ज्ञान होने पर वस्त्वन्तर का अनुमान करना युक्त नहीं है क्या अर्थात् युक्त ही है। जैसे धूम से वह्नि का अनुमान होता है। यहाँ कार्य से कारण का अनुमान होता है। इस प्रसिद्धि से लकड़ी की अग्नि से उत्पन्न धूम को देखकर कोयले की अग्नि का भी अनुमान होता ही है। वैसे किसी को लक्ष्य करके किये गये कटाक्ष, भुजाक्षेप एवं मुस्कुराहट से उस लक्ष्य के विषय में उस कटाक्षादि करने वाले की रति को लोग समझ जाते हैं। इसीलिए राम बने हुए नट को लक्ष्य करके किये गये कृत्रिम कटाक्षादि से भी उसके प्रति कटाक्षादि करने वाली नटी की रति प्रतीत होगी ही, क्यों नहीं होगी, वस्तु स्थिति ही ऐसी है। किन्तु जो सुशिक्षित नहीं है उस असुशिक्षित को उसी प्रसिद्ध कारण का ही अनुमान होना उचित है। जैसे विच्छू कई कारणों से उत्पन्न होता है। विच्छू से भी विच्छू पैदा होता है, गोमय से तथा सीड वाली गन्दी जगह से भी विच्छू पैदा होता है। किन्तु गोमय से विच्छू का पैदा होना प्रसिद्ध है और विशेष का जो जानकार नही है वह किसी खास विच्छू को देखकर गोमय का ही अनुमान करता है। फिर भी जब बिच्छू का ज्ञान मिथ्या है तब गोमय का अनुमान युक्त कैसे होगा। अतः जहाँ लिंग का ज्ञान मिथ्या है वहाँ उस मिथ्या लिंग से अनुमानाभास का होना अयुक्त नही है युक्त ही है।

अभिनवभारती

बाष्पाद् धूमत्वेन ज्ञातादनुकारप्रतिभासमानादपि लिङ्गात्तदनुकारानुमाननमयुक्तम्। धूमानुकारत्वेन हि ज्ञायमानान्नीहाराम्नाग्न्यनुकारजपापुष्पप्रतीतिर्दृष्टा।

नन्वक्रुद्धोऽपि नटः क्रुद्ध इव भाति। सत्यम्। क्रुद्धेन सदृशः। सादृश्यं च भ्रुकुट्यादिभिः। गौरिव गवयो मुखादिभिरिति। नैतावताऽनुकारः कश्चित्। न चापि

मधुसूदनी

प्रतीयमानादपि वाष्पात् लिंगात् वह्निसदृशस्यानुमानं युक्तं न अयुक्तमेवेति भावः। हि यतः धूमानुकारत्वेन धूमसदृशत्वेन ज्ञायमानात् नीहाराद् अवश्यायात्। अवश्यायस्तु नीहारस्तुषारस्तुहिनं हिममित्यमरः। अग्न्यनुकारा जपापुष्पप्रतीतिर्नहि दृश्यते तथा नटगतैरपारमार्थिकैर्विभावादिभी रतेरनुकरणात्मिका प्रतीतिर्नहि भविष्यति। फलतः अप्रतीता रती रस इति संगतं नेति।

अक्रुद्धोऽपीति। अयं भावः। अपारमार्थिकैविभावादिभी रतिर्न प्रतीयते इति मान्यताया क आधारः। दृश्यते तु वस्तुतः सर्पाभावेऽपि सर्पत्वेनावलोकिता-द्रज्जुप्रभृतेर्भयकम्पादयो जायन्ते इति। तथैव नाट्यस्य रंगभूमौ क्रोधकारणाभावेन अक्रुद्धोऽपि नटः क्रुद्ध इव प्रतिभाति। इति सत्यम्। किन्तु क्रुद्धो न अपितु भ्रुकुट्या-दिभिः सादृश्यात् क्रुद्धेन सदृशः। इति।

नैतावतेति। एतवता क्रुद्धसदृशप्रतिभासेन। न कश्चिदनुकारः। यतोऽनुकारस्य बीजं सादृश्यमतिः। सा च सादृश्यमतिः सामाजिकानां तत्काले नास्ति। यदि सामाजिकाः प्रतीयुः, अयं नटो रामादीननुकरोति। तत्सदृशान् वेशभूषादीन् परिधत्ते इति। तदि कस्यापि दर्शकस्य नाट्यं द्रष्टुं प्रवृत्तिरेव नोदीयात्। न च

बालक्रीड़ा

धूम रूप से समझे गये वाष्प के धूम सदृश प्रतीत होनें पर भी उससे कभी भी अग्न्य-नुकार तत्सदृश वह्नि का अनुमान युक्त नहीं है। धूम के सदृश प्रतिभासमान नीहार ओस से अग्नि के सदृश जपापुष्प की प्रतीति नहीं होती है। अतः अनुकर्त्ता नट में रहने वाले अपारमार्थिक विभावादि से रत्यादि की प्रतीति नहीं हो सकती है। फलतः अनुक्रियमाणरति को रस मानना संगत नहीं है।

प्रश्न—आपके; अवास्तविक विभावादि से रत्यादि की प्रतीति नही हो सकती हैं इस कहने का आधार क्या है। देखा तो यह है कि वस्तुतः सर्प नहीं है किन्तु सर्परूप से समझी गई रस्सी से भय एवं कम्पा होती है। उसी तरह नाटय की रंगमंच की भूमि में नट क्रुद्ध नही है तब भी क्रुद्ध मालूम पड़ता है। उत्तर। सत्य है। उसे क्रुद्ध नही कह सकते किन्तु क्रुद्ध के सदृश वह भासित होता है। वहां सादृश्य है भौहों की कुटिलता आदि का। जैसे मुख की आकृति आदि से गवय को गो के सदृश मानते हैं। किन्तु सदृश मानने से ही केवल अनुकरण इस को वहां कोई नही कहता है। और न सामाजिकों को सादृश्य की प्रतीति होती है। यदि सामाजिकों को यह प्रतीति होने लगे कि यह नट राम का अनुकरण

अभिनवभारती

सामाजिकानां सादृश्यमतिरस्ति । सामाजिकानां च न भावशून्या नर्तके प्रतिपत्तिरित्युच्यते । अथ च तदनुकारप्रतिभास इति रिक्ता वाचोयुक्तिः ।

यच्चोक्तं रामोऽयमित्यस्ति प्रतिपत्तिः । तदपि तदात्वे वा संततं वा यदि तदात्वे इति निश्चितं तदुत्तरकालभाविबाधकवैधुर्याभावे कथं न तत्त्वज्ञानं स्यात् । बाधकसद्भावे वा कथं न मिथ्याज्ञानम् । वास्तवेद्ध च वृत्ते बाधकानुदयेऽपि मिथ्याज्ञानमेव स्यात् । तेन विरुबुद्धिसंभेदादित्यसत् । नर्तकान्तरेऽपि च रामोऽयमिति प्रतिपत्तिरस्ति । ततश्च रामत्वं सामान्यरूपमित्यायातम् ।

मधुसूदनी

तस्य हृदये भाव एव जागृयात् । न चानन्दमनु भूयात् । किन्तु नास्ति सामाजिकानां दर्शकानां नटे भावशून्या प्रतिपत्तिः । अतस्तदनुकारप्रतिभास इति रिक्ता वाचोयुक्तिरिति ।

तदात्वे तत्काले । तदुत्तरकाले रामोऽयमिति प्रतीत्युत्तरकाले भावी यो बाधकः प्रतिबन्धकः । तस्य वैधुर्यं बाधकाभावः तस्य सद्भावे । बाधकस्यानुदयेऽपि वास्तविके वृत्ते कथानके । आकर्षकोऽभिनयो भवतु इत्येतदर्थं परिवर्त्तनापचयोपचयैर्मिथ्याज्ञानं स्यादेव । तेन मिथ्याज्ञानेन हेतुना । ननु एकस्मिन् कस्मिन् नर्तके विरुद्धबुद्धीनां

बालक्रीड़ा

करता है और इसने राम के जैसा वेश भूषण पहन लिया है । तब तो किसी भी दर्शक की नाटक के देखने में प्रवृत्ति नही होगी । क्योंकि उसको देखने के लिए हृदय में भाव ही नही जागरित होगा । आनन्द नही आवेगा । किन्तु यह कोई नही कहता है कि नर्तक में सामाजिकों की भावशून्य प्रतिपत्ति होती है ।

इस लिए नट रामका अनुकरण करता है ऐसा सामाजिकों को दर्शकों की प्रतिभास होता है ऐसा कहना रिक्त है अर्थात् युक्ति शून्य है असंगत है ।

यह जो आपने कहा कि सामाजिकों को चित्र तुरग न्याय से नट में राम की प्रतीति होती है । उस में प्रश्न होता है कि वह प्रतीति क्या तात्कालिक होती है अथवा वरावर बनी रहती है । उसमें यह तो नही ही कह सकते कि वह प्रतीति बरावर बनी रहती है । यदि कहें कि वह तात्कालिक है और यह निश्चित भी है । क्योंकि उस प्रतीति के उत्तर काल में होने बाधक के वैधुर्य का सद् भाव है अर्थात् उस प्रतीति का बाधक कोई नही है । तब फिर प्रश्न होता है कि यह राम है ऐसा तत्वज्ञान वास्तविक ज्ञान क्यों नही होता । अगर कहें कि बाधक है तो वह मिथ्याज्ञान क्यों नही । और भी बात है कि बाधक के उदय नही होने पर भी वस्तुतः नाटकीय वृत्त कथानक में मिथ्याज्ञान ही होगा । इसलिए "धीरसावयमित्यस्ति नासावेवायमित्यपि" इन परस्पर में विरुद्ध बुद्धियों के सम्मिश्रण से ऐसा होता है यह कहना असत् है । अर्थात् तात्कालिक है ऐसा कहें तो अमुक राम नही है ऐसा एकबार ज्ञान हो जाने पर दूसरे अभिनेता में यह राम है जो प्रतीति होती है वह नही होनी

अभिनवभारती

यच्चोच्यते विभावाः काव्यादनुसन्धीयन्ते इति तदपि न विद्मः। न हि "ममेयं सीता काचित्' इति स्वात्मीयत्वेन प्रतिपत्तिर्नटस्य। अथ सामाजिकस्य तथा प्रतीतियोग्याः क्रियन्त इत्येतदेवानुसन्धानमुच्यते, तर्हि स्थायिनि सुतरामनुसन्धानं स्यात्। तस्यैव हि मुख्यत्वेन 'स्वस्मिन्नयम्' इति सामाजिकानां प्रतिपत्तिः।

नीदसूधुम

सम्भिणमिति वक्तुं शक्येतापि किन्तु भिन्ने २ नर्तकेऽपि रामोऽयमिति प्रतिपत्तिर्भवति। ततश्च एतादृशप्रतिपत्तिहेतोश्च। सर्वेष नर्त्तकेषु रामत्वं सामान्यरूपं सर्वेषु घटेषु सम्भृतघटत्वजातिवत् आयातम्।

तदपि काव्यबलादनुसन्धानं ज्ञानमपि। ननु कुतो न भवन्तो विदन्ति इत्यत आह—नहीति। ममेयं सीता काचिदिति प्रतिपत्तिः स्वात्मीयत्वेनानुसन्धानं नटस्य नहि भवति। अथेति पक्षान्तरे। ननु मा भवतु नटस्य तथानुसन्धानं किन्तु सामाजिकस्य तथा प्रतीतियोग्याः "ममेयं सीता काचित्" इति स्वात्मीयत्वेन प्रति-पत्तुमर्हाः क्रियन्ते इति एतदेवानुसन्धानमस्माभिरुच्यते यदि। तर्हि ममेयं रतिरिति स्थायिविषये अनुसन्धानं सुतरां स्यात्। तस्यैव स्थायिन एव "स्वस्मिन् दुष्यन्तत्त्वाव च्छादिते आत्मनि अयं स्थायी" इति मुख्यरूपेण सामाजिकानां प्रतिपत्तिः स्यात्। परं तथा प्रतिपत्तिर्नहि भवति। व्रीडाजुगुप्सादयः स्युस्तथाप्रतिपत्तौ।

बालक्रीड़ा

चाहिए किन्तु होती है। इसलिए 'है" "नही" ये बुद्धियां विरुद्ध हैं इनका यहां सम्भेद है यह कहना असमीचीन है। काल भेद से एवं क्रिया भेद से सब होता ही है कोई विरोध नही है। अतः दूसरे अभिनेता में भी "यह राम है" ऐसी प्रतिपत्ति हो सकती है तब रामत्व सामान्य रूप है यही सिद्ध हुआ अर्थात् इस प्रकार राम अनेक है यह प्रतीति हो जाय किन्तु रामत्व एक ही है। हाँ उसके कार्य कलाप और उसके भाव भले अनंत हो जाँय। इसलिए नट में किसी विशेष रामकी प्रतीति आप नही कर सकते हैं।

अर्थात् विरुद्ध बुद्धियों के सम्भेद के कारण जिसका संप्लव प्रसरण विवेचना रहित है उस स्फुरित होने वाले अनुभव को किस युक्ति से पर्यनुयोग प्रश्न का विषय बनाया जाय यह राम है क्या ? अथवा राम नही है क्या ? इत्यादि। किन्तु तब भी दूसरे अभिनेता नर्तक में भी यह राम है ऐसी प्रतिपत्ति होती है। इससे यह आया कि रामत्व एक सामान्य रूप है जैसे घटत्व एक प्रतिघट निष्ठ धर्म है और सामान्य लक्षण प्रत्यासत्ति से घटत्वेन यावद् घटों का बोध करा देता है उसी तरह रामत्व भी जितने राम हैं चाहे वे आरोप के विषय हों अथवा वस्तुतः राम हों उन सब का सामान्य धर्म है। जिसके फ़ल स्वरूप सभी नर्तकों में रामत्व की प्रतीति अबाधरूप से होती है।

यदि आप कहें कि विभावादिक का अनुसन्धान काव्य से एवं शिक्षा से करते हैं वह भी ठीक नही है। क्योंकि मेरी यह सीता है ऐसी प्रतीति आलोचना नट को कभी हो ही

अभिनवभारती

यत्तु 'वागेव वाचिकः' इत्यादिना भेदाभिधानसंरम्भगर्भमहीयानभिनयरूपताविवेकः कृतः स उत्तरत्र स्वावसरे(ना. शा. अ-१४)चर्चयिष्यते। तस्मात्सामाजिकप्रतीत्यनुसारेण स्थाय्यनुकरणं रस इत्यसत्।

न चापि नटस्येत्थं प्रतिपत्तिः 'रामं तच्चित्तवृत्तिं वाऽनुकरोमि' इति। सदृशकरणं हि तावदनुकरणमनुपलब्धप्रकृतिना न शक्यं कर्तुम्। अथ पश्चात्करणमनुकरणं

मधुसूदनी

यत्त्विति। नहि वागेव वाचिकः, अपितु यथा अंगेन निर्वृत्तः सम्पन्नः आंगिकः भवति तथा वाचा निर्वृत्तः सम्पन्नः वाचिकोऽभिनयः। एवं यः भेदेन अभिधाने कथने संरंभ उद्योगः स गर्भे यस्य तादृशो यो महीयान् अभिनयरूपताया विवेकः कृतः। स्वावसरेऽभिनयानां स्वरूपलक्षणनिरूपणसमये।

अनुपलब्धप्रकृतिना पूर्वं कथञ्चिदपि देशकालपात्रसान्तरायतया अज्ञातस्वभावेन नटेन सदृशकरणरूपमनुकरणं कर्तुं न शक्यम्। अथेति पक्षान्तरे। सदृशकरणमनुकरणं मास्तु पश्चात्करणरूपमनुकरणं स्यात्। यदि तथा स्यात् तर्हि लोकेऽपि लोकवृत्तेऽपि न केवलं नाट्ये। तथात्वे तु अतिव्याप्तिः स्यात् अनुकरणलक्ष्यं नाट्यं विहाय अलक्ष्ये लोके अनुकरणात्मतया अतिप्रसक्तिः स्यादिति भावः। अथेति अपि चेत्यर्थे। अपि च यदि नियतस्य कस्यचिद् व्यक्तिविशेषस्य अनुकारो नहि भवति।

बालक्रीड़ा

नही सकती है। यदि यह कहा जाय कि नट अपनी चतुराई से ऐसा अभिनय करता है कि सामाजिकों को ऐसा समझने के लिए विवश कर देता है अर्थात् सामाजिक ऐसा समझने के लिये विवश हो जाते हैं। और इसी विवश होकर समझने को अनुसन्धान कहते हैं। तो कहना होगा कि वह अनुसन्धान वह प्रतीति विभावादि के विषय में नही हो सकती है किन्तु स्थायी के विषय में हो सकती है। क्योंकि विभावादि तो सामने उपस्थित ही रहते हैं अनुसन्धान गवेषणा दृष्टिपथातीत पदार्थ की होती है। इसलिए स्थायी के विषय में अनुसन्धान हो सकता है वही मुख्य है। इसी मुख्यता के बदौलत मुझ अमुक में यह अमुक भाव है यह सामाजिकों की प्रतिपत्ति होनी चाहिये किन्तु वैसा होने पर व्रीडादि होने लगेंगे। वाक् ही वाचिक नही है किन्तु वाक् से निर्वृत्त सम्पन्न वाचिक है ऐसे भेद के कहने के लिए जो संरंभ उद्योग है वह है गर्भ में जिसके ऐसा जो बड़ा भारी अभिनय की रूपता का स्वरूपनिष्ठा का विवेक किया है उसकी चर्चा अभिनयों के निरूपण के अवसर में करेंगे। इसलिए सामाजिक की प्रतीति के अनुसार स्थायी का अनुकरण रस है यह सब असत् है ठीक नही है।

और भी सिद्धान्त है कि सदृशकरण का नाम अनुकरण है। इसलिए भी रस अनुकरण रूप नही है। नट को ऐसी बुद्धि नहीं होती है कि मैं अमुक व्यक्ति का राम का अथवा राम की चित्तवृत्तियों का अनुकरण करता हूं। क्योंकि अनुकरण शब्द का अर्थ जो सदृश करण है वह सदृशकरण राम की अनुकार्य कीं प्रकृति स्वभाव की उपलब्धि ज्ञान के

अभिनवभारती

तल्लोकेऽप्यनुकरणात्मतातिप्रसक्ता। अथ न नियतस्य कस्यचिदनुकारः अपि तूत्तम-प्रकृतेः शोकमनुकरोति, तर्हि केनेति चिन्त्यम्। न तावच्छोकेन, तस्य तदभावात्। न चाश्रुपातादिना शोकस्यानुकारः, तद्वैलक्षण्यादित्युक्तम्। इयत्तु स्यात्- उत्तमप्रकृतेर्ये शोकानुभावाः ताननुकरोमीति। तत्रापि कस्योत्तमप्रकृतेः। यस्य कस्यचिदिति चेत्सोऽपि विशिष्टतां विना कथं बुद्धावारोपयितुं शक्यः। य एवं रोदितीति चेत्स्वात्मापि मध्ये नटस्यानुप्रविष्ट इति गलितोऽनुकार्यानुकर्तृभावः।

किञ्च नटः शिक्षावशात्स्वविभावस्मरणाच्चित्तवृत्तिसाधारणीभावेन हृदय-संवादात्केवलमनुभावान्प्रदर्शयन् काव्यमुपचितकाकुप्रभृत्युपस्कारेण पठंश्चेष्टत इत्ये-

मधुसूदनी

अपितु उत्तमप्रकृतेः। केन साधनेन शोकमनुकरोति। तस्य शोकस्य तदभावात् उत्तमप्रकृतेः शोकस्य नटेऽभावात्। अश्रुपातादिना साधनेन शोकस्यानुकारो नहि भवति। कुत एतदित्याह—तद्वैलक्षण्यात् अनुकार्यस्य शोकः अनुकर्तृशोकाद् विलक्षणः। इति प्रागुक्तम्।

नटेभ्यस्तादृशी शिक्षा प्रदीयते यया अभिनयवेलायां मध्ये स्वकीयनायिकारूप-विभावः स्मर्यते तेन। काकुप्रभृतेरुपस्कारः सहयोगः। तेन पठन् चेष्टते अभिनयं करोति। तथा पठतश्चेष्टामात्रेऽस्य नटस्य प्रतीतिरनुकारं न वेदयते प्रत्याययति।

बालक्रीड़ा

(बुद्धिरूपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम् न्याय सूत्र. १।५) विना नही हो सकता है। यदि अनुकरण का अर्थ करें कि जो पीछे किया जाय तो संसार मात्र अनुकरण रूप हो गया। इसके सिवाय अनुकरण किसी अनियत व्यक्ति का नही होता है किन्तु उत्तम प्रकृति वाले किसी प्रधान व्यक्ति के कार्य का अनुकरण होता है जैसे उसके शोक का अनुकरण कोई करता है तब विचार होता है चिन्ता होती है कि वह शोक का अनुकरण कैसे करेगा। अगर कहें कि शोक का अनुकरण शोक से करता है। तो ठीक नही है। क्योंकि शोक का शोक से अनुकरण नही हो सकता है। यदि कहें कि शोक का अनुकरण अश्रुपात वगैरह से करेंगे, वह तो जब अपने में ही अपनी वस्तुओं का भेद वैलक्षण्य होता है तब दूसरों की वस्तुओं में भेद होना स्वाभाविक ही है। यह कहा जा चुका हैं। शायद इतना हो सकता है कि उत्तम प्रकृति के शोक के जो अनुभाव हैं कार्य हैं उनका अनुकरण मैं करता हूँ। तो किस उत्तम पुरुष का जिस किसी का यह कह नही सकते हैं। क्योंकि जब तक किसी विशिष्ट नियत व्यक्ति का निर्देश नही करेंगे तबतक विशिष्टता के विना वह कार्य बुद्धि में आरूढ़ नही होगा। यदि किसी विशिष्ट व्यक्ति का नाम लेगें कि जो ऐसे रोदन करता है तो नट भी एक विशिष्ट व्यक्ति है वह भी रो सकता है रोता है। इस प्रकार जब नट अपनी ही वस्तु का प्रदर्शन कर रहा है तब वहां अपने में एक में अनुकार्य एवं अनुकर्त्ता का भाव नही हो सकता है। तब कहना चाहिए कि अनुकार्यानुकर्तृभाव गलित हो गया।

अभिनवभारती

तावन्मात्रेऽस्य प्रतोतिर्नत्वनुकारं वेदयते। कान्तवेषानुकारवद्धि न रामचेष्टितस्यानुकारः। एतच्च प्रथमाध्यायेऽपि दर्शितमस्माभिः। नापि वस्तुवृत्तानुसारेण तदनुकारत्वम्। अनुसंवेद्यमानस्य वस्तुवृत्तत्वानपपत्तेः। यच्च वस्तुवृत्तं तद्दर्शयिष्यामः। न च मुनिवचनमेवंविधमस्ति क्वचित् "स्थाय्यनुकरणं रसा" इति। नापि लिङ्गमत्रार्थे मुनेरुपलभ्यते। प्रत्युत ध्रुवागानतालवैचित्र्यलास्याङ्गोपजीवननिरूपणादि विपर्यये

मधुसूदनी

रामस्य यथा कान्तो वेशः कान्ता भूषा तथा नटः परिधत्ते। एवं रामसम्बन्धिकान्तवेषपरिधानानुकारवत् रामचेष्टाया अनुकारो कर्त्तुं न शक्यः। एतच्च अनुकरणाशक्यत्वं च।

अनुसंवेद्यमानस्य वस्तुवृत्तानुसारेण संवेद्यमानस्य ज्ञायमानस्य इतिवृत्तस्य वस्तुतो वृत्तत्वस्यानुपपत्तेः। शकुन्तलादेर्यद् वृत्तं महाभारतादिषु वर्त्तते तत्त् न नाट्ये। तादृशं तु स्यात्। ततश्च कीदृशं वृत्तमित्यत आह—यच्च वस्तुतो वृत्तं तत् दर्शयिष्यामः स्वावसरे निरूपयिष्यामः।

बालक्रीड़ा

और भी बात है कि शिक्षा के बल से अभिनय करने के समय में अपनी ही नायिका रूप विभाव का स्मरण करके हृदय के संवाद से साधारणीभूत चित्त वृत्तियों से सम्पन्न नट केवल अपने अनुभावों का प्रदर्शन करता है और उपचित अर्थात् अभ्यास से परिपुष्ट तात्कालिकाभिनय के समुचित काकुप्रभृति स्वर से काव्य को पढ़ता हुआ रंग मंच पर चेष्टा करता है अभिनय करता है तो केवल इतनी चेष्टायें उसके अनुकार का बोध नही कराती है अर्थात् अनुकरण समझने की प्रेरणा नही देती है। राम के कान्त मनोहर वेष का अनुकार जैसे वह नट कर लेता है वैसे राम की चेष्टा का अनुकार नही कर सकता है। इस तथ्य को हम प्रथम अध्याय में भी दिखला चुके हैं। इसके सिवाय वस्तु वृत्त के अनुसार भी अर्थात् जैसा कथानक रामायण वगैरह में वर्णित है उसी वास्तविक कथानक का अनुसरण कवि एवं नट करते हैं इस तरह से भी राम को चेष्टा का अनुकार नही है। क्योंकि अनुगत संवाद का जो विषय है वह वास्तविक वृत्त उपपत्तियुक्त नही हो सकता है। यहाँ का भाव यह है कि संवाद वह पदार्थ है जहाँ अन्य वस्तु के साथ सादृश्य हो वह सादृश्य जैसे बिम्ब का सादृश्य प्रतिबिम्ब में होता है।

यह प्रतिबिम्बवत् संवाद तात्विक शरीर से शून्य है अतः युक्ति संगत वस्तुवृत्त कथानक नहीं है। प्रश्न—ऐसी स्थिति में तो सभी काव्यों श्रव्य दृश्य एवं पठ्य में वृत्त युक्तिसंगत नहीं होगा। क्योंकि सभी में संवाद है। उत्तर—जो वस्तु वृत्त है उसको आगे दिखायेंगे। अनुगत संवेदनीय या अनुगत संवादनीय कथानक एक ही है। स्थायी का अनुकरण रस होता है ऐसा कहीं पर कोई मुनिवाक्य भी तो नहीं है। और न कोई इस विषय में मुनि का दिया हुआ या लिखा हुआ लिंग हेतु ही मिलता है। प्रत्युत इसके विपरीत ध्रुवा,

अभिनवभारती

लिङ्गमिति सन्ध्यङ्गाध्यायान्ते वितनिष्यामः। 'सप्तद्वीपानुकरणम्' (ना. शा. १-११७) इत्यादि त्वन्यथापि शक्यगमनिकमिति। तदनुकारेऽपि च क नामान्तरं कान्तवेषगत्यनुकरणादौ।

यच्चोच्यते वर्णकैर्हरितालादिभिः संयुज्यमान एव गौरित्यादि। तत्र यद्यभिव्यज्यमान इत्यर्थोऽभिप्रेतः। तदसत्। न हि सिन्दूरादिभिः पारमार्थिको गौरभिव्यज्यते प्रदीपादिभिरिव। किन्तु तत्सदृशः समूहविशेषो निर्वर्त्यते। अत एव हि सिन्दूरादयो गवावयवसन्निवेशसदृशेन सन्निवेशविशेषेणावस्थिता गोसदृगिति प्रतिभासस्य विषयः। नैवं विभावादिसमूहो रतिसदृश इति प्रतिपत्तिग्राह्यः। तस्माद्भावानुकरणं रसा इत्यसत्।

मधुसूदनी

तत्र हरितालादिवर्णकानां संयोगे गौरभिव्यज्यमानो भवति इति अर्थो यदि अभिप्रेतः। तदभिप्रयणमसत्। अंगसमूहविशेषः।

बालक्रीड़ा

गान एवं ताल का वैचित्र्य तथा लास्य के दश अंगों के उपजीवन का निरूपण स्थायी के अनुकरण को रस मानने के विपर्यय में विरोध में लिंग है प्रमाण है। इसको हम नाटकादि की संधियों के अंगों का निरूपण करनवाले अध्याय के अन्त में विस्तृतरूप से कहेंगे। अगर कहें कि सप्तद्वीपानुकरणम्" इत्यादि मुनि का वाक्य मिलता है कि यह नाटच सप्तद्वीप का अनुकरण स्वरूप है। तब उत्तर देते हैं इसकी गमनिका योजना संगति तो अनुव्यवसाय या अनुकीर्तन रूप अन्य प्रकार से भी हो सकती है। और यह भी बात है कि इस तरह नाटच को सप्तद्वीप का अनुकरण मान लें तो फिर यह राम के कान्त वेष एवं भूषण का अनुकरण है यह राम की गति का अनुकरण है ऐसे-ऐसे भिन्न-भिन्न नामों को संकेतों को दिखाने का कहाँ अवसर है और यदि भिन्न-भिन्न दो पदार्थ हों तो एक का नाम अनुकरणीय दूसरे का नाम अनुकरण कर्त्ता हो सकता है। इसके अनुसार स्वतः अनुकरण पदार्थ मिल जाता किन्तु ऐसे नाम का अवसर नहीं है जब कि सम्पूर्ण वस्तुमात्र अनुकरण स्वरूप है।

यदि कथंचित् शुद्ध अनुकरण ही अर्थ मान लिया जाय तब भी राम का या राम की चित्तवृत्तियों का अनुकरण तो कथमपि संभव कहीं है।

जो तो हरिताल आदि वर्णों से संजोय दिया गया संयुक्त कर दिया हुआ ही गौ है इत्यादि कहते हैं। वहाँ पर यदि अभिव्यज्यमान यानी हरिताल वगैरह से गौ अभिव्यक्त होती है यह अर्थ अभिप्रेत हो तो वह असत् है। क्योंकि अन्धकार के कारण अनभिव्यक्त परमार्थिक गौ प्रदीपादि से जैसे अभिव्यक्त हो जाती है उस तरह सिन्दूरादि वर्णों से परमार्थिक गौ अभिव्यक्त नहीं होती है। किन्तु उन पदार्थों से उसके जैसे अवयवों का समूह विशेष निर्वतित हो जाता है बन जाता है अतएव सिन्दूर एवं हरिताल वगैरह ही गौ के अवयवों के सन्निवेश के जैसे सन्निवेश रचना विशेष में अवस्थित हुए गौ के जैसे मालम पड़ते हैं।

अभिनवभारती

येन त्वभ्यधायि—सुखदुःखजननशक्तियुक्ता विषयसामग्री बाह्यैव। साङ्ख्यदृशा सुखदुःखस्वभावो रसः। तस्यां च सामग्र्यां दलस्थानीया विभावाः। संस्कारकाः अनुभावव्यभिचारिणः। स्थायिनस्तु तत्सामग्रीजन्या आन्तराः सुखदुःखस्वभावा इति। तेन 'स्थायिभावान् रसत्वम्' इत्यादावुपचारमङ्गीकुर्वता ग्रन्थविरोधं स्वयमेव बुध्यमानेन दूषणाविष्करणमौर्ख्यात् प्रामाणिको जनः परिरक्षित इति किमस्योच्यते। यत्त्वत्यन्तं नः प्रतीतिवैषम्यप्रसङ्गादि, तत्कियदत्रोच्यताम्।

मधुसूदनी

सांख्यदृशा सर्वे पदार्थाः सुख दुःख स्वभावा इति रसोऽपि तत्स्वभाव इति। तस्यां विषयसामग्र्याम्। दलपदेनात्र दालेति ख्यातं द्रव्यं ग्राह्यम्।

उपचारमिति। रसस्तु रसनेन्द्रियग्राह्यो गुणः। स्थायी रत्यादिश्चित्तवृत्तिविशेषः। तर्हि स्थायिभावान् रसत्वमुपनेष्याम इति कथनमौपचारिकमित्येवमुपचारं स्वीकुर्वतः। दूषणानामाविष्करणेन मूर्खता प्रतीता स्यात्। तस्य तादृशमौर्ख्यप्रत्यायकः कश्चिद् विद्वानेव स्यात्। यदा तेन स्वयमेव स्वकीयो दोषो बुद्धस्तदा अन्येन किमर्थं तस्य दोष आविष्करणीयः। इति प्रामाणिको जनः तादृशमौर्ख्यात् परिरक्षित इति भावः।

बालक्रीड़ा

उस प्रकार विभावादि समूह रति के जैसा नहीं मालूम पड़ता है। इसलिए भावों का अनुकरण रस है यह कहना असत्। यहाँ का तत्त्व यह है कि जैसे गौ आदि भाव है पदार्थ हैं हरिताल आदि लाल पीले पदार्थ हैं उसी तरह विभाव आदि भी पदार्थ है भाव हैं रति आदि भी भाव हैं पदार्थ है। और जैसे हरिताल आदि भावों से गौ आदि भाव बन जाते हैं उसी तरह विभाव आदि भावों से रति आदि भाव बन जाते हैं अतः भावों का सदृशकरण ही रस है यह प्राप्त हुआ किन्तु यह आभास मात्र है वस्तु स्थिति नहीं है।

सांख्य की दृष्टि से जो किसी ने कहा कि रस सुख एवं दुःख स्वभाव वाला है। और सुख एवं दुःख की जननशक्ति से युक्त विषयसामग्री बाह्य ही है।

आधेय संस्कार भूत पदार्थ हैं दाल में हींग एवं जीरे का छौंक और उसके बाद संस्कृत दाल से अनुभूयमान आनन्द है। उस सामग्री में दाल के स्थान में पदार्थ विभावादि हैं। संस्कारक है अनुभाव एवं व्यभिचारी। स्थायी भाव विभावादि सामग्रीजन्य आन्तरिक सुख दुःख स्वभाव वाले हैं। इससे स्थायी भावों को रस बनायेंगे इत्यादि में उपचार लक्षणा का स्वीकार करने वाले ने स्वयं ग्रन्थ विरोध को समझकर जिसने दूषणों के आविष्करण की मूर्खता से प्रामाणिकजन की परिरक्षा करली या करदी है उस के विषय में क्या कहा जाय। जो तो हम लोगों को प्रतीतियों में अत्यन्त वैषम्य का प्रसंग उपस्थित होता है उसको यहां क्या कहें।

अभिनवभारती

भट्टनायकस्त्वाह—रसो न प्रतीयते। नोत्पद्यते। नाभिव्यज्यते। स्वगतत्वेन हि प्रतीतौ करुणे दुःखित्वं स्यात्। न च सा प्रतीतिर्युक्ता। सीतादेरविभावत्वात् स्वकान्तास्मृत्यसंवेदनात्। देवतादौ साधारणीकरणायोग्यत्वात्। समुद्रलङ्घनादेर-

मधुसूदनी

देवतादौ साधारणीकरणायोग्यतायां हेतुमाह—समुद्रेति। असाधारण्यात् साधारणभावोन्नयनस्यासंभवात्। तद्वतः समुद्रलंघनादिमतः। अनुपलब्धत्वात् स्मृतेः संस्कारजन्यत्वात्। संस्कारस्य अनुभवाधीनत्वात्। अनुभवस्य प्रागभावात् अनुपलब्धिरेवेति भावः। शब्दात् काव्यातिरिक्तशब्दात् स समुद्रं लंघयमासेति रूपात्, अथवा अनुमानात्, आदिशब्दग्राह्यसम्भावनादिभ्यश्च। तत्प्रतीतौ

बालक्रीड़ा

भट्टनायक तो कहते हैं कि रस न तो प्रतीत होता है अर्थात् न वह अनुमिति का विषय अनुमित होता है। न उत्पन्न होता है और न अभिव्यक्त होता है। यहां का रहस्य यह है कि आँख, कान, नाक, जिह्वा एव त्वचा इन पाचों इन्द्रियों के साथ विषय का सम्बन्ध नही होता है तब भी तो विषय की प्रतीति होती है जैसे वह्नि के साथ किसी इन्द्रिय का सम्बन्ध नही होता है तब भी उसकी प्रतीति होती है।

इस प्रतीति को यदि अनुमिति कहते हैं। तब सब व्यर्थ है। क्योंकि जैसे वह्नि की अनुमिति हो गई कि वह्नि है ऐसा जान गये किन्तु इस वह्नि से रोटी नहीं पका सकते हैं, न शीतबाधा से बचने के लिए ताप मिल सकता है। उसी तरह रति की अनुमिति करने पर भी अनुमाता को क्या लाभ हो सकता है। और यदि इस प्रतीति को अनुभव मानते हैं तब भी ठीक नहीं है, क्योंकि अनुभव तो व्यक्तिगत होता है। और अपना अनुभव मानने पर रस आनन्द रूप है यह सिद्धान्त ही कट जायगा। क्योंकि करुण में (दुःखित्व दुःखी का धर्म) दुःख होगा, बीभत्स में घृणा होगी, भयानक में भय होगा। अतः स्वानुभव रूपा प्रतीति को मानना युक्त नहीं है। क्योंकि स्वभावो दुरतिक्रमः। किसी पदार्थ के स्वधर्म को नहीं बदला जा सकता है। दुःखजनक पदार्थ से दुःख ही, भयजनक से भय ही मिलेगा। यदि रस उत्पन्न होता है जैसे आटा घी चीनी के मेल से बनी हुई मिठाई से मजा आता है उसी तरह शब्दों की योजना से बने हुए काव्य से या स्टेज पर खिलाड़ियों को जुटा कर किये गये खेल से आनन्द मिलता है तो वह भी ठीक नहीं। क्योंकि शब्द से उपस्थित या स्टेज पर जुटाये गये खिलाड़ी राम सीता के रूप में आये हुए व्यक्ति विभाव नहीं हो सकते हैं। अर्थात् प्रत्येक दर्शक सामाजिक के लिए आलम्बन एवं उद्दीपन विभाव नहीं बन सकते हैं। यदि कहें कि उस समय में सबको अपनी-अपनी कान्ता की स्मृति हो आती है। और आनन्द आने लगता है। तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि स्मृति के लिए प्रथम अनुभव की आवश्यकता है किन्तु ऐसा संवेदन अनुभव पहले कभी हुआ नहीं है। और न ऐसा हो सकता ह। यदि कहते हैं कि जैसे अध्यापक कक्षा में पढ़ाता है और कक्षा के सभी छात्रों के लिए समान रूप से वह अध्यापन सब के लिए कार्यकारी होता है या

अभिनवभारती

साधारण्यात्। न च तद्वतो रामस्य स्मृतिः। अनुपलब्धत्वात्। न च शब्दानुमानादिभ्यः तत्प्रतीतौ लोकस्य सरसताऽपि युक्ता, प्रत्यक्षादिव नायकयुगलकावभासे हि प्रत्युत लज्जाजुगुप्सास्पृहादिस्वोचितचित्तवृत्त्यन्तरोदयव्यग्रतयाकाशरसत्वमथापि

मधुसूदनी

समुद्रलंघनादिमतो रामस्य प्रतीतौ लोकस्य सरसता न युक्ता। प्रत्यक्षाद्वा साक्षाद्वा नायकयुगलकस्य दम्पत्योरवभासे प्रतीतौ लज्जारूपस्य व्यभिचारिणः स्वोचितस्य महापुरुषानुकूलस्य वृत्त्यन्तरस्य उदयव्यग्रतया भावध्वनिः। जुगुप्सारूपस्थायिभावस्य स्वोचितस्य संन्यासियोग्यस्य उदयव्यग्रतया बीभत्सरसः। स्पृहारूपस्य संचारिणः स्वोचितस्य कुत्सितपुरुषयोग्यस्य वृत्त्यन्तरस्य उदय व्यग्रतया भावः। इत्येवं निश्चयाभावादाकाशरसत्वं शून्यत्वमथापि स्यात्। तत्तस्मात्। शब्दानुमानसंभावनाप्रत्यक्षादिभ्यस्तादृशी रसस्य प्रतीतिर्नानुभवस्मृतिशाब्दरूपा युक्ता। प्रतीतिपक्षवत् उत्पत्तिपक्षेऽपि एतद् दूषणं तुल्यम्। शक्तिरूपत्वेनेति। मीमांसकमतानुसारं कार्यजननानु-

बालक्रीड़ा

कोई भाषण देता है वह सबके लिए साधारण होता है। उसमें प्रति व्यक्ति के साथ उन शब्दों से उपस्थापित अर्थों का सम्बन्ध साधारण रूप से हो जाता है। इसका उत्तर देते हैं कि रति के प्रसंग में देवताओं के विषय में यह साधारणीकरण योग्य नहीं है। क्योंकि वहाँ मातृपितृभाव पूज्यभाव इसका बाधक हो जाता है। यदि कहें कि "जाकी रही भावना जैसी प्रभु मूरत तिन देखी तैसी" जिससे मल्लानामशनिर्नृणां नटवरः, स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्। यह महाभागवत व्यास जी का कथन भी संगत होता है। अतः साधारणीकरण होने में क्या बाधा है। तब कहते हैं साधारण जनता के लिए समुद्र लंघनादि भाव साधारण नहीं हो सकते हैं। यदि कहें कि समुद्र लंघन करते हुए हनुमान् जी की या सीता के प्रेम में विभोर राम की या राम के प्रेम में विभोर सीता की स्मृति उस समय साधारण रूप से हो जायगी तब भी ठीक नहीं। क्योंकि इसका उत्तर पहले ही दे दिया गया है कि स्मृति के लिए प्रथम अनुभव उस वस्तु का होना चाहिए जिसकी स्मृति होती है प्रकृत में समुद्र लंघन करते हुए हनुमान् जी का या उस अवस्था वाले राम सीता का पहले कभी अनुभव नहीं हुआ है।

यदि कहें कि काव्यव्यतिरिक्त शब्द से या अनुमान से ऐसी प्रतीति हो जाती है तब भी ठीक नहीं है क्यों कि प्रत्यक्ष आखों से देखने पर जैसा आनन्द आता है वैसी सरसता जनता को शब्द या अनुमान से नहीं आती है। बल्कि इसके विपरीत कि नायक एवं नायिका का मिलन स्टेज पर हो रहा है ऐसा अवभास होने पर भले मनुष्य को लज्जा होगी, यति को जुगुप्सा होगी, कामुक को कामुकी की स्पृहा होगी। अर्थात् पात्रोचित चित्तवृत्तियाँ भिन्न-भिन्न पैदा होगी और उनमें व्यग्र होने पर सामाजिक को रस की प्रतीति आकाशरूप हो जायगी शून्य हो जायगी। अर्थात् गायब हो जायगी। इसलिए अनुभव या स्मृतिरूप रस की प्रतीति को मानना युक्त नहीं है। रस की उत्पत्ति मानने में भी ये दोष समान ही है। यदि रस की अभिव्यक्ति

अभिनवभारती

स्यात् । तन्न प्रतीतिरनुभवस्मृत्यादिरूपा रसस्य युक्ता । उत्पत्तावपि तुल्यमेतद्दूषणम् । शक्तिरूपत्वेन पूर्वं स्थितस्य पश्चादभिव्यक्तौ विषयार्जनतारतम्यापत्तिः । स्वगतत्व-परगतत्वादि च पूर्ववद्विकल्प्यम् ।

तस्मात्काव्ये दोषाभावगुणालङ्कारमयत्वलक्षणेन, नाट्ये चतुर्विधाभिनयरूपेण निबिडनिजमोहसङ्कटकारिणा विभावादिसाधारणीकरणात्मनाऽभिधातो ऽद्वितीये-

मधुसूदनी

कूला शक्तिः कारणे वर्त्तते । अतस्तिलेभ्य एव तैलं न तु बालुकातः । सा च शक्तिः कार्योत्पादात् प्रागेवास्ति । एवं शक्तिवत् नटे तादृश्यश्चित्तवृत्तय प्रागेव स्थिताः । पश्चात्ताः स्वानुकूलोद्बोधककारणवशादभिव्यज्यन्ते । इति स्वीकारे विषयाणां कारणानामर्जने तारतम्यवत् रसाभिव्यक्तावपि तरतमभावस्यापत्तिः स्यात् ।

स्वगतत्वेन सामाजिकगतत्वेन, परगतत्वेन अनुकार्यगतत्वेन अनुकर्तृगतत्वेन वा प्रतीतौ पूर्ववत् सामाजिकप्रतीत्यभिप्रायेण उत नटाभिप्रायेण किं वा वस्तुवृत्त-विवेचकव्याख्यातृबुद्धिसमवलम्बनेनेतिवद् विकल्प्यम् भेदनीयम् ।

इदं कथं तत्कथं यथेदं तथा तत्कथं नेति रूपः । अनुकार्यसम्बन्धित्वेन कथ मनुमीयतां तदानीं रामादीनामभावेन तद्रत्यादेरप्यभावात् । असतः सत्वेन अनुमानप्रमाणाविषयत्वात् । वस्तुतो रामगतया नटगतत्वेनानुमितयाऽपि रत्या सामाजिकेषुचमत्कारजननासंभवाच्च । कथं वा उत्पद्यतां विभावादीनामवास्त-वत्वात् । पूर्वसिद्धस्यैव घटस्य प्रदीपादिना अभिव्यक्तेर्दृश्यमानत्वात् कथं वाभि-व्यज्यतां रसः; न हि पूर्वसिद्धो रसः । वर्त्तमानकालिकचर्वणाप्राणत्वात् ।

निविडेति । निबिडो यो मोहः स एव संकटः दुःखं तत्कारिणा हिंसकेन । कृञ हिंसायामित्यतः कारीति पदं निष्पन्नम् । अभिधातोऽद्वितीयेनेति । ननु भावकत्व

बालक्रीड़ा

या उत्पत्ति मानेंगे यानी आलंकारिक के मत में कवित्व के बीज रूप से, मीमांसक के मत में शक्ति रूप से, नैयायिक के मत में संस्कार रूप से, सांख्य दृष्टि में वासना रूप से, वेदान्तियों के मत में प्रतिभा रूप से सूक्ष्मावस्था में जो पदार्थ पहले से ही अन्तःकरण में स्थित सिद्ध रहता है और जो पीछे किसी कारण से उद्‌बोधन मिलने पर अभिव्यक्त हो जाता है ऐसा मानेंगे तो विषय माने रस के अभिव्यंजक पदार्थों के अर्जन में तरतम भाव की कमी वेशी की आपत्ति लग जायगी । अर्थात् कितने की अभिव्यक्ति हुई और कितने की नही ऐसा झगड़ा लग जायगा । जिससे वेदान्त प्रसिद्ध ब्रह्मतत्त्व की तरह रस अखण्ड एवं स्वप्रकाश है यह सिद्धान्त गड़बड़ा जायगा और फिर वह अभिव्यक्ति भी स्वगत होगी या परगत होगी इत्यादि विकल्प भी उठ खड़े हो जायगे ।

काव्य में रस दोषाभाव, गुण एवं अलंकारमयत्व लक्षण, नाटय में चतुर्विध अभिनय स्वरूप तथा अभिधा के समान दिशावाला, अद्वितीय शास्त्रान्तर में नहीं होने से अपूर्व।

मधुसूदनी

व्यापारः काव्ये दोषाभावगुणालंकारमयत्वलक्षण; नाट्ये चतुर्विधाभिनयरूपः। तत्र काव्यशब्दात् दोषो वाच्यो न तु दोषाभावः। अपेक्षितो दोषाभावस्तु दोषरहितं काव्यं निर्माणीयं दोषो न ग्राह्य इति सिद्धान्तानुरोधेन स्वतः स्वीकार्यः। एवमेव गुणा अपि। तेऽपि न शब्दवाच्याः। "वर्णाः समासो रचना तेषां व्यञ्जकतामिताः" इत्युक्तेः। अभिनयोऽपि चतुर्विधो न शब्दवाच्यः। वागेव न वाचिकः अपि तु वाचा निर्वृत्तः स इत्यभिनवाचार्योक्तेः वाचिकोऽपि अभिनय एव न शब्दरूपः। तथा च एषां शब्दवाच्यत्वाभावात् शब्दरूपवाचकनिष्ठोऽभिधाव्यापारोऽनावश्यक इति तस्यानस्तित्वं तर्हि प्रथमत्वमेव कथं दुर्लभमित्यर्थः। ततश्च उक्त स्वरूपस्य भावकत्वव्यापारस्य अभिधातो द्वितीयत्वं नायातं तर्हि कथं तथोक्तिः समीचीनेति चेच्छृणु। अत्र "तेनैक दिक्" इत्यधिकारस्थेन "तसिश्च" इति सूत्रेण अभिधया एकदिक् समानः पन्था इति विग्रहे तसि प्रत्यये अभिधात इति रूपं निष्पन्नम्। तच्च तसेश्च स्वरादिपाठदव्ययतया अव्ययपदम्। अभिधातोऽद्वितीयेनेत्यत्र अकारप्रश्लेषः।

एवं हि अद्वितीयेन शास्त्रान्तरेषु तदभावात् अपूर्वेण अभिघातः अभिधास मानपथिकेन अभिधैकदिशा भावकत्वव्यापारेण। अभिधैकदिक्त्वं च समान व्याप्तिकर्त्तृत्वम्। अभिधा यथा शब्दादर्थोपस्थापने व्याप्नोति तथायं व्यापारोऽपि अभिनेयानभिनेयार्थानामर्थानां साधारणीकरणे व्याप्नोति। इति सर्वं समञ्जसम्। अंशः काव्यस्यैकदेशः। न तु भागः। तथात्वे तु एकत्वादिकमपेक्षितं स्यात् "अंशो विभाजने प्रोक्त एकदेशेऽपि वस्तुनः" इति हेमचन्द्रः।

बालक्रीड़ा

सामाजिकों के निविड गहरे निज अपने मोह—(प्रश्न) यह कैसे हुआ, जैसे यह है वैसे वह कैसे नहीं है। अनुकार्य की रति का अनुमान क्यों नहीं कर लेते। (उत्तर)—अभिनय के समय में रामादि के नहीं होने से राम की रति का अनुमान कैसे हो सकता है। असत् सत् के रूप में अनुमान का विषय नहीं होता है। इसके सिवाय वस्तुतः राम गत रति का नट में अनुमान कर भी लेवें तो सामाजिक को अपने में रति के नहीं रहने से कैसे आनन्द का अनुभव होगा। अर्थात् असंभव है। नट में रति की उत्पत्ति हो जाती है मान लें तब भी ठीक नहीं है क्योंकि रति के कारण विभावादि सब कल्पित हैं। अथवा सामाजिक में रस की अभिव्यक्ति होती है कहें तब भी ठीक नहीं है क्योंकि प्रदीपादि से जैसे पूर्वसिद्ध घट की अभिव्यक्ति देखी गई है वैसे रस पूर्वसिद्ध नहीं है वह तो वर्त्तमान कालिक चर्वणा का विषय होता है—इत्यादि प्रश्नोत्तररूपी संकट का कारी विक्षेपक या हिंसक [कृ विक्षेपे या कृञ् हिंसायाम् या कृञ् हिंसायाम् से ताच्छील्य (कर्त्तुं विक्षेप्तुं शीलमस्य) अर्थ में णिनि प्रत्यय में कारी बनता है] विभावादिसाधारणीकरणरूप भावकत्व व्यापार से भाव्यमान हुआ रस माने स्थायी भोग से केवल भोगा जाता है। यह भोग अनुभव एवं स्मृति आदि से विलक्षण है। रज एवं तम के अनुवेध से दबने से होनेवाले वैचित्र्य के बल से द्रुत विस्तृत

अभिनवभारती

नांशेन भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो रसोऽनुभवस्मृत्यादिविलक्षणेन रजस्तमोऽनुवेधवैचित्र्यबलाद् द्रुतिविस्तारविकासलक्षणेन सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयनिजसंविद्विश्रान्तिलक्षणेन परब्रह्मास्वादसविधेन भोगेन परं भुज्यत इति।

तत्र पूर्वपक्षोऽयं भट्टलोल्लटपक्षानभ्युपगमादेव नाभ्युपगत इति तद्दूषणमनुत्थानोपहतमेव। प्रतीत्यादिव्यतिरिक्तश्च संसारे को भोग इति न विद्मः। रसनेति

मधुसूदनी

य रस्यते आस्वाद्यते इति रसः स्थायीत्यर्थः। भोगेन परं भुज्यते। कीदृशो भोग इत्याह—अनुभवादिविलक्षणः सामान्यानुभवादिस्वरूपो न। रजस्तमसोऽनुवेधेन तिरस्कारेण यद् वैचित्र्यं तद्बलात्। द्रुतिश्चेतसो विगलनम्। विस्तारो दीप्तिः। विकाशः स्वच्छता। सत्वस्य उद्रेको रजस्तमसी अभिभूयाविर्भावः। तस्मात् प्रकाशते य आनन्दस्तन्मयी निजा आत्माख्या सकलविघ्ननिर्तिर्मुक्ता संवित् तदेव विश्रान्तिः। संवित्तिरेव विश्रान्तिरिति अग्रे द्वित्रिपृष्ठादन्तरं स्वयमाचार्याभिनवगुप्तपादैर्वयक्ष्यते: तथाहि-लोके सकलविघ्नविनिर्मुक्ता संवित्तिरेव चमत्कारनिर्वेशरसनास्वादनभोगसमापत्तिलयविश्रान्त्यादिशब्दैरभिधीयते। इति। परब्रह्मण आस्वादः साक्षात्कारः। तत्समाना विधा विभावादिभिः स्थायिना च सम्वलनात् तत्सदृशः प्रकारो यस्य तेन भोगेन।

पूर्वपक्षोऽयमिति। अयं भट्टनायकस्य विशेषरूपेण आख्यानरूपो विचारः पूर्वपक्षः न तु सिद्धान्तः। तद्दूषणं विचारेऽस्मिन् दुष्टत्वं पक्षस्यानुत्थानेन स्थित्यभावेन उपहतमेव। उपायवैलक्षण्यात् लोके शास्त्रे च उपेयस्य स्वमतसिद्धस्य पदार्थस्य प्रतिपत्यर्थं ये उपायाः प्रदर्शितास्तेभ्यो विलक्षणा उपायाः उपेयस्य रसस्य

बालक्रीड़ा

एवं विकसित सत्व के उद्रेक से प्रकाशित होने वाली आनन्दमयी संवित् से अभिन्न विश्रान्ति स्वरूप और परब्रह्म के आस्वाद साक्षात्कार के सविध समानविधावाली अर्थात् परब्रह्मास्वाद रूपा नहीं है किन्तु विभाव अनुभाव व्यभिचारी भाव एवं स्थायीभाव के संवलन से उसके जैसे प्रकार वाली है।

सवित् ही विश्रान्ति है इस बात को आगे दो तीन पृष्ठ के बाद स्वयं आचार्य अभिनव गुप्त कहेंगे कि—लोक में सकल विघ्नों से विनिर्मुक्त संवित्ति को ही चमत्कार निर्वेश रसन आस्वादन भोग समापत्ति प्रतिपत्ति लय एवं विश्रान्ति शब्दों से कहते हैं।

इस पर अभिनव गुप्त कहते हैं कि यह पूर्वपक्ष है सिद्धान्त नहीं है। जो भट्टलोल्लट के पक्ष के अनभ्युपगम से अस्वीकार कर देने से अनभ्युपगत अस्वीकृत हो चुका है अतः इस पक्ष के अनुत्थान से ही इसके सभी दूषण उपहत हो गये। प्रश्न होता है कि प्रतीति आदि से व्यतिरिक्त भोग नाम का संसार में कौन पदार्थ है हम नहीं ज.नते हैं। अगर कहें कि रसना है तब तो वह प्रतिपत्ति ही है अलग नहीं हुई। केवल उपायों के वैलक्षण्य से

अभिनवभारती

चेत्। सापि प्रतिपत्तिरेव। केवलमुपायवैलक्षण्यान्नामान्तरं प्रतिपद्यतां दर्शनानुमितिश्रुत्युपमितिप्रतिभानादिनामान्तरवत्। निष्पादनाभिव्यक्तिद्वयानभ्युपगमे च नित्यो वा(सद्वा) असद्वा रस इति न तृतीया गतिः स्यात्। न चाप्रतीतं वस्त्वस्ति व्यवहारे योग्यम्।

अथोच्यते—तस्य प्रतीतिरिति भोगीकरणम्। तच्च रसनाख्यं द्रुत्यादिस्वरूपम्। तदस्तु। तथाहि न तावन्मात्रम्। यावन्तो हि रसास्तावन्त एव रसनात्मानः प्रतीतयो भोगीकरणस्वभावाः। सत्त्वादिगुणानां चाङ्गाङ्गिवैचित्र्यमनन्तं कल्प्यमिति कर्तृत्वे, नेयत्ता।

मधुसूदनी

प्रतिपत्यर्थं स्वीकृता इति हेतोः। निष्पादनस्य उत्पत्तेः अनभ्युपगमे नित्यः सन् रसः। अभिव्यक्तेरनभ्युपगमे असन् रसः। तृतीया सदसद्भ्यां भिन्ना अनिर्वचनीया गति र्दशा अस्यां प्रतीतौ नास्ति। अयं भावः। तादृशी अनिर्वचनीया मिथ्याभूता माया एव। ब्रह्म तु निर्वचनीयं, सत्यज्ञानानन्दनामभिर्निर्देष्टुं शक्यत्वात्। अनिर्वचनीयं निर्देष्टुमशक्यमेवेति तदेतदुच्यते—न चाप्रतीतं वस्तु व्यवहारे योग्यम्। शास्त्रे तु विक्षेपावरणशक्त्यात्मिका माया मिथ्याऽपि स्वीकृता।

अथेति पक्षान्तरम्! तस्य स्थायिनः प्रतीतिर्भोगीकरणमित्युच्यते। तच्च भोगीकरणञ्च। रसनाख्यं द्रुत्यादिस्वरूपम्। अस्तु। तदेव भवतु। परं न पर्याप्तम्, हि यतः यावन्तो रसा इति। अंगागिभावस्य वैचित्र्यमयं भोगीकरणमनन्तं कल्पनीयं स्यात् तर्हि कर्तृत्वे भोगकर्तृनिष्ठायां कृतौ व्यापारे इयत्ता न स्यात्।

बालक्रीड़ा

दर्शन, अनुमिति, श्रुति, उपमिति तथा प्रतिभान आदि अन्य नामों की तरह भोग भी एक नाम है। इसके सिवाय निष्पत्ति एवं अभिव्यक्ति इन दोनों पक्षों के अनभ्युगम करने पर रस नित्य होगा इसके सिवाय तीसरी गति तो इसमें नहीं होगी। अर्थात् यदि रस की निष्पत्ति मानेंगे तो रस नित्य नहीं होगा जन्य होगा और यदि अभिव्यक्ति मानेंगे तो वह दूध से दही की, प्रकाश से घटादि वस्तु की एवं धूमादि से वह्नि वगैरह की तरह सत् होगी अथवा अर्कालोक से इन्द्रधनुष की तरह असत् होगी। इसके सिवाय यह भी बात है कि सत् एवं असत् से विलक्षण अनिर्वचनीय माया की तरह मिथ्या अर्थात् कुछ भी वस्तु नहीं होगी। अतः अप्रतीत होगी क्यों कि जो वस्तु निष्पत्ति एवं अभिव्यक्ति से बाहर होगी वह वस्तु अप्रतीत ही होगी किन्तु अप्रतीत वस्तु व्यवहार के योग्य नहीं है।

अगर कहें कि यहाँ भोगी करण का अर्थ है उसकी प्रतीति। अर्थात् किसी पदार्थ की प्रतीति ही उसका भोगीकरण है। वह रसना नामधारी द्रुत्यादिस्वरूप है। उस पर कहते हैं अच्छा यही सही। तथापि उतना ही पर्याप्त नहीं है। किन्तु जितने रस होंगे उतनी ही भोगीकरण स्वभाव वाली रसना नाम धारिणी प्रतीतियाँ होगी और सत्त्वादि गुणों में भी

अभिनवभारती

"अभिधा भावना चान्या तद्भोगीकृतिरव च ।
अभिधाधामतां यातः शब्दार्थालङ्कृती, ततः ।।
भावनाभाव्य एषोऽपि श्रृङ्गारादिगणोऽभवत् ।
तद्भोगीकृतिरूपेण व्याप्यते सिद्धिमान्नरः ।।") इति ।

यत् "काव्येन भाव्यन्ते रसाः" इत्युच्यते तत्र विभावादिजनितचर्वणात्मकास्वादरूपप्रत्ययगोचरतापादनमेव यदि भावनं तदभ्युपगम्यत एव ।

यत्तूक्तम्—

"संवेदनाख्यया व्यङ्ग्यः परसंवित्तिगोचरः ।
आस्वादनात्माऽनुभवो रसः काव्यार्थ उच्यते ।।" इति ।

मधुसूदनी

अभिधेति । भावनेति । भावनया भावकत्वव्यापारेण भाव्यः साधारणी करणीयः । ननु को भाव्य इत्याह-गणः । शृंगारादिरसः, तदुकरणभूतो विभावादिः स्थायी प्रमाता च । एषां समूहः । सिद्धिः काव्यभावनया परिपक्वा बुद्धिः । तद्वान् नरो भावुकः भोगीकृतिरूपेण भोगकर्तृत्वरूपेण व्यापारेण व्याप्यते व्याप्तः क्रियते अर्थात् तस्य व्यापारस्य आश्रयो भवति ।

चर्वणात्मको ज्ञानात्मक आस्वादः । चर्व गतौ इत्यस्माद् भावे ल्युप्रत्यये स्त्रियां टापि चर्वणा ज्ञानम् । गत्यर्थानां ज्ञानार्थकत्वमिति सिद्धान्तात् ।

बालक्रीड़ा

अंगांगी के सम्बन्ध से अनन्त वैचित्र्य की कल्पना करनी पड़ेगी । उसके अनुसार भोगीकरण भी अनन्त मानने पड़ेगें तब कर्तृत्व कर्ता में रहने वाले धर्म कृति यानी प्रयत्न में इयत्ता पर्याप्ति नहीं होगी ।

अभिधा व्यापार है प्रयत्न है । भावना भावकत्व प्रयत्न है और अन्य प्रयत्न तद्भोगीकृति है । उनमें शब्द के अलंकार और अर्थ के अलंकार अभिधा के धाम विषय होते हैं । यह शृंगार आदि रस तथा रसों के उपकारक विभावादि एवं रति तथा प्रमाता रूप गण समूह भावना यानी भावकत्व व्यापार से भाव्य साधारणीय होता है । इसके बाद सहृदय सिद्धिमान् सामाजिक भोगीकृति अर्थात् भोग से व्याप्त किया जाता है आश्रय बनाया जाता है । इसी को ध्वन्यालोक के लोचन में इन्हीं आचार्य अभिनव गुप्त ने लिखा है कि (अभिधायकत्वं वाच्यविषयं, भावकत्वं रसविषयं, भोगकृत्वं सहृदयविषयमिति त्रयोंशभूता व्यापाराः) वाच्य के विषय में अभिधायकत्व, रसों के विषय में भावकत्व एवं सहृदयों के विषय में भोगकृत्व है इस तरह तीन अंश भूत व्यापार हैं ।

जो "काव्य से रसों की भावना की जाती है" ऐसा कहते हैं वह भी यदि विभावादि से जन्य चर्वणात्मक आस्वादरूप प्रत्यय की गोचरता का आपादन ही भावना है तो उसको हम स्वीकार करते ही हैं ।

मधुसूदनी

संवेदनेति। अत्र त्रिविधः पाठः समुपलभ्यते। नाट्यशास्त्रस्य वडोदातो मुद्रापिते गायकवाड ओरियण्टल सीरिजीयस्य प्रथम संस्करणे प्रथमः पाठः "संवेद्नाख्यव्यंग्यस्वपरसंवित्तिगोचरः" इति। अस्यैव द्वितीयसंस्करणे वर्त्तमानकाले द्वितीयः पाठः। "संवेदनाख्यया व्यंग्यपरसंवित्तिगोचरः" इति। "भावसंयोजना व्यंग्यपरसंवित्तिगोचरः" इति व्यक्तिविवेके तृतीयः पाठः। त्रयाणां पाठानां मूलं किमिति त एव जानन्तु।

तत्र मया व्यक्तिविवेकस्य टीकायां स्वनिर्मितायां मधुसूदन्यां। "संवेदनाख्यव्यंग्यस्वपरसंवित्तिगोचरः" इत्येतादृशः पाठः श्रीशंकुकस्य हृदयदर्पणे वर्त्तते इति नाट्यशास्त्रीयटीकायामभिनवगुप्तोक्तेः प्रतीयते इत्येवं श्रीशंकुकस्य हृदय दर्पणे इत्यादि यल्लिखितं तदनवधानवशात्, अतः प्रार्थये खलान्, क्षमध्वम्। सौम्यास्तु क्षमिष्यन्ति एव इति विश्वासः। गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः। हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनाः। इत्युक्तेः। ज्ञात्वा मया नहि लिखितं यतो हि ग्रन्थान्ते "व्यक्तिविवेकस्य प्रमापकाः" इति शीर्षकाधो मयैव ग्रन्थानां नामसु "हृदय दर्पणः" इति तदग्रे तद्ग्रन्थकर्तृ नामसु "भट्टनायकः" व्यलेखि। द्रष्टव्यम्।

संवेदनाख्यया व्यंजनया व्यंग्यः। परस्या लौकिकीप्रमायाः, युञ्जानयोगिविज्ञानात् युक्तयोगिसंवेदनाच्च भिन्नाया संवित्तेः निर्विकल्पाभिन्नसविकल्पकज्ञानस्य नृसिंहाकारस्य गोचरो विषयः। आस्वादनस्वरूपोऽनुभवो यत्र प्रमाणं स रसः काव्यार्थ इत्युच्यते।

बालक्रीड़ा

जो तो कहा कि संवेदना नाम वाले ज्ञान से व्यक्त होने वाला व्यंग्य जो परा विलक्षणा संवित्ति ज्ञान का गोचर विषय बनता है तथा आस्वादनात्मा चर्वणास्वरूप अनुभव जिसमें होता है अर्थात् जो आस्वादन रूप अनुभव का वियय है वह काव्यप्रतिपादित अर्थ रस कहलाता है।

यहाँ जो संवेदना संवित्ति आस्वादनात्मा और अनुभव कहे हैं वे सब समानार्थक हैं। यह श्लोक व्यक्तिविवेक के प्रथम विमर्श में भी उद्धृत है। वहाँ का पाठ कुछ भिन्न है। "भावसंयोजनाव्यंग्य पर" ऐसा है। और अभिनवभारती के प्रथम संस्करण में मुद्रित पाठ था 'संवेदनाख्यव्यंग्यस्वपर" और अब द्वितीय संस्करण में "संवेदताख्यया व्यंग्य पर" यह तृतीय पाठ है। इस पाठ भेद का मूल अपनी २ संवित् ही है। व्यक्ति विवेक की मधुसूदनी में हमने (आस्वादनात्मना चर्वणास्वरूपेण अनुभवो यस्य) इस तरह आस्वादनात्मा चर्वणास्वरूप से अनुभव जिस रस का ऐसा अर्थ किया और यहां नाट्यशास्त्र की बालक्रीड़ा में आस्वादनात्मा चर्वणास्वरूप अनुभव है जिस रस में। दोनों कहने के तरीके हैं बात एक ही है कि रस को अनुभव (ज्ञान) का विषय कहा है। मैंने व्यक्तिविवेक की स्वनिर्मित टीका मधुसूदनी में "संवेदनाख्यव्यंग्यस्वपर" ऐसा पाठ श्रीशंकुक के हृदय दर्पण में है ऐसा नाट्यशास्त्र की टीका में अभिनवगुप्त के कथन से प्रतीत होता है। उसमें श्रीशंकुक के हृदयदर्पण में है इत्यादि जो लिख दिया है उसको मेरी असावधानी से लिखा गया समझें। जान

अभिनवभारती

तत्र व्यज्यमानतया व्यङ्ग्यो लक्ष्यते। अनुभवेन च तद्विषय इति मन्तव्यम्।

नन्वेवं कथं रसतत्त्वमास्ताम्। किं कुर्मः।

आम्नायसिद्धे किमपूर्वमेत-
त्संविद्विकासेऽधिगतागमित्वम्।

मधुसूदनी

तत्र व्यज्यमानतया व्यज्यमानार्थनिष्ठया व्यंजनया व्यंग्यो लक्ष्यते प्रतीयते। तद्विषयः अनुभवविषयः।

ननु एवंविधैः भट्टलोल्लटश्रीशंकुकभट्टनायकानां व्याख्यानैः रसतत्वं कथमास्ताम् उपविशतु स्थिरीभवतु इत्यर्थः। अत्र आस्तामिति आस उपवेशने इत्यस्मात् संभावनायां लोट्। उत्तरति—किं कुर्मः।

एतत् पृथक् पृथक् व्याख्यानमपूर्वं नवीनं किम्। नास्ति नवीनमिति भावः। यतः आम्नायः सर्वेषु श्रेष्ठं प्रमाणं वेदस्तेन सिद्धे। संविदा परमकाशानपेक्षस्वप्रकाशरूपज्ञानेन विकासे विकाशं प्राप्ते। अर्श आद्यचिरूपम्। पदार्थे लोकस्य

बालक्रीड़ा

कारी में नहीं। क्योंकि ग्रन्थ के अन्त में मैंने व्यक्तिविवेक में प्रमाण रूप से ग्रन्थ एवं ग्रथकर्त्ताओं के नामों की श्रेणी में हृदयदर्पण एवं भट्टनायक का उपन्यास निर्देश किया है। यदि जानबूझकर लिखा होता तो "व्यक्तिविवेके प्रमापकाः" इस शीर्षक के नीचे भी श्रीशंकुव का नाम ही लिखता भटनायक का नाम नहीं। असावधानी से गलति से ही जाती है। अतः अतः प्रार्थना है कि खल लोग क्षमा करें। सज्जन विद्वान् तो क्षमा करते ही हैं और क्षमा करेंगे भी। ऐसा विश्वास है।

उसमें व्यंग्य व्यज्यमानता अर्थात् व्यज्यमान निष्ठा व्यंजना से लक्ष्य प्रत्येय है। अर्थात् लक्षित प्रतीत होता है। अनुभव शब्द से यह मानना चाहिए कि अनुभव का विषय रस है।

प्रश्न—ऐसी इस प्रकार की व्याख्या में रस तत्व कैसे स्थिर होगा। क्योंकि अनुसन्धान गवेषणा से अनुकर्त्ता में रस मालूम पड़ता है वस्तुतः अनुकर्त्ता में नही है वस्तुतः तो वह रस अनुकार्य में है। भट्टलोलट। अनुकर्त्ता नट में जो रति की अनुमिति होती है वह अनुमीयमान रति ही रस है। श्रीशंकुक।

रस न अनुकार्य में है न अनुकर्त्ता नट मे हैं और न अपने में है। किन्तु उसका भोगीकरण से भोग होता है। वह अपने में होता है या दूसरे में होता है यह नही का जा सकता है। उसको सीमा में नही बाँध सकते है किन्तु भोग उसका होता है। भट्टनायक। इस पर कहते हैं कि इस तरह की व्याख्या से रसतत्त्व सहृदयों के हृदय में कैसे बैठेगा। यहां आस् उपवेशने से आस्ताम् बना है। उपवेशन का अर्थ है बैठना। उत्तर। क्या करें।

यह क्या? कोई अपूर्व वृत्त है अर्थात् नई कथा नहीं है। जब कि आम्नाय सभी प्रमाणों में श्रेष्ठ प्रमाण वेद से जो सिद्ध है और जिसका संविद् से यानी पर प्रकाशानपेक्ष

अभिनवभारती

इत्थं स्वयंग्राह्यमहार्हहेतु-
द्वन्द्वेन किं दूषयिता न लोकः ॥
ऊर्ध्वोर्ध्वमारुह्य यदर्थतत्त्वं
धीः पश्यति श्रान्तिमवेदयन्ती ।
फलं तदाद्यैः परिकल्पितानां
विवेकसोपानपरम्पराणाम् ॥

मधुसूदनी

अधिगतागमित्वम् अधिगतेस्य ज्ञातेस्म अर्थे अगमित्व मज्ञानित्वम् । अगन्तुमज्ञातुं शीलमस्येति अगमी अज्ञानस्वभावः । तस्य भावस्तत्त्वम् । अर्थो ज्ञातः तथापि अगमित्वं न जानीमो वयमिति स्वभावः । इत्थममुना प्रकारेण स्वयंग्राह्यं स्वतः प्रकाश्यं वस्तु ज्ञानम् । महार्हो महायोग्यो वेदः हेतुः प्रमाणमत्रेति क्रिया । तयोः ज्ञानक्रिययोः अथवा स्वेतः प्रमाणं परप्रमाणमित्यनयो र्द्वयोर्द्वन्द्वः परस्परविरोधः । तेन तद्द्वारा इत्यर्थः । किमेष लोको नते ज्ञानक्रिये दूषयति । दूषयत्येवेत्यर्थः ।

उर्ध्वेति । ऊर्ध्वमूर्ध्वमारुह्याऽपि उत्तरोत्तरभूमिकायां गच्छन्ती अपि श्रान्ति वेदनामवेदयन्ती अजानती धीर्मेधा । धीर्धारणावती मेधा इति कोषः । यद् यदिति क्रियाविशेषणम् । अर्थस्य तत्त्वं वा अर्थरूपं तत्त्वं वा पश्यति स्वविषयं करोति । तद् दर्शनम् । आद्यैः या चीनैराचार्यैः परिकल्पितानां कल्पनया आविष्कृतानाम् । विवेकरूपस्य सोपानस्य निः श्रेण्याः परम्परणां फलम् साध्यम् । केचिद् द्वैतिन (ब्रह्म अथो जगदमिथ्येति वादिनः) एके शांकर वेदान्तिनः अद्वैतिनः (एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म) इतिवादिनः । अपरे रामानुजीयाः विशिष्टाद्वैतिनः । परे माध्वाः शुद्धाद्वैतिनः । वल्लभाः द्वैताद्वैतिनः । इत्येवं भिन्नाः ।

बालक्रीड़ा

स्वप्रकाशरूप ज्ञान से विकास है संवाद है उसके विषय में भी लोक का अधिगतागमित्व है जानकर भी अनजानापन है । इस प्रकार स्वयंग्राह्य स्वतः प्रकाश्य वस्तु ज्ञान एवं महार्ह सर्वश्रेष्ठ वेद हेतु है जिसमें ऐसी आन्नायसिद्ध वस्तु क्रिया । इन दोनों ज्ञान एवं क्रिया में जो द्वन्द्व है परस्पर विरोध है तब उसके द्वारा क्या यह लोक उनको दूषित नही कर देता है ।

उत्तरोत्तर ऊपर चढ़कर भी अर्थात् ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या । ब्रह्म सत्य है जगत् मिथ्या है इस तरह एक सत्य दूसरा मिथ्या इस रूप से द्वैत है । वेदान्ती कहता है कि एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म) ब्रह्म एक ही है दूसरा कोई नही है । इस तरह अद्वैत है । रामानुजीय कहते हैं कि विशिष्टाद्वैत है । माध्व कहते है कि शुद्धाद्वैत है । वल्लभ कहते हैं कि द्वैताद्वैत है । इस प्रकार के भिन्न २ मार्गो में जा कर भी श्रान्ति थकावट को नही समझती हुई परवाह नही करती हुई बुद्धि अर्थ तत्त्व को देखती है वह आद्य प्राचीन आचार्यों के द्वारा परिकल्पित विवेकरूपी सोपान की परम्पराओं का फ़ल है ।

अभिनवभारती

चित्रं निरालम्बनमेव मन्ये
    प्रमेयसिद्धौ प्रथमावतारम् ।
सन्मार्गलाभे सति सेतुबन्ध-
    पुरप्रतिष्ठादि न विस्मयाय ॥
तस्मात्सतामत्र न दूषितानि
    मतानि तान्येव तु शोधितानि ।
पूर्वप्रतिष्ठापितयोजनासु
    मूलप्रतिष्ठाफलमामनन्ति ॥

मधुसूदनी

चित्रमिति । चित्रमाश्चर्यं, प्रमेयस्य वस्तुनः सिद्धौ प्रथमावतारं सर्वप्रथमं सोपानं निरालम्बकमेव मन्ये । मूले मूलाभावादमूलं मूलम् । आश्चर्यम् अग्रिमस्य अग्रिमस्य आधारः प्रथमः प्रथमः । किन्तु सर्वप्रथमस्य क आधारः; नास्ति तस्याधारः । तं तु निरालम्बनमेव मन्ये । मूलतत्त्वस्य मूलाभावेऽपि क्वचिद् विश्रामः करणीयः । इति कृत्वा पुनरपि सन्मार्गस्य लाभे सति सेतोः पुलस्य बन्धः निर्माणम्, पुरादेः प्रतिष्ठादि न विस्मयाय नाश्चर्यजनकम् ।

तस्मादिति । तस्मात् विस्मयाभावाद्धेतोः अत्र ग्रन्थे सतां मतानि न दूषितानि किन्तु तानि शोधतानि । यतः पूर्वैः प्रतिष्ठापितासु योजनासु उहापोहादिभिर्दूषणं मूलस्य प्रतिष्ठैव फलं लाभमामनन्ति कथयन्ति ।

बालक्रीड़ा

यदपि विवेक रूपी सीढियों का क्रम होने से ऊपर चढने में सुविधा है किन्तु श्रम अवश्य मालूम पड़ता है । तदपि प्रमेय की सिद्धि करने में अर्थ तत्त्व को समझने में जो प्रथम अवतार है आधार है सीढ़ी है वह तो आलम्बन रहित है । मूले मूलाभावादमूलं मूलम् । ऊहो आश्चर्य है कि आगे आगे वाले आधार के लिए तो पहिले २ वाला आधार है किन्तु सर्व प्रथम जो आधार है उसका तो आलम्बन कोई नही हैं क्योंकि मूलतत्त्व का कोई मूल नहीं होता है के अनुसार मूलतत्त्व में मूल का अभाव है । अतः (क्वचित् विश्रामो वाच्यः) कहीं पर विश्राम कहना चाहिए से फिर भी सन्मार्ग के लाभ हो जाने पर कृत्य के लिए समीचीन पद्धति के मिल जाने पर पुल का निर्माण एवं नगरों की स्थापना करने में कोई आश्चर्य नही है ।

इसलिए यहां पर प्राचीनों के मतों को दूषित नही किया है अपि तु शुद्ध किया है । क्योंकि प्राचीन आचार्यो के द्वारा स्थापित किये गये सिद्धान्तों पर नई योजनाओं अर्थात् शंका एवं समाधानों के कर देने पर मूल की प्रतिष्ठा कर देने रूप फल को कहते हैं ।

अभिनवभारती

तदुच्यतां परिशुद्धतत्त्वम् । उक्तमेव मुनिना न त्वपूर्वं किञ्चित् । तथाह्याह—"काव्यार्थान् भावयन्ति" इति (ना. शा. अ-७) तत्काव्यार्थो रसः ।

यथा हि 'रात्रमासत' 'तामग्नौ प्रादात्' इत्यादावर्थितादिलक्षितस्याधिकारिणः प्रतिपत्तिमात्रादतितीव्रप्ररोचितात्प्रथमं प्रवृत्तादनन्तरमधिकैवोपात्तकालतिरस्कारेणैव-आस्से प्रददानि इत्यादिरूपा संक्रमाणादिस्वभावा यथादर्शनं प्रतिभाभावनाविधि-उद्योगादिभाषाभिर्व्यवहृता प्रतिपत्तिस्तथैव काव्यात्मकादपि शब्दादधिकारिणोऽधिका-ऽस्ति प्रतिपत्तिः !

मधुसूदनी

तर्हि इति । अपूर्वं नवीनम् कथनीयमितिशेषः । तत्तस्मात् ।

"रात्रमासते" इति । अयं कृष्णयजुर्वेदीयत्तैत्तिरीयसंहिताया सप्ताष्टकस्य तृतीयप्रपाठकस्य दशमानुवाकस्य पंचममन्त्रस्य भागः । तत्रास्मिन् मंत्रे एकविंशति-रात्रनामकयज्ञस्य कथनम् । यथा—असावादित्यो न व्यरोचत, स प्रजापतिमुपाधावत्, तस्मा एकविंश तिरात्रं प्रायच्छत् । तमाहरत्, तेनायजत, ततो वै सोऽरोचत् । य एवं विद्वांस एकविंशतिरात्रमासते रोचन्त एव । इति । अथ द्वितीयमर्थवादवाक्यम् । स प्रजापतिरात्मनो वपामुदाखिदत् । तामग्नौ प्रादात् । इति । इत्यादौ वाक्ये अर्थिता-दिना लक्षितस्य "अर्थी समर्थो विद्वान् शास्त्रेणापर्युदास्तोऽधिकारी" इतिलक्षणेन निरूपितस्य अधिकारिणः प्रतिपत्तिमात्राद् केवलज्ञानात् । अतितीव्रप्ररोचितात् । प्ररोचना प्रशंसा । अत्यन्तप्रशंसायाः । प्रथमं शीघ्रं प्रवृत्तात् विधायकवाक्यजन्य ज्ञानात् । वाक्यश्रुतेरनन्तरम् । तद्वाक्योपात्तस्य कालस्य वर्तमानादेस्तिरस्कारेण

बालक्रीड़ा

अस्तु । तब फिर आप ही कहिये कि परिशुद्ध तत्त्व क्या है । इस पर कहते हैं कि मुनि ने स्वयं उस परिशुद्ध तत्त्व को कह ही दिया है कुछ अपूर्व नही कहना है । जैसा कि कहते हैं कि काव्यार्थ की भावना कराते हैं । अतः काव्यार्थ ही रस है । क्योंकि भावना भाव्य अर्थ आत्मा रस ही है दूसरा नही । श्रुति कहती है कि आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः । रसो वै सः ।

"रात्रमासते" यह कृष्ण यजुर्वेदीय तैत्तिरीयसंहिता के सप्तम अष्टक तृतीय प्रपाठक दशम अनुवादक के पाँचवे मंत्र का प्रतीक है । इसमें एकविंशतिरात्रनामक यज्ञ का कथन किया है कि "असावादित्यो न व्यरोचत, प्रजापतिमुपाधावत्, तस्मा एकविंशतिरात्रं प्रायच्छत्, तमाहरत् तेनायजत, ततो वै सोऽरोचत, य एवं विद्वांस एकविंशतिरात्रमासते, रोचन्त एव" पहले कभी आदित्य स्वर्भानु नामक अन्धकार से अनुविद्ध होने पर अथवा मेघ एवं हिम से आवृत होने पर प्रकाश हीन हो गये तब वे प्रजापति के पास गये और अपनी दशा का वर्णन किया तब प्रजापति ने उनको एकविंशतिरात्र नामक यज्ञ करने के लिए कहा । उन्होंने उसकी सामग्री जुटाकर यज्ञ किया वे प्रकाश से देदीप्यमान हो गये । इस तरह

अभिनवभारती

अधिकारी चात्र विमलप्रतिभानशालिहृदयः। तस्य च "ग्रीवाभङ्गाभिरामम्।" इति (शाकु-अ.१) "उमापि नीलालक" इति (कुमा-३.६२) 'हरस्तु किञ्चित्' (कुमा-३.६७) इत्यादिवाक्येभ्यो वाक्यार्थप्रतिपत्तेरनन्तरं मानसी साक्षात्कारात्मिकाऽपहसिततत्तद्वाक्योपात्तकालादिविभागा तावत्प्रतीतिरुपजायते। तस्यां च यो मृगपोतकादिर्भाति तस्य विशेषरूपत्वाभावाद्भीत इति त्रासकस्यापारमार्थिकत्वाद्भयमेव परं देशकालाद्यनालिङ्गितम। तत एव 'भीतोऽहं भीतोऽयं शत्रुर्वयस्यो मध्य-

मधुसूदनी

परिणमनेन। आसते इति लटः प्रथमापुरुषबहुवचनान्तस्य प्रादादिति लङः प्रथमपुरुषैकवचनान्तस्य च लोटि उत्तमपुरुषैकवचनान्तरूपा संक्रमणस्वभावा विपरिणमनशीला। यथादर्शनम् न्यायादिषड्दर्शनानुसारं प्रतिभा वेदान्तिनां, भावना वैयाकरणानां, विधिः मीमांसकानां, ऊत्कृष्टो योगः पातञ्जलानाम्, आदिपदात् संस्कारः सांख्यानां, भाषाभिर्व्यवहारं गता यथाधिकैव प्रतिपत्तिर्ज्ञानं तथैव काव्यात्मकात् शब्दादपि अधिकारिणः प्रवर्त्तकस्य पुरुषस्य अधिका प्रतिपत्तिरास्ति।

अपहासितो विपरिवर्तितः। तस्यां च "ग्रीवाभंगाभिरामम्" एतच्छाकुन्तलपद्याज्जायमानायां प्रतीतौ। तस्य मृगशिशोः। हानादीति। हातव्यं उपादातव्य-

बालक्रीड़ा

अन्य लोग भी जो एकविंशतिरात्र यज्ञ को करते हैं वे अवश्य ही देदीप्यमान होते हैं। इसी तरह दूसरा अर्थवाद वाक्य है कि (प्रजापपतिरात्मनो वपादमुखिदत् तामग्नौ प्रादात्) प्रजापति ने अपनी वपा को उचेड कर निकाला और अग्नि में उसका प्रदान कर दिया। इत्यादि वाक्यों में (अर्थी समर्थो विद्वान् शास्त्रेणापर्युदस्तोऽधिकारी) यज्ञ के फल को चाहने वाला, उसके करने में समर्थ, उसकी पद्धति का जानकार एवं शास्त्रोक्त कर्म से अबहिष्कृत जो हो वह अधिकारी होता है इस लक्षण से ज्ञात आधिकारी की अत्यन्त प्रशंसा से शीघ्र ही प्रवृत्ति विधायक विधि वाक्य के ज्ञान के अनन्तर उक्त वाक्यों में उपात्त काल का तिरस्कार यानी विपरिवर्तन करके आस्से प्रददानि इत्यादिरूप में संक्रमण स्वभाव यानी परिवर्त्तित होने वाली अपने २ दर्शनों के अनुसार प्रतिभा, भाव, विधि, उद्योग, कृति यानी आन्तर प्रयत्न अथवा उत्कृष्ट योग समाधि शब्दों से व्यवहृत अधिक प्रतिपत्ति जैसे होती है उसी तरह काव्यात्मकशब्द से भी अधिकारी को अधिक ही ज्ञान होता है।

तदनुसार यहां प्रकृत में विमल प्रतिभाशाली हृदय वाला व्यक्ति अधिकारी है। उसकी "ग्रीवाभंगाभिरामम्" इस शाकुन्तलोक्त "उमापि नीलालक" "हरास्तु किञ्चत्" इस कुमार संभवोक्त वाक्य से होने वाली वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति के बाद मानस साक्षात्कार प्रतीति होती है। जिससे प्रतीति में उक्त श्लोको में उपात्त संख्या कालादि विभागों का अपहास किया गया है यानी परिवर्त्तन कर दिया है। उस शाकुन्तल वाक्य से होने वाली प्रतीति में जो मृगशिशु का भान होता है उसका कोई विशेष रूप वहां नही है अतः वह भीत है ऐसा ज्ञान

अभिनवभारती

स्थो वा' इत्यादिप्रत्ययेभ्यो दुःखसुखादिकृतहानादिबुध्यन्तरोदयनियमवत् तया विघ्न-बहुलेभ्यो विलक्षणं निर्विघ्नप्रतीतिग्राह्यं साक्षादिव हृदये निविशमानं चक्षुषोरिव विपरिवर्तमानं भयं भयानको रसः। तथाविधे हि भये नात्माऽत्यन्तं तिरस्कृतो न विशेषत उल्लिखितः। एवं परोऽपि।

तत एव न परिमितमेव साधारण्यम्। अपि तु विततम्। व्याप्तिग्रह इव धूमाग्न्योः। भयकम्पयोरेव वा। तदत्र साक्षात्कारायमाणत्वे परिपोषिका नटादि-सामग्री। यस्यां वस्तुसतां काव्यार्पितानां च देशकालप्रमात्रादीनां नियम-हेतूनामन्योन्यप्रतिबन्धबलादत्यन्तमपसरणे स एव साधारणीभावः सुतरां पुष्यति।

मधुसूदनी

मुदासितव्यमित्यादिबुद्धिभेदस्य उदयः। परोऽपि न। तत एव अत्यन्ततिरस्कारा-भावात् विशेषत उल्लेखाभावादेव।

रामायण महाभारतादिषु स देशः स कालः स प्रमाता आसीत्। इदानीमयं देशः अयं कालः अयं प्रमाता अस्ति। अनयोर्भूतवर्तमानयोः कथं संगतिः। नास्ति संगतिरिति प्रतिबन्धाद् हेतोर्नियामकानामत्यन्तमपसारणं क्रियते। धूमाग्न्योः व्याप्तिग्रह इव नियतसाहचर्यज्ञानमिव नियतसाहचर्यवतां समेषां पदार्थानां व्याप्तिज्ञानं भवति। तस्मादत्र नाट्ये काव्ये च भयकम्पयोः साक्षात्कारायमाणतायां नटादि सामग्री पोषिका सहायिका।

बालक्रीड़ा

हुआ। उसके बाद वास्तविक त्रासक के अभाव में देश एवं काल से अनालिंगित भय का ही केवल ज्ञान होता है। इसीलिए "मैं भीत हूं" "यह भीत है" यह शत्रु है, यह मित्र है, यह मध्यस्थ है इन प्रत्ययों से नियम पूर्वक होने वाली दुःख के त्याग सुख के उपादान की बुद्धि के उदय होने के कारण विघ्नवहुल विलक्षण किन्तु निर्विघ्न प्रतीतियों से ग्राह्य साक्षात् हृदय में घुस रहा सा आँखों के सामने घूम रहा सा भय स्थायी भाव ही भयानक रस है। इस प्रकार के भय में न तो आत्मा अत्यन्त तिरस्कृत होता है और न विशेष रूप से उल्लिखित होता है। इस प्रकार आत्मा ही नही पर भी शत्रु भी। और अपि शब्द से संगृहीत उदासीन भी न तो अत्यन्त तिरस्कृत होता है और न विशेषरूप से उल्लिखित होता है।

इसीलिए परिमित देश काल अवस्था एवं पात्र से परिच्छिन्न साधारण्य नही होता है अपितु विस्तृत साधारणीभाव होता है। जैसे धूम एवं अग्नि में अथवा भय एवं कम्प में व्याप्ति ग्रह देश काल आदि से आलिंगित नही होता है। जिसके फल स्वरूप यहां प्रत्यक्ष देखे जाने वाले नाटकों में नट वगैरह उपकरण परिपोषक ही होते हैं। जिस सामग्री में वस्तुतः विद्यमान और काव्य से समर्पित देश काल प्रमाता एवं अवस्था विशेष रूप नियम के हेतुओं का परस्पर के प्रतिबन्ध के कारण अपसरण हो काता है तभी वह उपर्युक्त साधारणी भाव सुतरां पुष्ट हो जाता है। अतएव सभी सामाजिकों की एक रूप से होने वाली

अभिनवभारती

अत एव सर्वसामाजिकानामेकघनतयैव प्रतिपत्तिः सुतरां रसपरिपोषाय। सर्वेषामनादिवासनाचित्रीकृतचेतसां वासनासंवादात्। सा चाविघ्ना संवित् चमत्कार स्तज्जोऽपि कम्पपुलकोल्लुकसनादिर्विकार चमत्कारः। यथा—

"अज्ज वि हरी चमक्कइ कह विण मंदरेण दळिआइं।
चंदकळादळसच्छीआइं ळच्छीए अंगाइं॥"

तथा हि—स चातृप्तिव्यतिरेकेणाविच्छिन्नो भोगावेश इत्युच्यते। भुञ्जानस्याद्भुतभोगस्पन्दाविष्टस्य च मनःकरणं चमत्कार इति। स च साक्षात्कारस्वभावो मानसोऽध्यवसायो वा सङ्कल्पो वा स्मृतिर्वा तथात्वेन स्फुरन्नस्तु। यदाह—

मधुसूदनी

एकघनतया समानरूपतया। तज्जः अविघ्नसंविदा जायमानो विकारोऽपि। अपिर्भिन्नक्रमः। उल्लुकसनमुत्फालनम्।

अज्जेति। अद्यापि हरेश्चमत्कृतिः, कथमपि न मन्दरेण दलितानि।

चन्द्रकलादलसश्रीकाणि लक्ष्म्या अंगानि।

समुद्रमन्थनसमये मकराचलेन लक्ष्म्या अंगानि कथमपि न दलितानि। यतः तानि चन्द्रकलाया दलवत् सश्रीकाणि सच्छायावन्ति सन्ति। इत्येवमद्यापि हरेश्चमत्कृतिरस्ति।

अत्र व्यतिरेकोऽभावः। तृप्तेरभावास्याभावः तृप्तिरेव। तया अविच्छिन्नः विच्छेदमप्राप्तः। तृप्तेर्न परमं किञ्चिदित्यनुसारं तृप्तस्य प्राणिनः वस्तुतो विरतिः। परं यत्र तृप्तेर्भवनेऽपि। तत्तद्वस्तुनः सकाशाद् विरतिर्नहि भवति स चमत्कारः भोगावेशः। इति उच्यते कथ्यते।

बालक्रीड़ा

प्रतिपत्ति अवश्य ही रस के परिपोष की हेतु हो जाती है। क्योंकि अनादि वासनाओं से चित्रीकृत चित्तवाले अर्थात् जिनके हृदयों में अनादिकाल से वासनाएँ अंकित हो गयी हैं ऐसे सभी सहृदयों की वासनाओं के संवाद से वह अविघ्ना संवित् होती है चमत्कार होता है। उस चमत्कार से पैदा होने वाले कम्प पुलक (रोमाञ्च) एवं उल्लुकसन उत्फालन आदि विकार भी चमत्कार हैं। जैसे—

अद्यापि हरेश्चमत्कृतिः कथमपि न मन्दरेण दलितानि।
चन्द्रकलादलसेश्रीकाणि लक्ष्म्या अंगानि।

हरि को चमत्कार हो रहा है कि समुद्र सन्थन के समय मदराचल के द्वारा लक्ष्मी के अंग किसी भी प्रकार से किसी भी अंश मे दलित नही हुए। क्योंकि वे अंग आज भी चन्द्रकला के खण्ड की तरह सश्रीक हैं शोभा सम्पन्न हैं।

प्रकृत में व्यतिरेक शब्द का अभाव अर्थ है। तृप्ति के अभाव के अभाव से जो चमत्कार विच्छिन्न नही हो जाता है किन्तु वरावर अनुस्यूत रहता है। तृप्ति हो जाने से जब

अभिनवभारती

"रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुको भवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः ।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥" (शाकु ५—) इत्यादि ।

अत्र हि स्मरतीति या स्मृतिरुपदर्शिता सा न तार्किकप्रसिद्धा । पूर्वमेतस्यार्थस्याननुभूतत्वात् । अपि तु प्रतिभानापरपर्यायसाक्षात्कारस्वभावेयमिति । सर्वथा

मधुसूदनी

भुञ्जानस्य भोगे संलग्नस्य अथवा अद्भुत भोगे ईषदाविष्टस्य मानसी क्रिया चमत्कारः ।

अत्र करणशब्दस्य क्रिया अर्थः । अतः मनसः क्रिया इत्यर्थः ।

रम्याणीति । यत्पर्युसुको भवति तत्तस्मात् पर्युत्सुकीभवनात् । भावतः भावनारूपेण स्थिराणि अन्तःकरणे स्थितानि जननान्तरे अनुभूतानि सौहृदानि । अबोधपूर्वमज्ञातपूर्वं यथा स्यात्तथा चेतसा स्मरति । इत्यन्वयः ।

तार्किक प्रसिद्धा स्मृतिः तान्यक्षराणि हृदये किमपि ध्वनन्ति इत्येवमप्रमुष्टतत्ताका भवति । अत्र तु प्रमुष्टतत्ताका सा इत्येतदुच्यते—पूर्वं स्मरणात्माक एतस्यार्थस्य अनुभूतत्वाभावात् । यस्यां प्रतीतौ । इयं स्मृतिः ।

बालक्रीड़ा

मानव उस अंश से विरत हो जाता है वह चमत्कार भोगावेश कहलाता है । भोग करने वाले या अद्भुत भोग में ईषत् आविष्ट होने वाले व्यक्ति की मानसिक क्रिया (यहाँ मनः करण में करण शब्द का क्रिया अर्थ है) चमत्कार है । वह चमत्कार साक्षात्स्व भाव है या मानस अध्यवसाय है या संकल्प है जिसका उस २ रूप में स्फुरण होता है । अच्छा । जो हो । जैसा कि कहा है—

रमणीय वस्तु को देखकर और मधुर शब्दों को सुनकर सुख में विभोर भी प्राणी जो उत्कण्ठा से आकुल हो जाता है वह उत्कण्ठित होना बतलाता है कि जन्मान्तर में अर्जित सौहार्द जो भावनारूप से अन्तः करण में स्थिर हैं स्थित हैं उनको अनजान में अर्थात् पहले कभी अनुभूत नही है इस तरह याद करता है ।

यहाँ स्मरति पद से जिस स्मृति का उल्लेख किया है वह तार्किकों की स्मृति नही है । क्योंकि पूर्व में अनुभूत विषय कोई नही है । अपितु यह प्रतिभान जिसका अपर पर्याय है ऐसी साक्षात्कारस्वभाव वाली है । वह थी या वह था ऐसी अप्रमुष्टतत्ताका स्मृति तार्किक प्रसिद्ध होती है । यह स्मृति प्रमुष्टतत्ताका है अतः यह प्रतिभान साक्षात्कार है ।

सर्वथा यह वह आस्वादात्मा प्रतीति है जिसमें रति का ही केवल भान होत' हैं । इसीलिए विशेषान्तर अन्य विलक्षणताओं से उपहित आच्छन्न नहीं होने से अर्थात् उनसे विलग

अभिनवभारती

तावदेषास्ति प्रतीतिरास्वादात्मा यस्यां रतिरेव भाति। तत एव विशेषान्तरानुपहितत्वात्सा रसनीया सती न लौकिकी न मिथ्या नानिर्वाच्या न लौकिकतुल्या न तदारोपादिरूपा। तथैव चोपचयावस्थासु देशाद्यनियन्त्रणादनुकारोऽप्यस्तु। भावानुगामितया करणात् विषयसामग्र्यपि भवतु विज्ञानवादावलम्बनात्। सर्वथा रसनात्मकवीतविघ्नप्रतीतिग्राह्यो भाव एव रसः।

मधुसूदनी

विशेषान्तरैरन्यविलक्षणताभिः। अनुपहितत्वात् अनाच्छन्नत्वात्।

उपचयावस्थासु भावस्य भावानां वा पूर्णताप्राप्तिदशासु देशकालपात्रादिभिरनियन्त्रणात् सम्बन्धविशेषस्वीकारपरिहारनियमाभावात् रतेरनुकारोऽप्यस्तु। अयं भावः। विभिन्नदेशकालोत्पन्ना व्यक्तिः तथोत्पन्नाया व्यक्तेरनुकरणं कर्तुमशक्तः। यतो हि अनुकरणं नाम पश्चात्करणं वा सदृशकरणं वा। अतोऽनुकरणीयं वस्तु यावत्सोऽनुकर्त्ता स्वयं न पश्यति तावत्तथा करणं तेन दुःशकमिति। देशकालादेर्भेदात् अनुकार्यकर्मकमनुकर्त्तृकर्मकं स्वयं दर्शनमसंभवग्रस्तम्। परं यदि तन्नियन्त्रणं परिह्रियेत तदि तदेकनिष्ठव्यवहारोऽपि सुपरिचित इति कृत्वा परेण व्यवह्रियमाणः अनुकारः स्यात्। अथवा अनुपदार्थः अनुगामिता। कस्यानुगामितेति विचारे भावानामनुगामिता। करणं नाम क्रिया। ततश्च भावानामनुगामितया क्रियायाः सद्भावात् भावरूपविषयसामग्री अपि अनुकारो भवतु। कथमेतदित्याह विज्ञानवादालम्बनात्। विज्ञानवादे यथा वस्तुनि तज्ज्ञाने च भेदो नास्ति। विज्ञानवादिनो धर्मकीर्तेर्मते नीलवर्णे नीलवर्णज्ञाने भेदो नास्ति द्वयोः पृथक् पृथक् अस्तित्वं नास्ति। इत्यर्थः। तथैव भावानुगामिन्यां क्रियायां भावे च भेदो नास्ति। अर्थात् अनुगम्यमानक्रियायामनुगमनीयभावेषु च पृथक् पृथक् भेदो नास्ति। एवं च सर्वथा अनुकारोऽस्तु मास्तु वा सर्वप्रकारेण रसनात्मिकया वीतविघ्नया प्रतीत्या ग्राह्यो भाव एव रसः।

बालक्रीड़ा

होकर रसनीया हुई वह रति न तो लौकिकी है न वह मिथ्या है न वह अनिर्वाच्या सत् एवं असत् से विलक्षण है न वह लौकिकी के जैसी है और न वह अन्यारोपरूपा है।

उसी तरह व्यभिचारियों से उपचित स्थायी रस बनता है अतः स्थायी की उपचय अवस्थाओं में देश एवं काल आदि के नियन्त्रण नहीं होने से अनुकार भी वह रति हो सकती है। यहाँ का भाव यह है कि भिन्न देश काल में उत्पन्न होने वाला व्यक्ति भिन्न देश काल में पैदा होने वाले व्यक्ति, का अनुकरण नहीं कर सकता है। क्योंकि अनुकरण उस वस्तु को स्वयं देखें विना नहीं हो सकता है। देश काल के भेद होने पर अनुकार्य का अनुकर्त्ता के द्वारा स्वयं देखना संभव नहीं है। अतः हाँ यदि देश काल का नियन्त्रण हटा दिया जाय तो सुपरिचित एवं तदेकनिष्ठ व्यवहार को दूसरे के द्वारा किए जाने पर अनुकरण ही कहेंगे।

इस अनुकरण में दो शब्द हैं अनु और करण। उसमें प्रश्न होता है कि किसके अनु। तब कहा कि भावों की अनुगामिता। करण माने क्रिया। वह क्रिया भावों के सम्बन्ध से होती

अभिनवभारती

तत्र विघ्नापसारका विभावप्रभृतयः । तथा हि—लोके सकलविघ्नविनिर्मुक्ता संवित्तिरेव चमत्कारनिर्वेशरसनास्वादनभोगसमापत्तिलयविश्रान्त्यादिशब्दैरभिधीयते । विघ्नाश्चास्यां प्रतिपत्तावयोग्यताः, संभावनाविरहो नाम, स्वगतत्वपरगतत्वनियमेन देशकालविशेषावेशो, निजसुखादिविवशीभावः, प्रतीत्युपायवैकल्यं, स्फुटत्वाभावो, अप्रधानता, संशययोगश्च ।

तथाहि—संवेद्यमसंभावयमानः संवेद्ये संविदं विनिवेशयितुमेव यो न शक्नोति का तत्र विश्रान्तिरिति प्रथमो विघ्नः । तदपसारणे हृदयसंवादो लोक-

मधुसूदनी

वीतविघ्नेति स्मारितानां विघ्नानां वीतिरपसारणं कैर्भवति तथा तेऽपि के इति दर्शयितुमाह—विघ्नानामपसारणं विभावादिभिः । वस्तुतस्तु विभावनादिव्यापारबलोद्भूतसाधारणीकरणेन तदपसारणं भवति । विघ्नाश्च अस्यां प्रतीतौ रसनात्मिकायां अयोग्यताः । ताश्च सप्त । संभावनाविरहेत्यादयः ।

बालक्रीड़ा

है अतः अनुगमनीय भावरूपी विषय सामग्री में भी वह अनुकरण रह सकता है । विज्ञानवाद में ज्ञान का विषय ज्ञान से पृथक् नहीं होता है । अतः विज्ञान वाद के आलम्बन के फल स्वरूप रसनात्मक वीत विघ्न प्रतीति से ग्राह्य यानी प्रतीतिका विषय भाव ही सर्वथा रस है ।

उस रसनात्मक प्रतीति में होने वाले विघ्नों का अपसारण विभाव अनुभाव एवं व्यभिचारी भाव करते हैं । लोक में सकल विघ्नों से विनिर्मुक्त संवित्ति को ही चमत्कार साधारण निर्वेश [निर्वेशो भृतिभोगयोरिति विश्वः] रसन, आस्वादन (साहित्यिक दृष्टि में) भोग (सांख्य दृष्टि में) समापत्ति (विशिष्टाद्वैती के मत में) लय (संगीतज्ञों के मत में) विश्रान्ति (अद्वैती के मत में) शब्दों से कहते हैं । इस प्रतीति की अयोग्यताएँ इसमें विघ्न हैं । जिनमें प्रथम अयोग्यता संभावना का विरह अभाव, द्वितीय स्वगतत्व या परगतत्व के नियमन से देश विशष एवं काल विशेष का आवेश, तृतीय निजसुखादि के विवश हो जाना, चतुर्थ प्रतीति के उपाय कारणों में विकलता असम्पूर्णता, पंचम स्फुट प्रतीति नहीं होना, षष्ठ प्रतीति में अप्रधानता एवं सप्तम उसमें संशय का होना ।

अब उनको तथाहि से दिखाते हैं—। ज्ञान इच्छा कृति एवं द्वेष ये ४ सविषय पदार्थ हैं । जब कोई विषय ज्ञेयादि रूप में रहेगा तभी ज्ञानादि का उद्भव होगा अन्यथा नहीं अतः ज्ञानादि को विषय मुख प्रेक्षी कहा जाता है । इसीलिए आचार्य लिखते हैं कि संवेद्य विषय की असंभावना हो अर्थात् उसमें संभावना का विरह हो ऐसी दशा में जब विषय में संवित् ज्ञान का विनिवेश करने के लिए कोई भी समर्थ नहीं हो सकता है । तब उसमें विश्रान्ति हो जाने की "ज्ञाने परिसमाप्यते" ज्ञान में सबकी परिसमाप्ति हो जाती है इस सिद्धान्त की संगति होने की कौन आशा है । अतः यह रसनात्मक प्रतिपत्ति में यह प्रथम विघ्न है ।

उस विघ्न को हटाने के लिए कहते हैं कि उसके अपसरण के लिए सर्व लोक साधारण वस्तुओं के विषय में जनता के हृदय का संवाद उपाय है । और अलोक सामान्य

अभिनवभारती

सामान्यवस्तुविषयः। अलोकसामान्येषु तु चेष्टितेष्वखण्डितप्रसिद्धिजनितगाढारूढ-प्रत्ययप्रसरकारी प्रख्यातरामादिनामधेयपरिग्रहः। अत एव निस्सामान्योत्कर्षोपदेश-व्युत्पत्तिप्रयोजने नाटकादौ प्रख्यातवस्तुविषयत्वादि नियमेन निरूपयिष्यते। न तु प्रहसनादाविव। तच्च स्वावसर एव वक्ष्याम इत्यास्तां तावत्।

स्वैकगतानां च सुखदुःखसंविदामास्वादे यथासंभवं तदपगमभीरुतया वा तत्परिरक्षाव्यग्रतया वा तत्सदृशार्जिजीषया वा तज्जिहासया वा तत्प्रचिख्यापयिषया वा तद्गोपनेच्छया वा प्रकारान्तरेण वा संवेदनान्तरसमुद्गम एव परमो विघ्नः।

परगतत्वनियमभाजामपि सुखदुःखानां संवेदने नियमेन स्वात्मनि सुखदुःख-मोहमाध्यस्थ्यादिसंविदन्तरोद्गमनसंभावनादवश्यंभावी विघ्नः। तदपाकरणे 'कार्यो

मधुसूदनी

अखण्डितेति। अखण्डिता निर्बाधा या प्रसिद्धिः। तया जनितो यो गाढं दृढं यथास्यात्तथारूढो निबद्धः प्रत्ययस्तस्य प्रसारकारी। निःसामान्योत्कर्षस्य उपदेशः। नानाविधा व्युत्पत्तिश्च प्रयोजनं यत्र तत्र नाटकादौ।

तदपेति। तदपगमभीरुता, तत्परिरक्षाव्यग्रता, तस्य सदृशस्य च आर्जिजीषा इत्यत्र तत्पदार्थः सुखं, तज्जिहासा, तत्प्रचिख्यापयिषा, तद्गोपनेच्छा इत्यत्र तत्पदार्थो दुःखम्।

नियमेन परगतसुखदुःखानां मोहमाध्यस्थादीनां संवेदने यथासंख्यं नियमने

बालक्रीड़ा

सर्व लोक के लिए अशक्य अतएव असाधारण चेष्टाओं समुद्र लंघनादि के विषय में अखण्डित प्रसिद्धि अविच्छिन्न प्रख्याति से जनित एवं गाढ आरूढ दृढ़ बद्धमूल प्रत्यय (प्रत्ययोऽधीनशपथ-ज्ञानविश्वासहेतुषु इस कोष के अनुसार) विश्वास के प्रसर को करने वाले अर्थात् नाम लेते ही झटिति हृदय को मनवा देने वाले सर्व लोक विख्यात राम सीतादि हनुमान् सुग्रीवादि नामों का परिग्रहण उपाय है। अतएव प्रख्यात रामादि के नाम का ग्रहण उपाय है इसलिए निःसामान्य उत्कर्ष साधारण जनता के बाह्यस्तर की उन्नति के बारे में उपदेश "ऐसे ऐसे आचरणों से ही मनुष्य का उत्कर्ष होता है इत्यादि" मुख्य शिक्षा एवं व्युत्पत्ति अर्थात् उपदेश से उत्पन्न विशिष्ट ज्ञान करा देना ही प्रयोजन है जिसका ऐसे नाटकादि में नियम से प्रख्यात वस्तु प्रसिद्ध इतिवृत्त एवं विषय नायक नायिका आदि का निरूपण करेंगें। प्रहसन एवं प्रकरण आदि में नहीं। इसको अपने अवसर में ही कहेंगे। इसलिए बस रहने दिया जाय।

अपने में ही रहने वाली सुखमयी एवं दुःखमयी संवित् के आस्वाद में यथासंभव उसके अपगम अपाय के भय से, या उसकी परिरक्षा में व्यग्र होने से या उसके जैसी दूसरी वस्तु के अर्जन करने की इच्छा से या उसके छोड़ देने की इच्छा से या उसको प्रख्यात कर देने की इच्छा से या उसको छिपा देने की भावना से अथवा अन्य प्रकार से भिन्न भिन्न संवेदनाओं का उद्गम होना ही परम विघ्न है।

अभिनवभारती

नातिप्रसङ्गोऽत्र पूर्वरङ्गविधिं प्रति (ना. शा. ५-१६२) इत्यादिना पूर्वरङ्गानिगूहनेन "नटी विदूषको वापि" इति लक्षितप्रस्तावनावलोकनेन च यो नटरूपताधिगमस्तत्पुरस्सरः प्रतिशीर्षकादिना तत्प्रच्छादनप्रकारोऽभ्युपायः अलौकिकभाषादिभेदलास्याङ्गरङ्गपीठमण्डपगतकक्ष्यादिपरिग्रहनाट्यधर्मिसहितः। तस्मिन् हि 'तस्यैव त्वैतस्यैव च सुखं वा दुःखं वा इति भवति न वा भवति। प्रतीतिस्वरूपस्य निह्नवात्। रूपान्तरस्य चारोपितस्य प्रतिभासंविद्विश्रान्तिवैकल्येन स्वरूपे विश्रान्त्यभावात्। सत्ये तदीयरूपनिह्नवमात्र एव पर्यवसानात्। ततः स एष स्वपरनियतताविघ्नापसरणप्रकारो व्याख्यातः।

निजसुखादिविवशीभूतश्च कथं वस्त्वन्तरे संविदं विश्रामयेदिति तत्प्रत्यूहव्यपोहनाय प्रतिपदार्थनिष्ठैः साधारण्यमहिम्ना सकलभोग्यत्वसहिष्णुभिः शब्दादिविषय-

मधुसूदनी

स्वात्मनि तादृशसंविदन्तरोद्गमनसंभावनात्। तदपसारणे विघ्नदूरीकरणे। पूर्वरंगानिगूहनप्रस्तावनावलोकनाभ्यो यो नटरूपताधिगमः। तस्मिन् नटरूपताप्रच्छादनप्रकाराभ्युपाये सति। तस्यैव रामस्यैव। अत्रैव प्रसंगे। एतस्यैव नटस्यैव। भवति न वा भवति। कुतः इत्याह प्रतीति। स्वेति। रामरूपायाः प्रतीतेः स्वरूपस्य निह्नवात् आच्छादनात् आरोपितस्य रूपान्तरस्य सद्भावे प्रतिभासंविद्विश्रान्तीनां वैकल्येन स्वरूपे विश्रान्तेरभावात्। सुखे वा दुःखे वा सत्ये सति गतिशीर्षकादिना रामीयरूपस्य केवले निह्नवे पर्यसानं वर्त्तते। ततः एवंविधव्याख्यानात्। सुखादीनां नियमेन स्वगतत्वपरगतत्वरूपविघ्नानामपसारणे प्रकारो व्याख्यातः।

बालक्रीड़ा

दूसरों के सुख एवं दुःखों के संवेदन के समय नियम से अपने में सुख दुःख मोह एवं माध्यस्थादि भिन्न ज्ञानों के उद्गमन की संभावना से अवश्य ही विघ्न होगा। उसके अपाकरण के लिए "यहाँ पूर्वरंग में नृत्य गीत आदि का अतिशय प्रसंग नहीं करना चाहिए" इत्यादि से लक्षित पूर्वरंग के अनिगूहन प्रकटन एवं नटी अथवा विदूषक" इस तरह प्रस्तुत प्रस्तावना के अवलोकन से जो अलौकिक (लोक में जिनका प्रयोग नहीं होता है ऐसी) भिन्न भिन्न भाषायें, लास्य के दशविध अंग, रंगपीठ, रंगमण्डप, की कक्ष्याओं का परिग्रह एवं नाट्य धर्मियों के सहित नट रूपता का अधिगम और उसके साथ साथ प्रतिशीर्षक मुकुटादि के द्वारा उसके छिपाने का प्रकार उपाय है। उस उपाय के उपयोग करने पर प्रतीति के स्वरूप का निह्नव हो जाने के कारण उसी का या इसी का, उसी में या इसी में सुख है अथवा दुःख है ऐसी परिस्थिति नहीं रहती है। और आरोपित रूपान्तर की प्रतिभा, संवित् की विश्रान्ति के वैकल्य से स्वरूप में विश्रान्ति के नहीं होने से। सचमुच केवल उसके स्वरूप के छिपाने म पर्यवसान समाप्ति होने से। इस प्रकार ये सब मुनि ने स्वनियत एवं परनियतरूपी विघ्नों के अपसारण करने के प्रकार की व्याख्या की है।

अभिनवभारती

मयैरातोद्यगानविचित्रमण्डपपद्विदग्धगणिकादिभिरुपरञ्जनं समाश्रितम्। येनाहृदयोऽपि हृदयवैमल्यप्राप्त्या सहृदयीक्रियते। उक्तं हि "दृश्यं श्रव्यं च" (ना. शा १-११) इति। अन्यत्र—आसीनसंपाठ्य-पुष्पशकटिका-पुष्पगान्धिकादि लोके श्रुतं दृष्टम्। न च तन्न किञ्चित्। कथञ्चित्संभाव्यत्वात् इति। स एष सर्वो मुनिना साधारणीभावसिद्ध्या रसचर्वणोपयोगित्वेन परिकरबन्धः समाश्रित इति तत्रैव स्फुटीभविष्यतीति तदिह तावन्नोद्यमनीयम्।

धुमसूदनी

शब्दादीत्यादिना शब्दरूपश्रव्यपठ्यातिरिक्तरूपभू दृश्यचित्रयोः संग्रहः। विषयपदस्यार्थः सामग्री सा च शब्दरूपा रूपरूपा। मयट् प्रत्ययार्थः प्राचुर्यम्।

आसीनसंपाठयं नाम। सभास्थले संधीभूय आसीनेषु सत्सु वादक्रीडार्थं पूर्वनिर्धारितग्रन्थभागं कश्चिदेकोऽग्रसरः सन् पठति तदनुसारमन्योऽपि पठति। इति। पुष्पशकटिका नाम जनताया आमोदप्रमोदार्थं पुष्पाणि निमित्तीकृत्य शकटिकाया निर्माणम्। पण्यगान्धिकमपि गन्धप्रधानद्रव्याणां विक्रयार्थं तादृशद्रव्याणि प्रस्तुतानि क्रियन्ते यत्र सा द्विकर्णिका भाषायां दुकानेति ख्याता पण्यानां गान्धिकं पण्यमिति आभाणकात्।

बालक्रीड़ा

जो अपने निजी व्यक्तिगत सुख एवं दुःख के वशीभूत है वह वस्त्वन्तर दूसरी तरफ म संविद अपनी मनोवृत्ति को कैसे विश्रान्त कर सकता है लगा सकता है। अपनी मनोवृत्ति को स्वन्तर में विश्रान्त नहीं कर सकना एक प्रत्यूह है। नाटकादि दृश्य के देखने में, पठ्य काव्य के पढ़ने में एवं श्रव्य काव्य के सुनने में मन के योग के अभाव में उनसे होने वाले रस का आस्वादन होना असम्भव है अतः इस प्रत्यूह विघ्न के व्यपोहन अपसार के लिए शब्द श्रव्य पठ्य एवं रूप दृश्य के विषयों की सामग्री का प्राचुर्य (यहाँ मयट् प्रत्यय प्राचुर्य अर्थ में हैं) जहाँ है ऐसे आतोद्य बाजे एवं गाने, तथा विचित्र अनेक शैली से बने हुए मण्डपपद रंगमण्डप-स्थान, और उनमें विदग्ध चतुर नट् तथा गणिकादि; जो प्रत्येक पद एवं अर्थ में रहन वाले साधारण्य की महिमा से सकल जनता की भोग्यता को सहन कर सकते हैं। ऐसे उपरंजन मनोरंजन का आश्रय लिया। जिससे हृदय शून्य भी व्यक्ति हृदय की विमलता को प्राप्त कर सहृदय बना दिया जाता है। इसीलिए कहा कि हम लोग ऐसे प्रेक्षणीय को चाहते हैं जो दृश्य एवं श्रव्य हो। और भी आसीन, सभास्थल में एकत्रित होकर बालक्रीड़ा के लिए पूर्व निर्धारित ग्रन्थ को एक व्यक्ति के अग्रसर होकर पढ़ने पर दूसरा व्यक्ति भी उसके साथ उसी को पढ़ता है। ऐसे आसीन संपाठ्य को सुना जाता है और पुष्पशकटिका पुष्पों को निमित्त बनाकर शकटिका का जनता के आमोद प्रमोद के लिए निर्माण को एवं पण्य गान्धिक गन्ध प्रधान द्रव्य जहाँ बेचने के प्रस्तुत किये गये हों ऐसी द्विकर्णिका दुकानों को देखा जाता है। वे आसीन संपाठयादि कुछ नहीं है कुछ तत्त्व वे नहीं रखते हैं प्रयोजन शून्य हैं ऐसी बात नहीं है। उनमें भी किसी प्रकार

अभिनवभारती

किञ्च प्रतीत्युपायानामभावे कथं प्रतीतिः। अस्फुटप्रतीतिकारिशब्दलिङ्गसम्भवेऽपि न प्रतीतिर्विश्राम्यति। स्फुटप्रतीतिरूपप्रत्यक्षोचितप्रत्ययसाकाङ्क्षत्वात्।

यथाऽऽहुः 'सर्वा चेयं प्रमितिः प्रत्यक्षपरा' (न्याय सू. भा. १-३) इति।

मधुसूदनी

अस्पुटेति। शाब्दबोधे शब्दात् अर्थस्य, अनुमाने लिंगात् लिंगिनः (यथा धूमाद् वह्नेः) परोक्षज्ञानं भवति स्फुटा प्रत्यक्षा प्रतीतिर्न। प्रत्यये हेतौ साकांक्षत्वात्। "प्रत्ययोऽधीनशपथज्ञानविश्वासहेतुषु" इत्यमरः।

सर्वा सर्वविधा प्रमितिः अनुमितिः उपमितिः शाब्दी मितिश्च प्रत्यक्षपरा प्रत्यक्षाधीना। धूमवह्न्योः महानसचत्वारगोष्ठेषु नियतसाहचर्यस्य प्रत्यक्षज्ञानोत्तरमेव धूमाद् वह्नेरनुमितिः। अतोऽनुमितिः प्रत्यक्षपरा। उपमानमपि संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञानमपि प्रसिद्धस्य पूर्वं प्रत्यक्षीकृतस्य गवादेः साधर्म्यात् सादृश्याद भवति अस्य पुरोऽवस्थितस्य पिण्डस्य गवयशब्दः संज्ञेति प्रतीतिर्जायतेऽत उपमितिः प्रत्यक्षपरा। शाब्दी प्रमितिः प्रत्यक्षानुमानमूला। शब्दस्य दृष्टादृष्टार्थभेदात् द्विविधत्वस्वीकृतेः। दृष्टार्थे प्रत्यक्षं मूलम्, अदृष्टार्थेऽनुमानं तदित्। अनुमानस्य प्रत्यक्षमूलत्वमुक्तमेवेति सर्वा प्रमितिः प्रत्यक्षपरा।

बालक्रीड़ा

का प्रयोजन है। इनसे कैसा प्रयोजन सिद्ध होता है उसे बताते हैं कि इन सबों को अर्थात् दृश्य पुष्पशकटिका पण्यगान्धिक एवं श्रव्य आसीनसंपाठय, नाटकादि दशरूपक एवं श्रव्य काव्य पठय काव्य को मुनि ने साधारणीभाव की सिद्धि के द्वारा रस की चर्वणा के उपयोगी के रूप में परिकरबन्ध बनाया है सहायक बनाकर समाश्रयण किया है। इत्यादि सबका स्फुटीकरण आगे किया जायगा अतः यहाँ पर उनके विषय में कुछ प्रयत्न नहीं करना है।

यदि प्रतीतियों के लिए उपाय नहीं होंगे तो कोई भी प्रतीति कैसे होगी। अस्फुट प्रतीति के जनक शब्द एवं लिंग अनुमापक हेतु के रहने पर भी प्रतीति की विश्रान्ति नहीं होती है। क्योंकि स्पष्ट प्रतिपत्तिरूप प्रत्यक्ष साक्षात्कार के अनुकूल प्रत्यय हेतुओं की आकांक्षा बनी रहती है। (प्रत्ययोऽधीनशपथज्ञानविश्वासहेतुषु) यह अमर कोष है।

जैसा कि कहते है ये सभी प्रकार की प्रमितियाँ अनुमिति उपमिति एवं शब्द ज्ञान प्रत्यक्ष परक है यानी साक्षात्कार के अधीन है। क्योंकि धूम एवं वह्नि के रसोई चौराहे एवं गौशाला में नियत साहचर्य के प्रत्यक्ष ज्ञान होने पर ही धूम से वह्नि का अनुमान होता है। अतः अनुमिति प्रत्यक्ष के अधीन है। उपमान भी अनुमान सजातीय ही है अतः उपमिति अनुमिति की तरह प्रत्यक्षपरा है। और शब्द की प्रवृत्ति में तो प्रत्यक्ष तथा अनुमान दोनों मूल में हैं अतः सर्वा प्रमितिः प्रत्यक्षपरा है यही सिद्धान्त है। अपने द्वारा साक्षात्कार किये हुए पदार्थ के विषय में सैंकड़ों आगम (शब्द) सैंकड़ों और अनुमान अन्यथा भाव नहीं कर सकते हैं यह सभी के स्वानुभव से सिद्ध है [अलात अंगारे को कहते हैं।

अभिनवभारती

स्वसाक्षात्कृते आगमानुमानशतैरप्यनन्यथाभावस्य स्वसंवेदनात् । अलातचक्रादौ साक्षात्कारान्तरेणैव बलवता तदवधारणादिति लौकिकस्तावदयं क्रमः । तस्मात्तदुभयविघ्नविघातेऽभिनया लोकधर्मिवृत्तिप्रवृत्त्युपस्कृताः समभिषिच्यन्ते । अभिनयनं हि शब्दलिङ्गव्यापारविसदृशमेव प्रत्यक्षव्यापारकल्पमिति निश्चेष्यामः ।

अप्रधाने च वस्तुनि कस्य संविद्विश्राम्यति । तस्यैव प्रत्ययस्य प्रधानान्तरं प्रत्यनुधावतः स्वात्मन्यविश्रान्तत्वात् । अतोऽप्रधानत्वं जडे विभावानुभाववर्गे व्यभिचारिनिचये च संविदात्मकेऽपि नियमेनान्यमुखसंप्रेक्षिणि संभवतीति तदतिरिक्तः स्थाय्येव तथा चर्वणापात्रम् ।

तत्र पुरुषार्थनिष्ठाः केचित्स्थायिन इति त एव प्रधानम् । तद्यथा रतिः कामः तदनुषङ्गिधर्मार्थनिष्ठा । क्रोधस्तत्प्रधानेष्वर्थनिष्ठः । अर्थकामपर्यवसितोऽप्युत्साहः

मधुसूदनी

अलातं ज्वलदंगारकम् । "निर्वाणालातलाघवम्" हिरण्यकशिपोर्मस्तके प्रहृतं वज्रं निर्वाणालातलाघवं प्रपेदे । इति कालिदासोक्तेः । एवं च चक्राकारं ज्वलदंगारकं नाम अलातचक्रम् ।

उभयविधविघ्नयोः प्रतीत्युपायवैकल्यस्फुटत्वाभावरूपयोर्विघाते नाशक्रियायै । इत्यर्थः । संविदात्मकेऽपि व्यभिचारिवर्गे इति व्यभिचारिणां चित्तवृत्तिस्वरूपत्वात् । वृत्तौ च ज्ञानत्वोपचारात् व्यभिचारिवर्गस्य संविदात्मकत्वमुक्तम् । रतिः कामः कामानुषङ्गिनोर्धर्मार्थयोर्निष्ठा ।

बालक्रीड़ा

कालिदास का प्रयोग है निर्वाणालातलाघवम् हिरण्य कशिपु के मस्तक में इन्द्र के द्वारा प्रहृत वज्र बुते हुए अंगारों की तरह क्षुद्र हो गया] जलते हुए अंगारों के चक्रादि आकार में विषय में किये यानी देखे गये रूप बलवान् स्वसाक्षात्कार से अन्यथा भाव के नहीं होने का ही निश्चय किया है यह लौकिक क्रम है । इसलिए प्रतीत्युपायवैकल्य एवं स्फुटत्वाभाव इन दोनों विघ्नों के हट जाने पर लोकधर्मी माने इतिवृत्त और वृत्ति तथा प्रवृत्तियों से उपस्कृत सहकृत अभिनयों का अभिषेक किया जाता है । यह अभिनय, शब्द एवं लिंग रूप व्यापारों से विसदृश विलक्षण प्रत्यक्ष व्यापार के सदृश है । इसका निश्चय आगे करेंगें ।

(प्रधाने च कृतो यत्नः फलवान् भवति) प्रधान में ही अप्रधान में नहीं किया हुआ प्रयत्न सफल होता है इस न्याय के अनुसार किसकी प्रतीति अप्रधान में विश्रान्त होती है अर्थात् किसी की भी नहीं । क्योंकि प्रधानान्तर के पीछे दौड़ने वाली उसी प्रतीति की अपने स्वरूप में विश्रान्ति नहीं होती हुई देखी गई है । अतः नियमतः अन्य स्थायी के मुख की तरफ ताकने वाले जड विभाव एवं अनुभाव वर्ग में और वृत्तिरूप होने से संवित्स्वरूप व्यभिचारी वर्ग में भी अप्रधानत्व ही संभव है । इसलिए उनसे भिन्न स्थायी ही प्रधान रूप से चर्वणा का पात्र है ।

अभिनवभारती

समस्तः धर्मादिपर्यवसितः। तत्त्वज्ञानजनितनिर्वेदः पुष्टो विभावादिभिः मोक्षोपाय इति तावदेषां प्राधान्यम्। यद्यपि चैषामप्यन्योन्यं गुणभावोऽस्ति तथापि तत्तत्प्रधाने रूपके तत्तत्प्रधानं भवतीति रूपकभेदपर्यायेण सर्वेषां प्राधान्यमेषां वक्ष्यते। आदूरभागाभिनिविष्टदृशस्त्वेकस्मिन्नपि रूपके पृथक्प्राधान्यम्।

तत्र सर्वेऽमी सुखप्रधानाः। स्वसंविच्चर्वणरूपस्यैकघनस्य प्रकाशस्यानन्दसारत्वात्। तथा हि—एकघनशोकसंविच्चर्वणेऽपि लोके स्त्रीलोकस्य हृदयविश्रान्तिरन्तरायशून्यविश्रान्तिशरीरत्वात् सुखस्य। अविश्रान्तिरूपतैव दुःखम्। तत एव कापिलैर्दुःखस्य चाञ्चल्यमेव प्राणत्वेनोक्तं रजोवृत्तितां वदद्भिरित्यानन्दरूपता सर्वरसानाम्।

मधुसूदनी

आदूरेति। आदूरभागं दूरभागं यावत् निविष्टा दृक् येषां ते तथोक्ताः। एकघनेति। स्वातिरिक्तं पदार्थं स्वस्वरूपनिर्विष्टं कृत्वा एकशरीरं भावयति यः स एकघनः। इत्युच्यते। एकघनस्य शोकस्य संविदात्मकचर्वणे।

रजसः परिणामभूतं दुःखमिति वदद्भिः कापिलैः सांख्यदर्शनाचार्यैः दुःखस्य चाञ्चल्यमेव अविश्रान्तिरूपत्वमेव प्राणत्वेन उक्तम्। एवं दुःखस्यास्थिरतया सुखस्य च विश्रान्तिधामतया सर्वरसनामानन्दरूपतायाता।

बालक्रीड़ा

उन में कुछ स्थायी, पुरुषों के द्वारा अर्थनीय चाहने योग्य धर्म अर्थ काम एवं मोक्ष में स्थित हैं। अतः वे स्थायी प्रधान हैं। जैसे रति; काम एवं कामानुषंगी धर्म और अर्थ में रहती है। क्रुद्ध व्यक्तियों में रहने वाला क्रोध अर्थ निष्ठ है। अर्थ एवं काम में पर्यवसित होने वाला भी समस्त उत्साह धर्म में पर्यवसित होता है। विभावादि से पुष्ट हुआ तत्त्वज्ञान जनित निर्वेद मोक्ष का उपाय है। इसलिए इन स्थायियों की प्रधानता है। यद्यपि इनमें भी परस्पर में गुण प्रधान भाव है तद्यपि उस स्थायी को मुख्य मान कर बनाये हुए रूपक में वे स्थायी प्रधान होते हैं इस प्रकार रूपक के भेदों के पर्याय के अनुसार इन सब स्थायियों की प्रधानता लक्षित होगी। चारों तरफ से दूर तक दृष्टि को फैलाने वाले दूरदर्शी लोग तो एक ही रूपक में अलग अलग प्रधानता को समझते हैं।

ये सभी स्थायी भाव सुखधाम हैं। अपनी संविदात्मक चर्वणस्वरूप एकघन प्रकाश का सार निर्यास आनन्द ही है। स्वातिरिक्त पदार्थ को अपने में मिलाकर एक शरीर करने वाले को एक धन कहते हैं। तदनुसार एकघन एकशरीर शोक के संविदात्मक चर्वण के अवसर पर भी स्त्रियों के हृदय की विश्रान्ति होती है ऐसा लोक में देखा गया है। क्योंकि सुख का शरीर सुख का स्वरूप अन्तराय शून्य विश्रान्ति ही है। और दुःख अविश्रान्तिरूप है इसीलिए दुःख को रज का परिणाम मानने वाले कपिलमतानुयायी सांख्यशास्त्रियों ने चंचलता को ही उसका प्राण कहा है। अतः सभी रस आनन्दरूप है।

अभिनवभारती

किन्तूपरञ्जकविषयवशात्तेषामपि कटुतास्पर्शो किं नास्ति वीरस्येव। स हि क्लेशसहिष्णुतादिप्राण एव। एवं रत्यादीनां प्राधान्यम्। हासादीनां तु सातिशयं सकललोकसुलभविभावतयोपरञ्जकत्वमिति (न) प्राधान्यम्। अत एवानुत्तमप्रकृतिषु बाहुल्येन हासादयो भवन्ति। पामरप्रायः सर्वोऽपि हसति शोचति बिभेति परनिन्दामाद्रियते। अल्पसुखभाषितत्वेन च सर्वत्र विस्मयते। रत्याद्यङ्गतया तु पुमर्थोपयोगित्वमपि स्यादेषाम्। एतद्गुणप्रधानभावकृत एव च दशरूपकादिभेद इति वक्ष्यामः।

स्थायित्वं चैतावतामेव। जात एव हि जन्तुरियतीभिः संविद्भिः परीतो भवति। तथा हि—"दुःखसंश्लेषविद्वेषी सुखास्वादनसादरः।"
इति न्यायेन सर्वो रिरंसया व्याप्तः, स्वात्मन्युत्कर्षमानितया परमुपहसन्, अभीष्टवियोगसंतप्तस्तद्धेतुषु कोपपरवशोऽशक्तौ च ततो भीरुः, किञ्चिदार्जिजीषुरप्यनुचितवस्तुविषयवैमुख्यात्मकतयाक्रान्तः किञ्चिदनभीष्टतयाऽभिमन्यमानस्तत्तत्स्वकर्तव्यदर्शनसमुदित विस्मयः किञ्चिच्च जिहासुरेव जायते। न ह्येतच्चित्तवृत्तिवासनाशून्यः प्राणी भवति। केवलं कस्यचित्काचिदधिका चित्तवृत्तिः काचिदूना। कस्यचिदुचितविषयनियन्त्रिता कस्यचिदन्यथा। तत्काचिदेव पुमर्थोपयोगिनीत्युपदेश्या। तद्विभाव(ग)कृतश्चोत्तमप्रकृत्यादिव्यवहारः।

बालक्रीड़ा

किन्तु क्या उपरंजक यानी अपने रंग में रंग देनेवाले विषय के वश से उनमें कटुता का स्पर्श नहीं हो जाता है जैसे वीर में। क्लेश का सहना ही वीर का प्राण है। इस प्रकार रत्यादि की प्रधानता है। सकल लोक सुलभ विभाव एवं अनुभाव के होने के कारण हासादि में सातिशय उपरंजकत्व है अतः उनकी प्रधानता नहीं है। अतएव ओछे स्वभाव वाले व्यक्तियों में अधिकतर मजाक वगैरह होती है। पामर प्रायः सभी मानव हँसता है डरता है दूसरे की निन्दा में रत रहता है। थोड़ा सा सुख पाकर एवं भाषण करके जगह-जगह में आश्चर्य प्रकट करता है। इन्हीं हासादि को यदि रति वगैरह का अंग बना दिया जाय तो इनमें पुमर्थोपयोगिता भी हो सकती है। इसी गुण प्रधानभाव के कारण ही दशरूपकों में भेद होता है इस बात को आगे चलकर कहेंगे।

इतने ही भावों में स्थायित्व हो सकता है। जन्तु पैदा होते ही इतनी संविदों से व्याप्त होता है। दुःखों के संसर्ग में विद्वेष करता है और सुखों के आस्वादन में आदर करता है। इस न्याय से हरएक प्राणी रिरंसा से व्याप्त होता है। (१) अपने को उत्कृष्ट मानकर दूसरों की मजाक करता है। (२) अभीष्ट के वियोग में सन्तप्त होता है। (३) अभीष्ट वियोग के हेतुओं पर कोप के परवश होता है। (४) अशक्ति के अनुभव होने पर उनसे भीत होता है। (५) कुछ अर्जन करना चाहता है। (६) अनुचित वस्तुओं के विषय में विमुखता से आक्रान्त हुआ उनको अनभीष्ट मानता है। (७) उन लोकोत्तर कर्त्तव्यों को देख सुनकर जानकर विस्मित होता है। (८) कुछ को तो छोड़ना

अभिनवभारती

ये पुनरमी ग्लानिशङ्काप्रभृतयश्चित्तवृत्तिविशेषास्ते समुचितविभावाभावाज्जन्ममध्येऽपि न भवन्त्येव। तथा हि—रसायनमुपयुक्तवतो मुनेर्ग्लान्यालस्यश्रमप्रभृतयो नोत्तिष्ठन्ति। यस्यापि भवन्ति विभावबलात्तस्यापि हेतुप्रक्षये क्षीयमाणाः संस्कारशेषतां तावत् नावश्यमनुबध्नन्ति। उत्साहादयस्तु संपादितस्वकर्तव्यतया प्रलीनकल्पा अपि संस्कारशेषतां नातिवर्तन्ते। कर्तव्यान्तरविषयस्योत्साहादेरखण्डनात्।

यथाह पतञ्जलिः—"न हि चैत्र एकस्यां स्त्रियां रक्त इत्यन्यासु विरक्तः।" (पाजञ्जल. व्यास. भा. २.४) इत्यादि।

तस्मात्स्थायिरूपचित्तवृत्तिसूत्रस्यूता एवामी व्यभिचारिणः स्वात्मानमुदयास्तमयवैचित्र्यशतसहस्रधर्माणं प्रतिलभमाना रक्तनीलादिसूत्रस्यूतविरलभावोपलम्भनसम्भावितभङ्गीसहस्रगर्भस्फटिककाचाभ्रकपद्मरागम रकतमहानीलादिमयगोलकवत्तस्मिन् सूत्रे स्वसंस्कारवैचित्र्यमनिवेशयन्तोऽपि तत्सूत्रकृतमुपकारसन्दर्भं बिभ्रतः स्वयं च विचित्रार्थस्थायिसूत्रं च विचित्रयन्तोऽन्तरा शुद्धमपि स्थायिसूत्रं प्रतिभासावकाशमुपनयन्तोऽपि पूर्वापरव्यभिचारिरत्नच्छायाशबलिमानमवश्यमानयन्तः प्रतिभासन्त इति व्यभिचारिण उच्यन्ते।

बालक्रीड़ा

ही चाहता है। (९) इन उक्त रतिप्रभृति चित्तवृत्तियों की वासनाओं से शून्य कोई भी प्राणी नहीं होता है। किन्तु केवल इतना ही होता है कि किसी को कोई चित्तवृत्ति अधिक होती है और किसी को कम। किसी की चित्तवृत्ति उचित विषय में नियन्त्रित होती है किसी की नहीं। इसीलिए कोई-कोई चित्तवृत्ति पुमर्थोपयोगिनी होने से उपदेश्य होती है। इन्ही चित्तवृत्तियों के विभावों के आलम्बनीय तत्त्वों के आधार पर उत्तम मध्यम एवं अधम प्रकृतियों का व्यवहार होता है।

ये जो ग्लानि एवं शंका प्रभृत्ति चितवृत्ति विशेष हैं वे समुचित विभावों के नहीं मिलने पर जन्मभर भी जीवन पर्यन्त भी नहीं होती है जैसे रसायन का उपयोग करने वाले मुनि को ग्लानि आलस्य एवं श्रम प्रभृति भाव कभी नहीं उठते हैं। विभावों के बल से यदि किसी को कभी हो जाते हैं तो उसके भी वे भाव हेतु के प्रक्षय होने पर कारण के न रहने पर धीरे-धीरे क्षीण हो जाते हैं। यह कोई आवश्यक नहीं हैं कि उन भावों के संस्कार कुछ शेष रह ही जायँ। उत्साहादि भाव अपने-अपने कर्त्तव्यों को सम्पादन करके प्रलीनकल्प विलीन जैसे हुए भी संस्कार शेषता का अतिवर्त्तन नहीं करते हैं अर्थात् उनके संस्कार मिटते नहीं वे उद्रिक्त रूप में नहीं रहकर सूक्ष्मरूप से रहते ही हैं। क्योंकि अन्य-अन्य कर्त्तव्यों के विषय में अखण्ड उत्साह आदि रहते ही हैं। जैसा कि पतंजलि ने कहा है कि यह आवश्यक नहीं है चैत्र किसी एक स्त्री में अनुरक्त है तो अन्य स्त्रियों से विरक्त है।

इसलिए स्थायिरूप चित्तवृत्ति के सूत्र में स्यूत पिरोये हुए ये व्यभिचारी भाव अपने स्वरूप में उदय एवं अस्तरूप सैकड़ों एवं हजार हों विचित्रताओं से धर्मों को प्राप्त करते हैं किन्तु जो लाल काले नीले एवं पीले सूत्रों में पिरोई हुई हैं और जिनके गर्भ में अर्थात् जिनमें

अभिनवभारती

तथा हि—ग्लानोऽयमित्युक्ते कुत इति हेतुप्रश्नेनास्थायिता स्य सूच्यते। न तु राम उत्साहशक्तिमानित्यत्र हेतुप्रश्नमाहुः। अत एव विभावास्तत्रोद्बोधकाः सन्तः स्वरूपोपरञ्जकत्वं विदधाना रत्युत्साहादेरुचितानुचितत्वमात्रमावहन्ति। न तु तदभावे सर्वथैव ते निरुपाख्याः। वासनात्मना सर्वजन्तूनां तन्मयत्वेनोक्तत्वात्। व्यभिचारिणां तु स्वविभावाभावे नामापि नास्तीति। वितनिष्यते चैतद्यथायोगं व्याख्यावसरे। एवमप्रधानत्वनिरासः स्थायिनिरूपणायां "स्थायिभावान् रसत्वम्" (ना. शा. अ-६) इत्यनया सामान्यलक्षणशेषभूतया विशेषलक्षणनिष्ठया च कृतः।

तत्रानुभावानां विभावानां व्यभिचारिणां च पृथक्स्थायिनि नियमो नास्ति। बाष्पादेरानन्दाक्षिरोगादिजत्वदर्शनात्। व्याघ्रादेश्च कोपभयादिहेतुत्वात्। श्रमचिन्तादेरुत्साहभयाद्यनेकसहचरत्वावलोकनात्। इत्येवं संशयोदये शङ्कात्मकविघ्नशमनाय

मधुसूदनी

तदभावे स्वविभावाभावे ते रत्यादयः स्थायिनो निरुपाख्यप्रख्याः। उपाख्याया नाम्नो राहित्येन प्रख्याः कथनीयाः। तन्मयत्वेन रत्यादिप्रचुरत्वेन।

बालक्रीड़ा

विरलभाव के उपलम्भन से सहस्त्रों भंगियां शैलियाँ सम्भावित है ऐसे स्फटिक, काँच, अभ्रक, पद्मराग, मरकतमणि महानीलमणियाँ जिस सूत्र में पिरोई गई हैं उस सूत्र में डोरे में जैसे अपने संस्कार के सम्बन्ध के वैचित्र्य का निवेश नहीं करते हुए भी उस सूत्र के द्वारा किये गये उपकारों को धारण करते हैं वैसे स्थायिरूपी सूत्र में अपने संस्कार जनित वैचित्र्यों का निवेश नहीं करते हुए भी स्थायी के द्वारा किये गये उपकारों को धारण करते हैं और स्वयं भी विचित्र अर्थभूत स्थायीसूत्र को विचित्र करते हुए बीच-बीच में शुद्ध स्थायी सूत्र को प्रतिभास के लिए अवकाश देते हैं तथा रत्नों के रूप में आगे पीछे पिरोये हुए होने से अपनी कान्ति की शबलिमा को लाते हैं और चमकते हैं इसलिए इनको व्यभिचारी कहते हैं।

जैसे किसी ने कहा कि यह ग्लान है तो प्रश्न होता है कि क्यों ग्लान है। इस तरह के हेतु विषयक प्रश्न से उसके अस्थायी होने की सूचना मिलती है। किन्तु राम बड़ा उत्साही है, उत्साह शक्तिशाली है इसमें हेतु के बारे में क्यों उत्साही है ऐसा प्रश्न नहीं पूछते हैं। अपितु यही कहा जाता है कि राम का स्वभाव ही ऐसा है। अतएव रत्यादि के उद्बोधक के रूप में उपस्थित हुए विभाव उनके स्वरूप में उपरंजन करते हैं और केवल उनमें औचित्य एवं अनौचित्य का आवहन करते हैं। किन्तु यह तथ्य भी वहाँ है कि विभावादि के अभाव में वे रत्यादि सर्वथा ही निरुपाख्य हैं ऐसी बात नहीं है। क्योंकि वासनावाले होने के कारण सभी जन्तुओं को उत्साहादि मय कहा गया है। व्यभिचारियों का तो उनके अपने विभावों एवं अनुभावों के अभाव में नाम भी नहीं है। इस अंश को हम आगे युक्तिपूर्वक विस्तृत रूप में कहेंगे। जब इनकी व्याख्या का अवसर आयेगा। इस प्रकार स्थायियों के निरूपण के अवसर में "स्थायी भावों को रस के रूप में प्राप्त करेंगे" इस सामान्यलक्षण की अंगभूत विशेष लक्षण की निष्ठा स्थिति ने स्थायियों के अप्रधानत्व का निरास कर दिया।

अभिनवभारती

संयोग उपात्तः। संयोगस्तु न व्यभिचारी। तथा हि—बन्धुविनाशो यत्र विभावः परिदेविताश्रुपातादिस्त्वनुभावः चिन्तादैन्यादिर्व्यभिचारी सोऽवश्यं शोक एव।

तत्र लोकव्यवहारे कार्यकारणसहचारात्मकलिङ्गदर्शने स्थाय्यात्मपरचित्तवृत्त्यनुमानाभ्यासपाटवादधुना तैरेवोद्यानकटाक्षवीक्षादिभिर्लौकिकीं कारणत्वादिभुवमतिक्रान्तैर्विभावनानुभावनासमुपरञ्जकत्वमात्रप्राणैः, अतएव प्राच्यकारणादिरूपसंस्कारोपजीवनख्यापनाय अलौकिकविभावादिनामधेयव्यपदेश्यैर्भावाध्यायेऽपि वक्ष्यमाणस्वरूपभेदैर्गुणप्रधानतापर्यायेण सामाजिकधियि सम्यग्योगं सम्बन्धमैकाग्र्यं वाऽऽसादितवद्भिरलौकिकनिर्विघ्नसंवेदनात्मकचर्वणागोचरतां नीतोऽर्थश्चर्व्यमाणतैकसारो न तु सिद्धस्वभावः, तात्कालिक एव न तु चर्वणातिरिक्तकालावलम्बी स्थायिविलक्षण एव रसः। न तु यथा शङ्कुकादिभिरभ्यधीयत, "स्थाय्येव विभावादिप्रत्याय्यो रस्यमानत्वाद्रस उच्यते।" इति। एवं हि लौकिकोऽपि किं न रसः। असतोऽपि हि यत्र रसनीयता स्यात्तत्र वस्तुसतः कथं न भविष्यति। तेन स्थायिप्रतीतिरनुमितिरूपा प्राच्या(ख्या)। न रसः। अतएव सूत्रे स्थायिग्रहणं न कृतम्।

बालक्रीड़ा

विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारियों के स्थायी में अलग २ रहने पर अर्थात् एक २ के रहने पर नियमन नही होता है कि इस विभाव की, इस अनुभाव की एवं इस व्यभिचारी की स्थिति में अमुक रस रहेगा। क्योंकि आसुओं का उद्गम आनन्द से, दुख से, अक्षिरोग से एवं धुएँ से भी होता है। व्याघ्र आदि क्रोध, भय, उत्साह एवं विस्मय के भी हेतु होते हैं। श्रम एवं चिन्ता आदि का उत्साह एवं भय आदि में अनेकवार साहचर्य देखा गया है। इस तरह किसी एक के साथ इनका नैयत्य हो नही सकता है अतः संशय में निमग्न मन रहेगा। ऐसी स्थिति में संशय के उदय होने पर शंका रूप विघ्न के शमन के लिए सूत्र में संयोग पद का उपादान किया। इन विभावादिका संयोग तो रस निष्पत्ति में व्यभिचारी नहीं होता है अर्थात् संयोग से नियमन होता ही है। जैसे बन्धु विनाश विभाव, परिदेवित एवं अश्रुपातादि अनुभाव, चिन्तादैन्य आदि व्यभिचारी जहाँ रहें वह अवश्य ही शोक है।

लोक में व्यवहार में कार्य कारण एवं सहचारी रूप लिंग के अनुमापक हेतु के देखने पर स्थायी रूप अन्य की चित्तवृत्ति के अनुमान करने में अभ्यास से जो पाटव हो गया है उससे। इस समय जिन्होंने लौकिक कारणता रूपी भूमि का अतिक्रमण कर दिया है, जिनमें विभावन अनुभावन एवं व्यभिचारण रूप समुपरंजन व्यापार ही केवल प्राण है अतएव प्राचीन कारणादि रूप संस्कारों का उपजीवन (आश्रयण इनमें किया गया है इस तथ्य) के ख्यापन करने के लिए अलौकिक लोक में अप्रचलित विभाव आदि नामों से व्यपदेश के योग्य, भावाध्याय में जिनके स्वरूप एवं भेद कहे जायेंगे और जो कभी गुण और कभी प्रधानक रूप में पारी पारी से सामाजिक की बुद्धि में सम्यक् योग सम्बन्ध अथवा एकाग्रता का आसादन करते हैं। उन्ही उद्यान एवं कटाक्ष वीक्षा आदि से अलौकिक निर्विघ्न संवेदनात्मक चर्वणा की विषयता को प्राप्त कर चुका है जिसमें चर्व्यमाणता ही एक मात्र सार है अतएव जो

अभिनवभारती

तत्प्रत्युत शल्यभूतं स्यात्। केवलमौचित्यादेवमुच्यते स्थायी रसीभूत इति। औचित्यं तु तत्स्थायिगतत्वेन कारणादितया प्रसिद्धानामधुना चर्वणोपयोगितया विभावादित्वावलम्बनात्।

तदाहि लौकिकचित्तवृत्त्यनुमाने का रसता। तेनालौकिकचमत्कारात्मा रसास्वादः स्मृत्यनुमानलौकिकसंवेदनविलक्षण एव।

तथाहि—लौकिकेनानुमानेन संस्कृतः प्रमदादिनान ताटस्थ्येन प्रतिपद्यते। अपि तु हृदयसंवादात्मकसहृदयत्वबलात्पूर्णीभविष्यद्रसास्वादाङ्कुरीभावेनानुमानस्मृत्यादिसोपानम(ना)रुह्यैव तन्मयीभावोचितचर्वणाप्राणतया। न च सा चर्वणा

मधुसूदनी

लौकिकेन प्रमदादिना प्रमदादिद्वारा क्रियमाणेन अनुमानेन संस्कृतः लोकव्यवहारे कार्यकारणसहचारात्मकलिंगदर्शने स्थाय्यात्मकपरचित्तवृत्त्यनुमानेन अभ्यासात पाटववान्।

बालक्रीड़ा

सिद्ध स्वभाव नहीं है किन्तु जो तात्कालिक ही है अर्थात् चर्वणा के काल से अतिरिक्त काल का अवलम्बन करने वाला नहीं है ऐसा स्थायीविलक्षण पदार्थ रस है। न कि जैसा श्रीशंकुकादि ने कहा है कि विभावादि से अनुमेय स्थायी ही रस है। तब तो लौकिक प्रमेय रति ही रस क्यों नहीं है। जहाँ असत् रत्यादि भी रसनीयता के कारण रस हैं तो वहाँ वस्तुः सन् रत्यादि रसनीय क्यों नहीं होगें। इसलिए इस तरह लोक में होने वाली स्थायी की प्रतीति को अनुमिति रूप ही कहना चाहिए। रस नहीं कहना चाहिए। अतएव सूत्र में स्थायी का ग्रहण नहीं किया है। यदि करते तो सुखद न होकर प्रत्युत वह शल्यभूत होता। केवल औचित्य से ऐसा कहते हैं कि स्थायी रस है। प्रकृत में स्थायी को रस कहने में यह औचित्य कि उस उस स्थायी के गमक होने से कारणादि के रूप से प्रसिद्ध नायक वगैरह अधुना चर्वणा के उपयोगी होने से विभावादि रूप से आलम्बनादि बन गये हैं। ऐसी स्थिति में लौकिक चित्तवृत्ति के अनुमान में रसना कैसी। इससे सिद्ध है कि लौकिक कारणों से जिसकी उपस्थिति नहीं हो सकती है ऐसा अलौकिक चमत्कारात्मा रसास्वाद है जो स्मृति अनुमान आदि लौकिक संवेदनों से विलक्षण है।

लौकिक प्रमदादि के द्वारा अनुमान करने से संस्कृत मति वाला अर्थात् लोक व्यवहार में कार्य कारण सहचारात्मक लिंग को देख कर स्थायी रूप परचित्त के अनुमान करने में पटु व्यक्ति तटस्थ रूप से अर्थात् अनुकार्य एवं अनुकर्त्ता में रति की प्रतिपत्ति नहीं करता है। (एक हृदय ने जैसा जो समझा वैसा वही दूसरे हृदय ने भी समझा इसको हृदय संवाद कहते हैं) अपितु हृदय सम्बादात्मक सहृदयता के बल से पूर्ण होने वाले रसास्वाद सम्बन्धी एवं स्मृति आदि सोपान परम्परा पर अनारोहण करके ही तन्मयी भाव के योग्य चर्वणा के अंकुरों के रूप से, अनुमान प्राण के रूप से उसकी प्रतिपत्ति करता है। वह चर्वणा पूर्व में किसी प्रमाण से उत्पन्न नहीं हुई है जिससे आज उसे स्मृति कहा जाय। और न उसके विषय में लौकिक प्रत्यक्षादि प्रमाणों

अभिनवभारती

प्राङ्भानान्तरात् येनाधुना स्मृतिः स्यात्। न चात्र लौकिकप्रत्यक्षादिप्रमाणव्यापारः। किन्त्वलौकिकविभावादिसंयोगबलोपनतैवेयं चर्वणा। सा च प्रत्यक्षानुमानागमोपमानादिलौकिकप्रमाणजनितरत्याद्यवबोधतः तथा योगिप्रत्यक्षजनिततटस्थपरसंवित्तिज्ञानात्सकलवैषयिकोपरागशून्यशुद्धपरयोगिगतस्वात्मानन्दैकघनानुभावाच्च विशिष्यते। एतेषां यथायोगमर्जनादिविघ्नान्तरोदयात्ताटस्थ्यास्फुटत्व-विषयावेशवैवश्यकृतसौन्दर्यविरहात्। अत्र तु स्वात्मैकगतत्वनियमासंभवात् न विषयावेशवैवश्यम् स्वानुप्रवेशात्परगतत्वनियमाभावात् न ताटस्थ्यास्फुटत्वे, तद्विभावादिसाधारण्यवशसंप्रबुद्धोचितनिजरत्यादिवासनावेशवशाच्च न विघ्नान्तरादीनां सम्भव इत्यवोचाम बहुशः।

मधुसूदनी

एतेषां लौकिकप्रमाणजनितज्ञान-युंजानयोगिज्ञान-युक्तयोगिज्ञानानां यथायोगं संगतेः युक्तेरुपायस्यानुसारमर्जनादिरूपा हानोपादानोपेक्षणात्मका विघ्नाः। तेषामुदयात्। उपेक्षणजनितं ताटस्थ्यम्, हानजनितमस्फुटत्वम्, उपादानजनितो विषयावेशः। तेभ्यो यद्वैवश्यं तत्कृतात्सौन्दर्यविरहात्।

बालक्रीड़ा

का कोई व्यापार है। किन्तु यह चर्वणा अलौकिक विभावादि के संयोग के बल से उपनत हुई है। इसलिए वह चर्वणा प्रत्यक्ष अनुमान उपमान आगम और आदिपदवोध्य अर्थापत्ति, संभव, ऐतिह्य एवं अनुपलब्धि रूप लौकिक प्रमाण से उत्पन्न रत्यादि ज्ञान से, तथा युंजान योगी के प्रत्यक्ष से जनित किन्तु तटस्थ अर्थात् लौकिक प्रमाणों से अजनित अतएव जो पर संवित्ति है तद् रूप ज्ञान से, एवं सकल वैषयिक पदार्थों के उपराग सम्बन्ध से शून्य अतएव शुद्ध परयोगी युक्तयोगी के स्वात्मानन्दैकघन अनुभव से विलक्षण है। इन ज्ञानों में संगति युक्ति या उपायों के अनुसार अर्जन उपादान हान एवं उपेक्षण रूप विघ्नों के उदय होने से उपेक्षणा जनित ताटस्थ्य, हानसंभूत अस्फुटत्व एवं उपादानप्राप्त विषयों में आवेश की विवशता के कारण सौन्दर्य का विरह हो जायगा। यहाँ तो अपने में ही यह चर्वणा है इस नियम के अभाव से विषयावेश विवशता नहीं है। अपने का भी उसमें अनुप्रवेश है इसलिए परगतत्व नियम के के अभाव से ताटस्थ्य एवं अस्फुटता नहीं है। उन विभावादिकों की साधारणता के वश से संप्रबुद्ध उचित स्वकीय रत्यादिकों की वासना के आवेश से विघ्नों का उत्पन्न होना संभव नहीं है इस बात को बहुत बार कह चुके हैं। इसीलिए विभावादि रस की निष्पत्ति के हेतु नहीं है। यदि विभावादि को रस की निष्पत्ति में (समवायी करण एवं असमवायी करण की असंभव दशा में) निमिन्त कारण मानेंगे तो विभावादि के बोध के अपगत होने पर रस की स्थिति संभव हो जायगी जैसे दण्ड के नाश होने पर भी घट की स्थिति रहती है। विभावादि के ज्ञान से रस की निष्पत्ति होती है और "समवायिकारणत्वं तु द्रव्यस्यैवेति विज्ञेयम्" के अनुसार समवायी कारण द्रव्य ही होता है अन्य गुण क्रिया नहीं। ज्ञान गुण है अतः विभावादि समवायी कारण नहीं है यह विभावादि ज्ञान शुद्ध ज्ञान नहीं है इस विभावादि ज्ञान में अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते के अनुसार विशेषण विधया शब्द भी प्रविष्ट है। और मीमां-

अभिनवभारती

अत एव विभावादयो न निष्पत्तिहेतवो रसस्य। तद्बोधापगमेऽपि रससंभवप्रसङ्गात्। नापि ज्ञप्तिहेतवः येन प्रमाणमध्ये पतेयुः। सिद्धस्य कस्यचित्प्रमेयभूतस्य रसस्याभावात्। किं तर्ह्येतद्धि विभावादय इति। अलौकिक एवायं चर्वणोपयोगी विभावादिव्यवहारः। क्वान्यत्रेत्थं दृष्टमिति चेद्भूषणमेतदस्माकमलौकिकत्वसिद्धौ। पानकरसास्वादोऽपि किं गुडमरीचादिषु दृष्ट इति समानमेतत्।

नन्वेवं रसोऽप्रमेयः स्यात् एवं। युक्तं भवितुमर्हति। रस्यतैकप्राणो ह्यसौ न प्रमेयादिस्वभावः। तर्हि सूत्रे निष्पत्तिरिति कथम्। नेयं रसस्य। अपि तु तद्विषयरसनायाः। तन्निष्पत्त्या तु यदि तदेकायत्तजीवितस्य रसस्य निष्पत्तिरुच्यते न कश्चिदत्र दोषः। सा च रसना न प्रमाणव्यापारो न कारकव्यापारः। स्वयं तु नाप्रामाणिकः। स्वसंवेदनसिद्धत्वात्। रसना च बोधरूपैव। किन्तु बोधान्तरेभ्यो लौकिकेभ्यो विलक्षणैव। उपायानां विभावादीनां लौकिकवैलक्षण्यात्। तेन विभावादिसंयोगाद्रसना यतो निष्पद्यतेऽतस्तथाविधरसनागोचरो लोकोत्तरोऽर्थो रस इति तात्पर्यं सूत्रस्य।

बालक्रीड़ा

सक एवं वैयाकरण के मत में शब्द द्रव्य है। गुणकर्ममात्रवृत्ति ज्ञेयमथाप्यसमवायिहेतुत्वम् के अनुसार गुण और कर्म ही केवल असमवायी कारण होते हैं अन्य द्रव्य नहीं। अतः विभावादि असमवायी कारण नहीं हो सकते हैं। अन्ततो गत्वा विभावादि यदि कारण हो सकते हैं तो निमित्त कारण हो सकते हैं निमित्त कारण मानने में उक्त दोष है। यह तो कारक हेतु के विषय में कहा। अब ज्ञापक हेतु के विषय में कहते हैं कि विभावादि ज्ञप्ति हेतु अर्थात् ज्ञापक हेतु भी नहीं हैं। यदि ज्ञापक हेतु होते तो प्रमाणों के मध्य में उनकी गणना होती क्योंकि पहले से सिद्ध प्रमेयभूत रस कोई पदार्थ नहीं है। इस तरह जब ये कारक हेतु भी नहीं है और ज्ञापक हेतु भी नहीं है तब ये विभावादि क्या हैं। उत्तर यह चर्वणा का उपयोगी विभावादि व्यवहार अलौकिक ही है। चर्वणा के उपयोग में आने वाला यह विभावादि व्यवहार यदि लोक में प्रसिद्ध नहीं है। तब अन्यत्र लोक से बाहर कहाँ देखा है। इस पर कहते हैं कि इस तरह इस व्यवहार के अलौकिक सिद्ध होने में कोई दूषण नहीं है यह तो हमारे यहाँ भूषण माना गया है। अच्छा आप ही बतलाइये कि गुड़ मरिच आदि सबके सम्मेलन से बने हुए पानक में जो रस की चर्वणा आस्वाद का अनुभव होता है उसका क्या गुड़ मरीच आदि प्रत्येक में अनुभव किया जाता है। अगर कहें कि नहीं, अनुभव नहीं किया है तब आपके एवं हमारे मत में यह समान ही व्यवहार है।

इस तरह से यदि कारक एवं ज्ञापक हेतुओं से कार्य एवं ज्ञाप्य नहीं होगा तो यह रस अप्रमेय हो जायगा। उचित भी है ऐसा ही होना चाहिए। क्योंकि इसका रस्यमानता ही प्राण है अतः यह प्रमेय अभिधेय एवं ज्ञेय स्वभाव नहीं है। यदि ऐसी बात है तब सूत्र में निष्पत्ति शब्द का उपादान क्यों किया। इस पर कहते हैं कि यह निष्पत्ति रस की नहीं है। अपितु यह रस के उपयोगी उपजीवी रसना की है चर्वणा की हैं। हाँ यदि उपयोज्य उपयोजक

अभिनवभारती

८ अयमत्र संक्षेपः। मुकुटप्रतिशीर्षकादिना तावन्नटबुद्धिराच्छाद्यते। गाढप्राक्तनसंवित्संस्काराच्च काव्यबलानीयमानापि न तत्र रामधीर्विश्राम्यति। अत एवोभयदेशकालत्यागः। रोमाञ्चादयश्च लौकिका अपि भूयसा रतिप्रतीतिकारितया दृष्टास्तेन ते देश कालानियमेन तत्र रतिं गमयन्ति। यस्यां स्वात्मापि तद्वासनावत्वादनुप्रविष्टः अत एव न तटस्थतया रत्यवगमः। न च नियतकारणतया, येनार्जनाभिषङ्गादिसम्भावना। न च नियतपरात्मैकगततया, येन दुःखद्वेषाद्युदयः। तेन साधारणीभूता सन्तानवृत्तेरेकस्या एव वा संविदो गोचरभूता रतिः श्रृङ्गारः। साधारणीभावश्च विभावादिभिरिति।१ तत्र विभावप्राधान्येन साधारणीभावो यथा—

मधुसूदनी

अयमत्र संक्षेप इति। उभयो रामनटयोर्देशस्य कालस्य च त्यागः आयोध्यिकस्तदानीन्तनश्च संवृत्त इति उत्तररामचरिते सूत्रधारोक्तेः। यस्यां संविदि।

अर्जनाभिषङ्गादीति। नियतेभ्यः कारणेभ्यो रतेरवगमे व्याप्तिज्ञानवत् महानसचत्वरगोष्ठादिषु धूमवह्न्योर्नियतसाहचर्यदर्शनार्जनस्य अभिषंगस्याग्रहस्य संभावना स्यात्। सन्तानवृत्तेः धारावाहिकवृत्तेः संविदो बुद्धेः। अयं भावः। धाराबुद्धेः अनधिगतविषयकज्ञानाभावे पूर्वाधिगतस्यैव विषयस्य ज्ञानरूपतया प्रमात्वविरहापत्तिर्जागर्ति। तेन तद्वरणाय तस्या बुद्धेः पूर्वपूर्वज्ञानाविषयतत्तत्क्षणविशेषविषयकत्वं

बालक्रीड़ा

में उपजीव्य उपजीवी में अभेद मानकर चर्वणा की रसना की निष्पत्ति से तो चर्वणाधीन जीवित रस की भी निष्पत्ति कह सकते हैं कोई दोष नहीं है। इसके सिवाय वह रसना प्रमाण व्यापार नहीं है। इस तरह तो यह रसना अप्रामाणिक है ऐसा कहना चाहिए। तब कहते हैं कि नहीं, यह स्वयं सिद्ध है अतः अप्रामाणिक नहीं है। इसमें हेतु है स्वसंवेदन सिद्धत्व। यह रसना परप्रकाशानपेक्ष स्वप्रकाश है। यानी स्वतः सिद्ध है। क्योंकि बोधरूपा है। किन्तु अन्य लौकिक ज्ञानों से विलक्षण ही है। इसका हेतु है कि विभावादि उपाय जो लौकिक उपायों से विलक्षण हैं। इससे सूत्र का यह तात्पर्य हुआ कि जब विभावादिकों के संयोग से रसना निष्पन्न होती है तब तथाविध निष्पन्न रसना का विषय लोकोत्तर अर्थ रस है।

इस विषय में यह संक्षेप है। नायक के मुकुट एवं पगड़ी या साफा आदि के द्वारा सामाजिकों की नट के विषय में बुद्धि आच्छादित हो जाती है अर्थात् "न रामोऽयम्" ऐसी बुद्धि न होकर "रामोऽयम्" यह बुद्धि होती है। प्राचीन गहरे संवित् संस्कार के कारण काव्यबल से आई हुई "रामोऽयम्" यह बुद्धि विश्रान्त नहीं होती है अर्थात् रामोऽयम् यह बुद्धि बनी रहती है। अतएव राम एवं नट दोनों में देश एवं काल दोनों का त्याग हो जाता है। लोक में रोमाञ्चादिकों को भी अधिकतर रति की प्रतीति के जनक के रूप में देखा है। अतः वे नाट्य में भी देश और काल के नियम के विना रति के गमक होते हैं। जिसमें अपना आत्मा भी अन्तः करण भी वैसी वासना वाला होने के कारण अनुप्रविष्ट है।

अभिनवभारती

"केलीकन्दलितस्य विभ्रममधोर्धुर्यं वपुस्ते दृशो-
भंङ्गी भङ्गुरकामकार्मुकमिदं भ्रूर्नर्मकर्मक्रमः ।
आघ्रातोऽपि विकारकारणमहो वक्त्राम्बुजात्ताऽऽसवः
सत्यं सुन्दरि ? वेधसस्त्रिजगतीसारः त्वमेका कृतिः ॥"

अत्र च विभावकृतं साधारण्यं प्राधान्येन भाति । तदनुगतत्वेन केलीविभ्रमभङ्गुर-नर्मवचोमहिम्ना चानुभाववर्गो भङ्गीक्रमविकारादिशब्दबलाच्च व्यभिचारिवर्गः प्रतिमातीत्यत एव नास्फुटत्वाशङ्काऽत्र रत्यास्वादमये श्रृङ्गारे विधेया ।

अनुभावप्राधान्यं यथा शुद्धसारस्वतप्रवाहपवित्रसकलवाङ्मयमहार्णवपूर्णभाव-संपादनात् द्विराजस्येन्दुराजस्य—

मधुसूदनी

स्वीक्रियते । अतस्तत्र ज्ञानभेदः । इत्येकं मतम् । सिद्धान्ते धारावाहिकबुद्धिस्थले न ज्ञानभेदः । किन्तु यावद् घटस्फुरणं तावद् घटाकारान्तःकरणवृत्तिरेकैव, न तु नाना । वृत्तेः स्वविरोधिवृत्युत्पत्तिपर्यन्तं स्थायित्वाभ्युपगमात् । अत उक्तमेकस्या इति ।

सारस्वतेति । सरस्वती नदी देवी च । तस्या अयं प्रवाहः ओघः प्रयोग परम्परा च । तेन पवित्रो यः सकलवाङ्मयरूपो महार्णवस्तस्य पूर्वभावस्य सम्पादनात् द्विजानां ब्राह्मणानां राज्ञश्चन्द्रस्य च । इन्दुराजस्य एतन्नामकस्य कवेः ।

बालक्रीड़ा

इसीलिए ताटस्थ्येन रति का अवगम नहीं होता है और न नियत किसी कारण से होता है । जिससे अर्जन सम्बन्धी अभिषङ्ग अपमान की संभावना हो सके । और यह भी नहीं कि किसी नियत अन्य व्यक्ति में या अपन में रति की प्रतीति होती है जिससे दुःख या द्वेषादि की उत्पत्ति होवे । अतः साधारणीभूत सन्तानवृत्ति अर्थात् धारावाहिक चित्तवृत्ति तो अपने कारण विभावादि के बल पर होती है ।

विभावादि की प्रधानता से साधारणीभाव जैसे—हे सुन्दरि ? तुम्हारा शरीर सुरत के लिए क्रियमाण केलि क्रीड़ा से अंकुरित श्रृंगार चेष्टा रूपी मधु की धुरा को वहन करने वाला है । नर्म परिहास की क्रियाओं का क्रम है जिसमें ऐसी तुम्हारी भौंहे और दृष्टियों की भंगी शैली ये दोनों काम के सशर धनुष हैं । अहो तुम्हरों वक्राम्बुज मुख कमल से आप्त प्राप्त आसव सूंघने पर ही जब इतने या ऐसे विकारों का कारण है तब पीने पर वह क्या करेगा नहीं कहा जा सकता है । इससे सिद्ध है कि सचमुच तुम ब्रह्मा जी की वह एक कृति हो जो तीनों लोकों का सार है ।

यहाँ नायिका रूप विभाव का साधारण्य प्रधानतया मालूम पड़ता है । उस विभाव के अनुगत केली विभ्रम भंगुर एवं नर्म शब्दों की महिमा से अनुभाव वर्ग तथा भंगी क्रम एवं विकारादि शब्दों के बल से व्यभिचारी वर्ग मालूम पड़ता है । इसीलिए यहाँ रत्यास्वादमय श्रृंगार में अस्फुटत्व की शंका नहीं करनी चाहिए ।

अभिनवभारती

"यद्विश्रम्य विलोकितेषु बहुशो निस्थेमनी लोचने
यद्गात्राणि दरिद्रति प्रतिदिनं लूनाब्जिनीनालवत् ।
दूर्वाकाण्डविडम्बकश्च निबिडो यत्पाण्डिमा गण्डयोः
कृष्णे यूनि सयौवनासु वनितास्वेषैव वेषस्थितिः ॥" । इति ।

अत्र विश्रम्येति बहुश इति प्रतिदिनमिति च पदसमर्पितो व्यभिचारिगणः कृष्ण इत्यादिपदार्पितश्च विभावो गुणत्वेन प्रतिभासते । विश्रान्तिलक्षणस्तम्भविलोकनवैचित्र्यगात्रतानवतारतम्यपुलकवैवर्ण्यप्रभृतिस्त्वनुभावसञ्चयः प्रधानतया ।

व्यभिचारिणां तु प्राधान्यं तद्विभावानुभावप्राधान्यकृतम् । तत्राद्यम् । यथा महाकवेः कालिदासस्य (कलशकस्य)—

"आत्तमात्तमधिकान्तमुक्षितुं कातरा शफरशङ्किनी जहौ ।
अञ्जलौ जलमधीरलोचना लोचनप्रतिशरीरलाञ्छितम् ॥"

मधुसूदनी

आत्तमिति । अधीरलोचना नायिका । लोचनयोरधीरत्वादेव जलप्रतिबिम्बितयोस्तयोः शफरशंकाकरत्वम् । कान्तमुक्षितुं जलेन सेक्तुमञ्जलौ आत्तमात्तं पुनः पुनर्गृहीतम् । लोचनप्रतिबिम्बेन युक्तं जलं कातरा सती शफरशंकिनी जहौ तत्याज ।

बालक्रीड़ा

सरस्वती नदी एवं वाग्देवता के शुद्ध निर्मल प्रवाह रूपी प्रयोगपरम्परा से पवित्र सकल-वाङ्मय रूपी महार्णव के उद्वेलन रूपी पूर्णभाव के सम्पादन से द्विजों के राजा इन्दुराज के काव्य में अनुभाव का प्राधान्य जैसे—जो ठहर २ कर वार २ ताकने में नेत्रों की जो चंचलता है। काटी गई कमलिनी के नल की तरह प्रतिदिन जो गात्रों का सूखना है। और कपोलों पर जो दूर्वा के काण्डों का अनुकरण करने वाली निबिड पाण्डिमा है यह सब कृष्ण के युवा एवं गोपांगनाओं के युवती होने पर वेष की स्थिति है।

यहां विश्रम्य बहुशः एवं प्रतिदिन इन पदों से समर्पित व्यभिचारी गण एवं कृष्ण एवं वनिता पदों से अर्पित विभाव गुणरूप से मालूम पड रहे हैं। तथा विश्रान्ति लक्षण स्तम्भ विलोकन का वैचित्र्य, शरीर की दुर्बलता में तरतमभाव, पुलक रोमाञ्च एवं वैर्ण्य प्रभृति अनुभाव संचय प्रधानरूप से प्रतीत हो रहा है।

व्यभिचारियों का प्राधान्य उनके व्यंजक विभाव एवं अनुभावों के प्राधान्य के कारण होता है। उनमें आद्य अर्थात् विभाव के द्वारा ही व्यज्यमानता कृत व्यभिचारिप्राधान्य जैसे महाकवि कालिदास (या कलशक) के काव्य में—

कान्त को जल से भिगोदेने के लिए चंचल लोचना नायिका वार २ अंजलि में जल को लेती है किन्तु उस में अपने नेत्रों के प्रतिबिम्ब को देखकर मछलियों की शंका से डरी हुई फेंक देती है।

अभिनवभारती

इत्यत्र सुकुमारप्रमदाजनभूषणभूतस्य व्यभिचारिवर्गस्य वितर्कत्रासशङ्कादेः प्राधान्यं तद्विभावानां प्राधान्यात् सौन्दर्यातिशयकृतम्। आत्तमित्याद्यर्पितानुभाववर्गस्तु तदनुयायी।

एवं द्वयप्राधान्ये चोदाहार्यम्। किन्तु समप्राधान्य एव रसास्वादस्योत्कर्षः। तच्च प्रबन्ध एव भवति। वस्तुतस्तु दशरूपक एव। यदाह वामनः—"सन्दर्भेषु दशरूपकं श्रेयः। तद्धि चित्रं चित्रपटवद्विशेषसाकल्यात्।" (काव्यालं. १.३.३०-३१) इति तद्रूपे समर्पणया तु प्रबन्धे भाषावेषप्रवृत्त्यौचित्यादिकल्पनात्। तदुपजीवनेन मुक्तके। तथा च तत्र सहृदयाः पूर्वापरमुचितं परिकल्प्य ईदृगत्र वक्ताऽस्मिन्नवसरे इत्यादि बहुतरं पीठबन्धरूपं विदधते।

मधुसूदनी

एवमिति। एकस्य विभावस्य प्राधान्ये व्यभिचारिप्राधान्यमिव विभावानुभावद्वयस्य प्राधान्येऽपि उदाहार्यम्। चकारोऽप्यर्थः। द्वयस्य प्राधान्ये सम एव। तच्च समप्राधान्यम्। तद्धि दशरूपकं हि चित्रं विचित्रमाश्चर्यकरं च। यतो हि चित्रपटे यथा सकला विशेषा भवन्ति तथा ते तत्र। इत्यतः। तद्रूपे चित्रभूते प्रबन्धे भाषादेः कल्पनाद्रसास्वादस्योत्कर्षः इत्यन्वयः। तदुपजीवनेन दशरूपकविध्याश्रयणेन मुक्तके खण्डकाव्येऽपि तस्योत्कर्षः।

बालक्रीड़ा

यहां सुकुमार प्रमदाजन के भूषणभूत वितर्क त्रास एवं शंकादि व्यभिचारी वर्ग का प्राधान्य है जो उन के विभावों की प्रधानता से प्राप्त सौन्दर्यातिशय के कारण हुआ है आत्तम् इत्यादि से अर्पित अनुभाववर्ग उन विभावों का अनुयायी है। इसी प्रकार विभाव और अनुभाव दोनों की प्रधानता में भी उदाहरण हो सकता है जहां विभाव एवं अनुभाव दोनों व्यंजक रहें ऐसा भी उदाहरण हो सकता है किन्तु व्यंजकत्व में दोनों समप्रधान रहेंगे तभी रसास्वाद का उत्कर्ष होगा। वह समप्राधान्य प्रबन्ध में ही हो सकता है। वस्तुतस्तु वह प्रबन्ध दशरूपक ही है। जैसा कि वामन ने कहा है कि प्रबन्धों में दशरूपक ही श्रेष्ठ है अधिक प्रशंसनीय है। क्योंकि उसमें चित्र पट की तरह सम्पूर्ण विशेषताएँ होती है अतः वह चित्र है। उस चित्रभूत प्रबन्ध में तो भाषा वेश एवं प्रवृत्ति और आदि पद से वृत्ति गुण एवं अलंकारों की कल्पना करने से रस के आस्वाद का उत्कर्ष होता है। और उसके उपजीवन करने वाले मुक्तक खण्ड काव्यों में भी व्यंजकों की सम प्रधानता से रसास्वाद का उत्कर्ष होता हैं। अतएव उसमें सहृदय लोग पूर्वापर की उचित परिकल्पना करके "यहाँ इस तरह का वक्ता है। इस अवसर में वह ऐसा कह रहा है। इत्यादि बहुतर पीठबन्ध के रूप का विधान करते हैं। जिसके फलस्वरूप काव्य के अभ्यास एवं प्राक्तनपुण्य रूप हेतुओं के बल से जो सहृदय कोटि में पहुंच गये हैं उनको परिमित परिच्छिन्न विभावादि के उन्मीलन होने पर भी अत्यन्त स्पष्ट ही साक्षात्कार कल्प काव्यार्थ का स्फुरण होता है। अत

अभिनवभारती

तेन ये काव्याभ्यासप्राक्तनपुण्यादिहेतुबलादिभिः सहृदयास्तेषां परिमित-विभावाद्युन्मीलनेऽपि परिस्फुट एव साक्षात्कारकल्पः काव्यार्थः स्फुरति। अत एव तेषां काव्यमेव प्रीतिव्युत्पत्तिकृदनपेक्षितनाट्यमपि। तेषामपि तु नाट्यं "निपतिताः स्फुरिताः शशिरश्मयः" इति न्यायेन सुतरां निर्मलीकरणम्। अहृदयानां च तदेव नैर्मल्याधायि। यत्र पतिता गीतवाद्यगणिकादयो न व्यसनितायै पर्यवस्यन्ति नित्यो पकरणात्। तत्र च नटो ध्यायिनामिवेदं ध्यानपदम्।

न हि तत्रायमेव सिन्दूरादिमयो वासुदेवः स्मरणीय इति प्रतिपत्तिः। अपि तु तदुपायद्वारेणातिस्फुटीभूतसङ्कल्पगोचरो देवताविशेषो ध्यायिनां फलकृत्। तद्वन्नट-प्रक्रियाद्वारोदितातिस्फुटाध्यवसायविषयीकृतो नियतदेशकालाद्यस्पृष्टो 'अत इदं फलम्' इति विधिस्थानीयोऽर्थो व्युत्पत्तिं वितरति। यतो दृश्येऽभिनयादौ अदृश्ये तच्चित्त-वृत्त्यादौ वा न बाधकोदयः सम्यग्ज्ञानभूतं ह्येवेदं पूर्णम्। तेन राम इत्येव प्रतीतिर्न त्वयं न, रामोऽन्योऽयमिति। स्फुटीकरिष्यते चैतदग्रतः।

मधुसूदनी

यत्र नाट्ये निपतिता गताः। नित्योपकरणात् नित्यं प्रतिग्रहणात्। ध्यानपद-मिति यथा ध्यायिनां ध्यानपदम् ध्यानस्य स्थानमिदं ध्येयं भवति तथा तत्र नाटये नटः रामकृष्णदुःष्यन्तादेः ध्यानपदम्।

बालक्रीड़ा

एव काव्य ही उनके लिए प्रीति एवं व्युत्पत्ति को करने वाला है। इसमें नाट्य की अपेक्षा नही भी रहती है। जिनको नाट्यकी अपेक्षा नही रहती है उनके लिए भो तो नाट्य "कहीं पर भी गिरी हुई चन्द्रमा की किरणें चमकती है दर्पण वगैरह में गिरने पर तो अवश्य ही चमकती है। जैसे धूलधूसरित जल का कतकरजसे निर्मली करण है उसी तरह विप्रकीर्ण काव्यार्थ का निर्मली करण नाट्य है। जो सहृदय नहीं हैं उनके लिए भी वह नाट्य ही काव्यार्थ की निर्मलता का आधान करने वाला है। जहां नाट्य में प्रतीत गीत वाद्य एवं गणिका आदि नित्य के उपकरण होने से व्यसन नही हो जाते हैं। वहां नाटय में नट; ध्यान करने वालों के लिए ध्येय जैसे ध्यान का स्थान है उसी तरह ध्यान का स्थान है। वहां यह प्रतिपत्ति नही होती है कि यही सिन्दूरादिमय वासुदेव स्मरण करने के योग्य है। अपितु उन सिन्दूरादि उपायों के द्वारा अत्यन्त स्पष्ट होकर संकल्प का विषय बना हुआ देवता विशेष ध्यान करने वाले को वाञ्छित फल देता है उसी प्रकार नट की अभिन-यात्मक प्रक्रिया के द्वारा अत्यन्त स्फुट रूप में अध्यवसाय का विषय अर्थात् सुस्पष्ट एवं सुनिश्चित और नियत देश, काल, अवस्था, एवं स्वभाव से अस्पृष्ट "इससे यह फल मिलता है इसको करो ऐसी विधिस्थानीय यानी वेद विहित विधान की तरह अवश्य अनुपालनीय नाटच गत अर्थ की व्युत्पत्ति को करता है। क्योंकि दृश्य अभिनयादि में अथवा तज्जन्य चित्तवृत्यादि में कोई बाधक उपस्थित नही होता है अतः यह व्युत्पत्ति सम्यक् ज्ञान है यथार्थ प्रमा है और

को दृष्टान्तः। अत्राह—यथा हि नानाव्यञ्जनौषधिद्रव्य-संयोगाद्रसनिष्पत्तिः तथा नानाभावोपगमाद्रसनिष्पत्तिः।

अभिनवभारती

तत्रालौकिकोऽयमर्थो न दृष्टान्तमन्तरेण हृदयङ्गमो भवेदित्याशयेनाह—को दृष्टान्त इति। बहूनां संयोगादपूर्वो रस उत्पद्यमानः क दृष्ट इत्यन्तो निर्णयः करणीयः इत्यर्थः।

अत्र प्रश्ने भाष्येण प्रतिवचनमाह–यथेत्यादिना आप्नुवन्तीत्यन्तेन। व्यञ्जन-मुपसेचनद्रव्यम्। तच्च नानातिक्तमधुरचुक्रादिभेदाद् दधिकाञ्जिकादि। ओषधयश्चिञ्चा-

बालक्रीड़ा

(मूल) इस पर कहते हैं कि कौन दृष्टान्त है। जहाँ बहुतों के संयोग से अपू रस उत्पन्न होता है ऐसा स्थल कहाँ देखा है इसका अन्त निर्णय करना चाहिए। उत्तर। जसे नाना व्यञ्जन, औषधि एवं द्रव्यों के संयोग से पेय रस की निष्पत्ति होती वैसे ही नाना भावों के उपगम से दृश्यकाव्य में दृश्य रस की, चित्र में चित्रणीय रस की, श्रव्यकाव्य में श्रव्यरस की एवं पठ्य काव्य में पठ्य रस की निष्पत्ति होती है।

जैसे—देवानां यज्ञतः प्रीती रसनेन्द्रियगोचरा।
नाट्यरूपैं रसैरेतैः प्रीतिर्भवति चाक्षुषी॥
देवानामिदमामनन्ति मुनयः कान्तं क्रतुं चाक्षुषम्।

देवताओं की यज्ञों से रसनेन्द्रिय विषयिणी प्रीति होती है वैसे ही दर्शकों की नाट्यरूप इन रसों से चाक्षुषी प्रीति होती है। मुनिलोग इस नाट्य को देवताओं का मनोहर चाक्षुष यज्ञ कहते हैं।

देवानामिदमामनन्ति मुनयः कान्तं क्रतुं श्रावणम्।
रागकाव्यैं रसरेतैः प्रीतिर्भवति श्रावणी।

मुनिलोग इस रागकाव्य को देवताओं का मनोहर श्रावण यज्ञ कहते हैं।
रागकाव्य से प्राप्त इन रसों से श्रोताओं की श्रावणी प्रीति होती है।

पूर्ण है अखण्ड है जिसके फल स्वरूप यह राम है यही प्रतीति होती है न कि यह राम नही है किन्तु इससे अन्य राम है ऐसी प्रतीति। इस विषय को और भी स्फुट आगे करेंगे।

यह अलौकिक अर्थ दृष्टान्त के विना हृदयंगम नही हो सकता है इस आशय से कहते हैं—इस तथ्य में कौन दृष्टान्त है अर्थात् बहुतों के संयोग से अपूर्व रस उत्पन्न होता है यह कहां देखा है इसका अन्त निर्णय करिये। इस प्रश्न का प्रत्युत्तार भाष्य के द्वारा कहते है—यथेत्यादि से आप्नुवन्ति पर्यन्त। व्यञ्जन उपकरण द्रव्य को कहते हैं। वह उपसेचन द्रव्य तीखा मीठा एवं खट्टा आदि रूप से दही काञ्जी आदि नाना है। ओषधियां चिञ्चा (इमली) गोधूम, दाल एवं हरिद्रादि है। द्रव्य गुड आदि। इनके संयोग से अर्थात् कुशल पाचक के द्वारा पाक के क्रम से सम्पाद्य सम्यक् योजना से हैं।

यथा हि—गुडादिभिर्द्रव्यैर्व्यञ्जनैरोषधिभिश्च षाडवादयो रसा निर्वर्त्यन्ते तथा नानाभावोपगता अपि स्थायिनो भावा (शृङ्गारादि) रसत्वमाप्नुवन्तीति। अत्राह—रस इति कः पदार्थः। उच्यते—आस्वाद्यत्वात्। कथमास्वाद्यते रसः। यथा हि नानाव्यञ्जनसंस्कृतमन्नं भुञ्जाना रसानास्वादयन्ति सुमनसः

अभिनवभारती

गोधूमदलहरिद्रादयः। द्रव्यं गुडादि। एषां पाकक्रमेण सम्यग्योजनारूपात्कुशलसम्पाद्यात्संयोगात्। षाडवादय इति लोकप्रसिद्धेभ्यः परस्परविविक्तेभ्यो मधुरतिक्ताम्ललवणकटुकषायेभ्यो मिश्रेभ्यश्च विलक्षणा षाडवशब्दवाच्याः। तत्प्रधाना बहुतरा रसनयोग्याः क्रियन्ते। तथैव नानाभूतैर्विभावादिभिरुप समीपं प्रत्यक्षकल्पतां गता लोकापेक्षया ये स्थायिनो भावास्ते रस्यमानतैकजीवितं रसत्वं तत्र प्रतिपद्यन्ते।

मधुसूदनी

षाडवशब्दवाच्या इति। सहृदया षड् रसान् अवन्ते कथयन्ति यत्र स रसः षाडवः। अत्र षड् पूर्वकात् "उङ् शब्दे" इत्यस्माद् धातो "पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण" इति घप्रत्यये "ओर्गुण" इति गुणे षडवः इति निष्पद्यते। तदनन्तरं प्रज्ञादित्वात् स्वार्थेऽणि षाडव इति पदं निष्पन्नं भवति।

बालक्रीड़ा

(मूल) जैसे गुड़ादि द्रव्यों, व्यंजन उपसेचन द्रव्यों खट्टे मीठे तीते दही कांजी एवं औषधि हल्दी धनियाँ जीरा हींग आदि के संयोग से षाडवादि पेय रसों की निर्वृत्ति होती है वैसे ही नाना भावों से मिले हुए स्थायीभाव भी शृंगारादि रस रूप को प्राप्त करते हैं। इस पर प्रश्न होता है कि रस यह कौन पदार्थ है अर्थात् रस पद की प्रवृत्ति का निमित्त क्या है कोई जाति है या कोई गुण है या कोई क्रिया है या कोई द्रव्य है। उत्तर। कहते हैं कि आस्वाद्य पदार्थ में रहने

लोक में प्रसिद्ध मधुर, अम्ल लवण, कटु, कषाय एवं तिक्त रसों के किसी द्रव्य में परस्पर मेल से या अलग २ एक २ से षाडव आदि शब्दों से प्रतिपाद्य विलक्षण षाडवादि नाम वाले रस बनते हैं। इस रस को पीने वाले सहृदय लोग (सहृदयाः षड्रसान् अवन्ते कथयन्ति यत्र स रसः षाडवः) छहों रसों के स्वाद को जहां कहते है वह रस षाडव है षड् पूर्वक उङ शब्दे धातु से पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण के द्वारा घ प्रत्यय होने पर (ओर्गुणः) से गुण होने पर षडव बना उसके बाद। प्रज्ञादित्वात् स्वार्थ में अण् होने से षडव ही षाडव बना। इसमें छहों रस प्रधान हैं। क्योंकि देखा गया है एक २ की भी प्रधानता जिसमें हैं या छहों की प्रधानता है ऐसे बहुत से पदार्थ रसन के योग्य बनाये जाते हैं। उसी तरह नाना प्रकार के विभावादि भावों से उप प्रत्यक्षकल्प सामीप्य को प्राप्त हुए जो लोक के अन्य भावों की अपेक्षा से स्थायीभाव हैं वे रस्यमानता ही एक जीवित प्राण है जिसमें ऐसे रसत्व को काव्य में प्राप्त करते हैं।

पुरुषा हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति तथा नानाभावाभिनयव्यञ्जितान् वागङ्गसत्त्वोपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति। तस्मान्नाट्यरसा इत्यभिव्याख्याताः। अत्रानुवंश्यौ श्लोकौ भवतः—

अभिनवभारती

यस्तु भङ्क्त्वा व्याचष्टे—रस इति कोऽयं शब्दः। तत्रोत्तरम्। पदार्थः उच्यत इति। तस्य अनेनेत्यध्याहारं विना प्रकृतपदार्थवाचकोऽयं शब्द इति च तात्पर्यकल्पनं विना नातीव सङ्गतमुत्तरम्। प्रश्नमन्तरेण चास्वाद्यत्वादित्यल्पपद-प्रायमित्यास्तामेतत्।

बालक्रीड़ा

(मूल) वाली आस्वादन क्रिया है। प्रश्न—रस का आस्वादन कैसे होता है। उत्तर। जैसे नाना व्यंञ्जनों से संस्कार किये हुए अन्न को खानेवाले लोग रसों का आस्वादन करते हैं और सुन्दर मन से हर्ष को प्राप्त करते हैं। उसी प्रकार नाना प्रकार के अभिनयों से व्यक्त किये गये वाणी अंग सत्त्व एवं आहार्यों से उपेत स्थायी भावों का दर्शक सामाजिक आस्वादन करते हैं और सुन्दर मन से हर्ष का अनुभव करते हैं इसलिए यह नाटचरसों की पूर्ण व्याख्या हुई। इस विषय में अनुवंश्य यानी गुरु शिष्य की परम्परा में प्रसिद्ध श्लोक हैं।

क्यों कि यह रस शब्द मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय, तिक्त इन न्याय में प्रसिद्ध छहों रसों और पारद विषय, सार, जलसंस्कार, अभिनिवेश, काढ़ा, देह धातु, निर्यास अर्थों में ही प्रसिद्ध है इनके सिवाय अन्य किसी अर्थ में यह प्रसिद्ध नहीं है। इसलिए शृंगारादि में प्रवर्तित व्यवहृत इस रस शब्द का क्या अर्थ है प्रवृत्ति निवृत्ति क्या है। क्या शब्द अपने अभिधेय के नियम के लिए प्रवृत्ति निमित्त को कहता है या उस शब्द को प्रयोग करने वाले या उसके जानकार लोग कहते हैं। अर्थ माने प्रवृत्त निमित्त। अर्थात् वृत्तियों में प्रकृष्टावृत्ति अविद्या के उपयोग के लिए जो निमित्त कारण होता है वह। इस विषय में उत्तर है कि आस्वादनीय है आस्वाद करने योग्य है। क्योंकि प्रवृत्ति के हेतु के सम्बन्ध में प्रश्न है इसलिए उसका उत्तर भी आस्वाद्यत्वात् पद में प्रयुक्त हेतु बोधक पंचमी विभक्ति से ही दिया गया है। इससे आस्वादन क्रिया इस रस शब्द की प्रवृत्ति में निमित्त है यह कहा गया है।

रस इति, कः। पदार्थः उच्यते इन पदों को अलग अलग करके व्याख्या करते हैं कि "रस" यह क्या है। अर्थात् यह कौन शब्द है। इस पर उत्तर है कि रस यह एक पदार्थ है। ऐसा कहते हैं। अनेन उच्यते इस प्रकार उच्यते के कर्त्ता के रूप में अनेन इस पद के आद्याहार के बिना और प्रकृत्त के उपयोगी पदार्थ का वाचक यह रस है इस प्रकार के तात्पर्य की कल्पना के किये बिना "रस इति कः पदार्थ उच्यते" इस वाक्य का अतीव संगत उत्तर नहीं होगा। और प्रश्न के बिना "आस्वाद्यत्वात्" यह पद अल्प है अर्थ के पूरे करने में अधूरा है। इसलिए इसको रहने दिया जाय।

यथा बहुद्रव्ययुतैर्व्यञ्जनैर्बहुभिर्युतम् ।
आस्वादयन्ति भुञ्जाना भक्तं भक्तविदो जनाः ॥३२॥

अभिनवभारती

अथ प्रवृत्तिनिमित्तं व्याक्षिपति—कथमास्वाद्यत इति । आस्वादनं हि रसनेन्द्रियजज्ञानं प्रसिद्धमिति भावः । अत्रोपचरितक्रियाश्रयेणोत्तरमाह यथा नानेत्यादिना। यथातशब्दाभ्यां सादृश्यमत्रोपचारे निमित्तमिति दर्शयति । तत्र भोग्यस्य भोक्तुः फलस्य च साम्यं दर्शयति । यथा हि व्यञ्जनसंस्कृतेऽन्ने आस्वाद्यता । एकाग्रमनसि च भोक्तर्यास्वादयितृता । अन्यचित्तस्य भुञ्जानस्याप्यास्वदाभिमानाभावात् । प्रहर्षाप्याय जीवनपुष्टिबलारोग्याणां चास्वादफलता । तथाभिनयव्यञ्जितेऽपि चिन्त्या । स्थायिशब्दव्यपदेश्ये रसे आस्वाद्यता । एकाग्रे च सामाजिके तन्मयीभूत आस्वादयितृता । हर्षप्रधानानां धर्मादिव्युत्पत्तिवैदग्ध्यादीनामास्वादफलत्वमिति कर्मकर्तृफलसादृश्याद्विभावादिजः प्रतीतिविशेषो रसना क्रियेति व्यपदिष्ट इति तात्पर्यम् । यदन्नं भुञ्जाना रसानास्वादयन्ति सुमनसो हर्षादींश्च यान्ति इत्यनेन शब्देन ।

अभितः सर्वत्र । विशेषेण अन्यभोक्तृविलक्षणतया । आ समन्तात् । ख्याताः प्रसिद्धाः । यथा चैते तथा प्रेक्षका अपि । तेन तेऽपि स्थायिनः आस्वादयन्तीति

बालक्रीड़ा

(मूल) जैसे—भात के स्वाद माधुर्य को जानने वाले पुरुष बहुत से द्रव्यों से एवं बहुत से व्यंजनों से युत भात को खाते हुए आस्वाद लेते हैं ॥३२॥

अब प्रवृत्ति निमित्त के विषय में आक्षेप करते हैं कि कैसे आस्वादन किया जाता है । क्योंकि आस्वादन रसनेन्द्रिय से जन्य ज्ञान रूप अर्थ में प्रसिद्ध है । किन्तु शृंगारादि रसों का आस्वादनात्मक ज्ञान रसनेन्द्रिय से होता नहीं है तब आस्वाद्यत्वात् की संगति कैसे होगी यह यहाँ का भाव है । अब इसका उपचरित क्रिया के द्वारा उत्तर करते हैं—यथा नाना इत्यादि से । यथा एवं तथा शब्दों से उपस्थित सादृश्य इस अर्थ के बारे में लक्षणा करने के लिए निमित्त है । इसको दिखाते हैं । उसमें भोग्य भोग के योग्य द्रव्य, उस द्रव्य के उपभोक्ता, एवं भोग के फल का साम्य दिखलाते हैं । जैसे कि व्यंजन से संस्कृत अन्न में आस्वाद्यता है और एकाग्रमन वाले भोक्ता में आस्वादयितृत्व है । क्योंकि बिना एकाग्रचित्त हुए अन्य मनस्क होने पर खाने वाले को आस्वाद का अभिमान कि मैं खाता हूँ ऐसा नहीं होगा । प्रहर्ष आनन्द, आप्यायन, तृप्ति, जीवन, पुष्टि, बल एवं आरोग्य वगैरह आस्वाद के फल है । वैसे ही अभिनयों से व्यञ्जित तत्त्व में भी चिन्तन करना चाहिए । स्थायी शब्द से व्यपदेश्य रस में आस्वाद्यता है । एकाग्रचित्त तन्मयीभूत सामाजिक में आस्वादयितृत्व है । आनन्द जिनमें मुख्य हैं ऐसे धर्म, अर्थ, काम मोक्ष एवं उनके विषय की व्युत्पत्ति एवं वैदग्धी आदि में आस्वाद फलत्व है । इस तरह कर्म कर्त्ता एवं फल में रहने वाले सादृश्य से विभावादि जन्य प्रतीति विशेष को रसना क्रिया इस नाम से कहा गया है । यह यहाँ का तात्पर्य खाने वाले लोग रस का आस्वादन करते हैं और प्रसन्नचित्त हुए हर्ष का अनुभव करते हैं इस शब्द से प्राप्त होता है ।

अभिनवभारती

आभिमुख्येन सादृश्ये व्याख्याता अस्माभिर्व्यवहृताः। अत्रोपसंहारः। तस्मा-न्नाट्यरसाः :

अन्ये त्वादिशब्देन शोकादीनामत्र सङ्ग्रहः। स च न युक्तः। सामाजिकानां हि हर्षैकफलं नाट्यं न शोकादिफलम्। तथात्वे निमित्ताभावात्तत्परिहारप्रसङ्गाच्चेति मन्यमाना हर्षांश्चाधिगच्छन्तीति पठन्ति।

एवं ग्रन्थयोजनायां स्पष्टायां यत् कैश्चिदत्र चोदितं, दृष्टान्ते आत्मा रसना मनश्चेति त्रयम्। प्रकृते तु रसनैवेति। परिहृतं चात्मन एवात्र स्थानान्तरसङ्क्रान्तस्य मनःस्थानीयता। मनसश्च रसनास्थानीयतेति। तत्सर्वं वृथा नाट्यमात्रम्। उप-चारबीजस्य सादृश्यस्यात्र प्राधान्येन प्रतिपिपादयिषितत्वादित्यास्ताम्।

एवं रसत्वं केन वै तेषामिति यत्प्रश्नितं तत्प्रतिसमाहितम्। अत्रेति भाष्ये। अनुवंशे भवौ शिष्याचार्यपरम्परासु वर्तमानौ श्लोकाख्यौ वृत्तविशेषौ सूत्रार्थसंक्षेप-प्रकटीकरणेन कारिकाशब्दवाच्यौ भवतः। तौ पठति यथेत्यादि। मधुरादिभेदा-द्बहूनि द्रव्याणि गुडादीनि। बहुभिरिति दधिकञ्जिकादिभिः। अनेन विभावभेदं रसभेदे हेतुत्वेन सूचयति। भुञ्जाना आस्वादयन्तीति। रसनाव्यापाराद्भोजनादधिको यो मानसो व्यापारः स एवास्वादनमिति दर्शयति।

बालक्रीड़ा

अभितः माने सभी तरफ। विशेष करके, अर्थात् अन्य भोक्ताओं की अपेक्षा विलक्षण रूप से। आसमन्तात् चारों तरफ ख्यात प्रसिद्ध हैं। जैसे ये खाने वाले सुमना हैं उसी तरह प्रेक्षक भी आस्वादयिता हैं। इससे वे भी स्थायी का आस्वादन करते हैं इस प्रकार अनुकूलतया सादृश्य के विषय में व्याख्यान से प्राप्त हुए हैं। हमने उनका इस रूप में व्यवहार किया है। अब उपसंहार करते हैं कि इस लिए ये नाटचरस हैं। और लोग तो यहाँ हर्षादींश्च के आदि शब्द से शोकादि का संग्रह करते हैं। वह ठीक नहीं है। क्योंकि सामाजिकों के लिए नाटच का एक मात्र हर्ष ही फल है शोक वगैरह कोई फल नहीं है। अगर शोक वगैरह फल को भी मानेंगे तो विना कारण के परिहार करने का प्रसंग उपस्थित हो जायगा इस सिद्धान्त को मान कर हर्षादीन् पद में से आदि पद को निकाल देते हैं और हर्षांश्च इसको पढ़ते हैं।

इस प्रकार स्पष्ट ग्रन्थ की योजना हो जाने पर भी किसी ने यहाँ पहिले चोद्य किया कि दृष्टान्त लौकिक रस में आत्मा, मन, एवं रसना ये तीन हैं। प्रकृत दार्ष्टान्तिक अलौकिक रस में केवल रसना ही है। फिर परिहार भी उसका किया कि यहाँ आत्मा ही स्थानान्तर हृदय में संक्रान्त होकर मन का स्थान ग्रहण करता है। और मन रसना के स्थान को। यह सब व्यर्थ है केवल नाटच है। उपचार का बीज सादृश्य ही यहाँ प्रधान रूप से प्रतिपादन के लिए अभीष्ट है। इसलिए रहने दिया जाय।

इस प्रकार "उनको रसत्व कैसे प्राप्त होता है" ऐसा जो प्रश्न किया था उसका प्रति-समाधान कर दिया। अत्र माने भाष्य मे। अनुवंश में होने वाले यानी शिष्य एवं आचार्य की

भावाभिनयसंबद्धान्स्थायिभावांस्तथा बुधाः ।
आस्वदयन्ति मनसा तस्मान्नाट्यरसाः स्मृताः ॥३३॥

अभिनवभारती

एतदुक्तं भवति—न रसनाव्यापार आस्वादनम्। अपि तु मानस एव। स चात्राविकलोऽस्ति। केवलं लोके रसनाव्यापारानन्तरभावी स प्रसिद्ध इत्युपचार इह दर्शित इति ॥३२॥

शुद्धतत्त्वरूपज्ञानस्वभावा अत्र भावा विभावव्यभिचारिणः। अभिनया अनुभावा एव। इदं पृथग्वचनं प्राधान्यात्। तै यैः सम्यग्बद्धा हृदयसंवादक्रमेण तन्मयीभावापन्नप्रमातृभूम्यभेदमुपसम्प्राप्ता अचिन्त्याः स्थायिनः आ समन्तात्साधारणीभावेन निर्विघ्नप्रतिपत्तिवशात्। मनसा इन्द्रियान्तरविघ्नसंभावनाशून्येन स्वादयन्ति स्वपरविवेकशून्यस्वादचमत्कारपरवशतया लौकिकात्प्रत्ययादुपार्जनादिविघ्नबहुलाद्योगिप्रत्ययाच्च विषयास्वादशून्यतापरुषाद्विलक्षणाकारसुखदुःखादिविचित्रवासनानुवेधोपनतहृद्यतातिशयसंविच्चर्वणात्मना भुञ्जते। बुधा इति पूर्णोपयोगो लौकिकानां प्रत्याक्षादीनामत्र दर्शितः।

बालक्रीड़ा

(मूल) उसी तरह नाना अभिनयों से सम्यक् बद्ध हृदयंगत स्थायीभावों का बुध लोग मन से आस्वादन करते हैं इसलिए ये नाट्य रस स्मरण किये गये हैं ॥३३॥

परम्परा में वर्त्तमान श्लोक कहलाते हैं। जो सूत्र के अर्थ को संक्षेप से प्रकट करने के कारण कारिका शब्द वाच्य होते हैं। उनको पढ़ते है "यथा" इत्यादि। मधुरादि भेद से गुड़ादि बहुत से द्रव्य हैं। बहुभिः माने दही एवं काञ्जी वगैरह। इससे सूचित करते है कि विभावों का भेद रस के भेद का हेतु है। खाते हुए आस्वाद लेते हैं इससे दिखाते हैं कि भोजनरूप रसना व्यापार से अधिक मानस व्यापार है वही यहाँ प्रधान है।

इसका निष्कर्ष यह है कि रसनाव्यापार आस्वादन नहीं है अपितु मानस व्यापार ही आस्वादन है। वह व्यापार यहाँ प्रकृत में अविकल है। केवल लोक में रसना व्यापार के अनन्तर वह व्यापार होता है ऐसी प्रसिद्धि है इसलिए यह उपचार यहाँ दिखा दिया ॥३२॥

अब भावाश्चैव कथं प्रोक्ता में जो भाव शब्द है उसके अर्थ को कहते हैं कि यहाँ भाव माने विभाव एवं व्यभिचारी हैं। जो शुद्ध चित्तवृत्तिस्वरूप ज्ञान के स्वभाव वाले है। अभिनय अनुभाव हैं। अनुभावों का यह भावों से पृथक् कथन प्रधानता को द्योतित करता है कि विभाव एवं व्यभिचारियों की तरह अनुभावों का भी यद्यपि भाव शब्द से ग्रहण हो सकता था तद्यपि दृश्य काव्य में अभिनयात्मा अनुभाव प्रधान हैं इस बात को बतलाने के लिए उनको उनसे अलग कहा।

उनसे जो सम्यक् बद्ध हैं अर्थात् हृदयों के संवाद क्रम से [एक ने जिस बात को जैसे जाना समझा दूसरे ने भी उसको वैसे अनुभव किया इसको हृदयों का संवाद क्रम कहते हैं]

अभिनवभारती

एतदुपसंहरति—तस्मादिति। नाट्यात्समुदायरूपाद्रसाः। यदि वा नाट्यमेव रसाः। रससमुदायो हि नाट्यम्। न नाट्य एव च रसा। काव्येऽपि नाट्यायमाने एव रसः। काव्यार्थविषये हि प्रत्यक्षकल्पसंवेदनोदये रसोदय इत्युपाध्यायाः।

यदाहुः काव्यकौतुके—

"प्रयोगत्वमनापन्ने काव्ये नास्वादसम्भवः।" इति।

"वर्णनोत्कलिताभोगप्रौढोक्त्या सम्यगर्पिताः।
उद्यानकान्ताचन्द्राद्या भावाः प्रत्यक्षवत्स्फुटाः॥" इति।

अन्ये तु काव्येऽपि गुणालङ्कारसौन्दर्यातिशयकृतं रसचर्वणमाहुः। वयं तु ब्रूमः—काव्यं तावन्मुख्यतो दशरूपकात्मकमेव। तत्र ह्युचितैर्भाषावृत्तिकाकुनेपथ्यप्रभृतिभिः पूर्यते रसवत्ता। सर्गबन्धादौ हि नायिकाया अपि संस्कृतैवोक्तिरित्यादि बहुतरमनुचितं केवलं शक्तिरहितत्वाद्भयावर्ण्यते। तावति इव हृद्यमिति न्यायेनानौचित्यं न प्रति-

बालक्रीड़ा

तन्मयीभाव को प्राप्त प्रमाता की भूमि से स्वभाव से अभिन्न अचिन्त्य स्थायी भाव का हर तरह से साधारणीभाव के द्वारा निर्विघ्न प्रतिपत्ति के बल पर इन्द्रियान्तर के विघ्नों की संभावना से शून्य स्वाद से जनित चमत्कार के परवश होने के कारण उपार्जनादि बहुत से विघ्नों वाले लौकिक प्रत्यय एवं विषयों के आस्वाद से शून्य योगी के प्रत्यय से विलक्षण आकार वाला सुख दुःखादि विचित्र वासनाओं के अनुवेध से हृद्यतातिशय विशिष्ट संविच्चर्वणा से भोग करते हैं। बुधा इससे लौकिक प्रत्यक्षादि प्रमाणों का यहाँ पर पूर्ण उपयोग दिखा दिया है।

अब इसका उपसंहार करते हैं कि तस्मादिति इस हेतु से नाटच अर्थात् नाना अभिनयों के समुदाय से रस अभिव्यक्त होते हैं अथवा नाटच ही रस हैं। रस समुदाय ही नाटच है। नाटच ही में केवल रस नहीं है अपितु नाटचायमान काव्य में भी रस है। प्रत्यक्ष कल्प से वेदना का उदय जिसमें होता है ऐसे काव्यार्थ के विषय में रस का उदय होता है यह हमारे उपाध्याय जी का मत है। जैसा कि उन्होंने अपने काव्य कौतुक ग्रन्थ में कहा है।

प्रयोग रूप को प्राप्त नहीं होने वाले काव्य में आस्वाद का संभव नहीं है। वर्णन के रूप में अभोग के विस्तार का उत्कलन करने वाली या वर्णन की उत्कलिका उत्कण्ठा से आभोगयुक्त अर्थात् विस्तृत वर्णन कविप्रौढोक्ति या कविनिबद्ध वक्तृप्रौढोक्ति के द्वारा सुन्दरता से अर्पित किये गये उद्यान चन्द्रादि उद्दीपन एवं कान्तादि आलम्बन विभावरूप भाव प्रत्यक्ष की तरह स्फुट हैं।

और लोग तो काव्य में भी गुणालंकारों के दृढ सौन्दर्यातिशय के बदौलत रस चर्वणा को कहते हैं। किन्तु हमारा कथन है कि काव्य तो मुख्य रूप से दशरूपक ही है। क्यों कि उसी में उचित भाषा वृत्ति प्रवृत्ति काकु नेपथ्य प्रभृति के द्वारा रसवत्ता पूर्ण होती है

अभिनवभारती

हार्यम्। तत एवोच्यते 'सन्दर्भेषु दशरूपकम् (वामन. का.) इति। तेन तदंश (दङ्ग) सन्ध्यादिसङ्घटनमुद्धृत्य सर्गबन्धादि यावन्मुक्तकम्। यत्तु दशरूपकं तस्य योऽर्थस्तदेव नाट्यम्। यद्वक्ष्यते 'नाट्यस्यैषा तनूः' (ना. शा. १४.२) इति। तस्य हृदयसंवादतारतम्यापेक्षया श्रोतृप्रतिपत्तृस्फुरणं स्फुटास्फुटत्वेनातिविचित्रम्।

तत्र ये स्वभावतो निर्मलमुकुरहृदयास्त एव संसारोचितक्रोधमोहाभिलाषपरवशमनसो न भवन्ति। तेषां तथाविधदशरूपकाकलनसमये साधारणरसनात्मकचर्वणग्राह्यो रससञ्चयो नाट्यलक्षणः स्फुट एव। ये त्वतथाभूतास्तेषां प्रत्यक्षोचिततथाविधचर्वणालाभाय नटादिप्रक्रिया। स्वगतक्रोधशोकादिसङ्कटहृदयग्रन्थिभञ्जनाय गीतादिप्रक्रिया च मुनिना विरचिता। सर्वानुग्राहकं हि शास्त्रमिति न्यायात्। तेन नाट्य एव रसा न लोक इत्यर्थः। काव्यञ्च नाट्यमेव।

बालक्रीड़ा

या पूरी की जाती है। सर्गबन्ध आदि काव्यों में नायिका की संस्कृत में ही उक्ति होती है नायिका की भी बोल चाल की भाषा संस्कृत ही होती है इत्यादि बहुत से अनुचित कार्य हैं जिनके बारे में कहा जाता है कि इसमें कवियों की विवशता है सर्ग की एक रूपता के विभंजन करने में कवि शक्ति रहित हैं विधान के सम्मुख विवश हैं। तावति इव उतने पर भी वह हृद्य है आकर्षक है इस न्याय का अनुसरण करने से अनौचित्य का प्रतिहरण नहीं होता है। इसी लिए कहते हैं कि सन्दर्भों में प्रबन्धों में दशरूपक ही अतिशय श्रेष्ठ है। इससे दशरूपकों के अंश संध्यादि के काव्य में संघटन का निर्माण का उत्कृष्ट रूप से धारण पोषण सर्गबन्घ महाकाव्य से लेकर मुक्तक खण्ड काव्य तक काव्य है। यहाँ "सर्गबन्धो महाकाव्यम्" के अनुसार तथा अंगानि सर्वेऽपि रसाः सर्वे नाटक सन्धयः" के अनुसार सर्गबन्ध पद का अर्थ महाकाव्य है और उसमें नाटक की सभी सन्धियां होती हैं। अतः उद्धृत्य पद का उत्तम रूप से संधियों का पोषण अर्थ है। जो तो दशरूपक है और उसका जो अर्थ है वही नाट्य है। जैसा कि कहेंगे कि नाट्य की यह तनू है। ऐसा स्मरण है। उसमें हृदयसम्वाद के तारतम्य की अपेक्षा से वक्ता एवं समझदार श्रोता का स्फुरण प्रत्यय स्फुट एवं अस्फुट होने के कारण अत्यन्त विचित्र है।

जिनका तो स्वभाव से ही मुकुर की तरह निर्मल हृदय है उनका मन संसार के उचित क्रोध मोह एवं अभिलाष के परवश नहीं होता है। उनके लिए उस तरह के दशरूपकों के आकलन करते समय साधारणीकरण से रसनात्मक चर्वणा से संग्राह्य नाट्य लक्षण रससंचय स्फुट ही है। जो तो वैसे नहीं है जिनका हृदय दर्पण निर्मल नहीं है उनके लिए प्रत्यक्ष के योग्य उस तरह की सामग्री से चर्वणा को प्राप्त करने के लिए नटादि प्रक्रिया की जाती है। सामाजिक के अपने क्रोध एवं शोकादि से संकट ग्रस्त हृदय की ग्रंथियों के भंजन करने के लिए मुनिने गीतादि प्रक्रिया की रचना की है। यह न्यायानुसरण औचित्य प्राप्त है कि शास्त्र सबका अनुग्राहक होता है। इससे सिद्ध है कि नाट्य में ही रस है लोक में नहीं। और काव्य नाट्य ही है।

अभिनवभारती

अत एव च नटे न रसः। कुत्र तर्हि। विस्मृतिशीलो न बोध्यते। उक्तं हि देशकालप्रमातृभेदानियन्त्रितो रस इति केयमाशङ्का। नटे तर्हि किम्, आस्वादनोपायः। अत एव च पात्रमित्युच्यते। न हि पात्रे मद्यास्वादः। अपि तु तदुपायकः। तेन प्रमुखमात्रे नटोपयोग इत्यलम्।

चित्रपुस्ताद्यपि च नाट्यस्यैवार्थभागाभिष्यन्दो यथा सर्गबन्धादि शब्दभागाभिष्यन्दः। एतच्च 'योऽर्थो हृदयसंवादी।' (ना. शा. ७.१०) इत्यत्र वितत्य वक्ष्यामः।

अन्ये त्वभिनयादिसामग्रीमयं बहिर्दृश्यमानं नाट्यं नटधर्मः कर्म रूपमित्याशयेन नाट्याद्रसा इत्याहुः। स्मृता इति सम्प्रदायाविच्छेदं दर्शयति। ये तु रत्याद्यनुकरणरूपं रसमाहुः। अथ चोदयन्ति शोकः कथं सुखहेतुरिति। परिहरन्ति च अस्ति कोऽपि नाट्यगतानां विशेष इति। तत्र चोद्यं तावदसत्। शोको हि प्रतीयमानः किं स्वात्मनि प्रत्येतुर्दुःखं वितनोतीति नियमः। शत्रुदुःखे प्रहर्षात्। अन्यत्र च मध्यस्थत्वात्। उत्तरं तु भावानां वस्तुस्वभावमात्रतेति न किञ्चिदत्र तत्त्वम्।

बालक्रीड़ा

इसीलिए नट में रस नहीं है। तब कहाँ रस है। बार २ आपको बतलाया गया है आप भूल जाते हैं। अब हम भूलने वाले को नहीं बतलायेंगे। कितनी वार कह चुके हैं कि देश, काल, अवस्था एवं प्रमाता पात्र के भेदों से जकड़ा हुआ नियन्त्रित रस नहीं है। तब यह आपकी कैसी आशंका कि रस क्या है। अच्छा फिर आपही बतलाइये कि नट में तब क्या है। उत्तर नट आस्वादन का उपाय है। इसीलिए पात्र कहा जाता है। और पात्र मद्यका आस्वादन नहीं कर सकता है। अपितु आस्वादन का उपाय है। प्रमुख ही के रूप में नट का उपयोग होता है। पयोमात्रं भुंक्ते की तरह (दूध ही केवल पीता है) मात्र शब्द का अवधारण अर्थ में प्रयोग है।

चित्र एवं पुस्त आदि भी नाट्य के ही अर्थ भाग का अभिष्यन्द है। जैसे कि सर्गबन्धादि शब्दभाग के अभिष्यन्द है झरने हैं। इसका विस्तृत कथन "योऽर्थो हृदयसंवादी" इस कारिका की व्याख्या करते समय कहेंगे।

दूसरे लोग तो कहते हैं कि अभिनयादि सामग्री ही बाहर दिखाई पड़ने वाली नाटच है नट का धर्म, कर्म एवं रूप है। स्मृताः इससे सम्प्रदाय का अविच्छेद दिखलाते हैं। जो तो कहते हैं कि रत्यादि का अनुकरण ही रस है और चोद्य भी करते हैं कि शोक कैसे सुख का हेतु है। इसका परिहार भी करते हैं; हाँ है कोई नाटचगत पदार्थों में वैलक्षण्य। उनमें चोद्य तो असत्। शोक प्रतीयमान हुआ क्या प्रतीतिकर्त्ता के अपनी आत्मा में दुःख को फैलाता है ऐसा कोई नियम है। शत्रु के दुःखी होने पर तो अपनी आत्मा में हर्ष ही होता है। अन्य स्थानों में तो मध्यस्थ होने के कारण न दुःख है और न सुख है। अच्छा। शोक सुख का जनक कैसे हुआ इसका क्या उत्तर है। इस पर कहते हैं कि इसका उत्तर तो शोकादि भावों के सम्बन्ध में वस्तु का स्वभाव ही है अतः इसमें कोई तत्त्व नहीं है।

अत्राह—किं रसेभ्यो भावानामभिनिर्वृत्तिरुताहो भावेभ्यो रसानामिति। केषाञ्चिन्मतं परस्परसम्बन्धादेषामभिनिर्वृत्तिरिति। तन्न। कस्मात्। दृश्यते हि भावेभ्यो रसानामभिनिर्वृत्तिर्न तु रसेभ्यो भावानामभिनिर्वृत्तिरिति। भवन्ति चात्र श्लोकाः—

अभिनवभारती

अस्मन्मते संवेदनमेवानन्दघनमास्वाद्यते। तत्र का दुःखाशङ्का। केवलं तस्यैव चित्रताकरणे रतिशोकादिवासनाव्यापारः। तदुद्बोधने चाभिनयादिव्यापारः ॥३३॥

यदेतदुक्तं रसतत्त्वं तदेवोपशोधयितुमुपक्रमते—अत्राहेत्यादिना चोद्यमुखेन। नर्तकगतेभ्यो रसेभ्यो भावाः सामाजिके। यथा करुणाच्छोकः। ततो विभावाद्युपचितशोकः सामाजिके करुण इति रसाद्भावो, भावाद्रस इति सन्देहः। अत एव परस्परमपि जन्म कालभेदेनेति तृतीय पक्षः। यदि वा नट एव राम एव चापूर्वं भावः। तत उपचये रसः। ततोऽप्यपचये भाव इत्येवं पक्षत्रयोत्थानम्। इदं चासत्। एवम्भूतस्य रसस्वरूपस्य निराकृतत्वात्।

बालक्रीड़ा

(मूल) इसपर प्रश्न करते हैं कि क्या रसों से भावों की अभिनिर्वृत्ति सम्पन्नता होती है अथवा भावों से रसों की निष्पत्ति होती है। इस विषय में किन्हीं आचार्यों का मत है कि परस्पर के सम्बन्ध से इनकी निष्पत्ति होती है यानी रसों से भावों की एवं भावों से रसों की निष्पत्ति होती है। इसका खण्डन करते हैं कि यह ठीक नहीं। प्रश्न—क्यों ठीक नहीं है। उत्तर। देखते हैं कि भावों से ही रसों की निष्पत्ति होती है। न कि रसों से भावों की। इस विषय के समर्थक श्लोक हैं।

हमारे मत में तो आनन्द घन संवेदन का आस्वादन किया जाता है अतः इसमें दुःख की आशंका ही नहीं है। केवल उस आनन्द घन संवेदन में चित्रता नानाप्रकारता करने के लिए रति शोक आदि वासनाओं का व्यापार होता है। और उन रत्यादि के उद्बोधन में अभिनयादि का व्यापार होता है ॥३३॥

इस तरह जिस रस तत्त्व को कहा उसी के उपशोध के लिए अत्राह इत्यादि द्वारा चोद्य मुख से उपक्रम करते हैं। नर्तक में रहने वाले रसों से सामाजिक में भाव उत्पन्न होते हैं। जैसे करुण से शोक। नट करुण रस का अभिनय करता है उसको देखने से सामाजिक शोकाकुल होते हैं। फिर विभावादि से उपचित हुआ शोक सामाजिक में करुण बन जाता है। इस लिये सन्देह होता है कि रस से भाव उत्पन्न होते हैं या भावों से रस उत्पन्न होते हैं। अतएव काल भेद के द्वारा परस्पर से परस्पर का जन्म होता है यह तृतीय पक्ष है। यदि कहें कि नट ही में अपूर्व भाव है अथवा राम ही में अपूर्व भाव है। इस तरह अनुकर्त्ता में एकदम नवीन भाव पैदा होते हैं या अनुकार्य में नितान्त नूतन भाव होता है।

नानाभिनयसम्बद्धान्भावयन्ति रसानिमान्।
यस्मात्तस्मादमी भावा विज्ञेया नाट्ययोक्तृभिः ॥३४॥

अभिनवभारती

श्रीशङ्कुकस्त्वाह—अनुकर्तरि रसानास्वादयतोऽनुकार्ये भावप्रतीतिः प्रयोगे। लोके प्रकृती रसं निष्पादयतीति द्वितीयपक्षो नाट्याचर्याभिप्रेतशिक्षानुसारेण। अत एव च तृतीयोऽपि संभवति। एतदप्यसत्। न हि सामाजिकोऽनुकार्यानुकर्तृविभागमवैति। दूषितश्चानुकरणवादः।

तस्मादित्थमेतत्—किं रसेभ्यो भावा, उत विपर्ययः, आहो अन्योन्यजनकतेति त्रयः प्रश्नाः। आहोशब्दो भिन्नक्रमः। विभावादिभ्यस्तावद्रसनिष्पत्तिरुक्ता। स एव द्वितीयः पक्षोऽभ्युपगतः पूर्वम्। एतच्च कथम्। न हि लोके विभावानुभावादयः केचन भवन्ति। हेतुकार्यावस्थामात्रत्वाल्लोके तेषाम्। अथ त एव रसनोपयोगित्वे विभावादिरूपतां प्रतिपद्यन्ते। तर्हि रसप्रसादाद्भावा विभावादयः। अथोच्यते विभावादिप्रसादाद्रसो यथोक्तं प्राक्। रसप्रसादाच्च विभावादिरूपत्वम्। तर्हि परम्पराश्रयत्वम्। इतरेतराश्रयाणि च न प्रकल्पन्त इत्याक्षेपः।

बालक्रीड़ा

(मूल) क्योंकि नाना प्रकार के अभिनयों से सम्बद्ध इन रसों को ये भावित करते हैं अतः नाट्य के प्रयोक्ता लोग इन को भाव समझें॥ ३४॥

उनकी उपचयावस्था में रस होता है। उनकी अपचयावस्था में भाव होता है इस प्रकार तीन पक्षों का उत्थान होता है। यह असत् है। क्योंकि एवम्भूत रस के स्वरूप का निराकरण कर दिया है।

श्रीशंकुक तो कहते हैं कि प्रयोग में अनुकर्ता में रस का आस्वादन करने वाले सामाजिक को अनुकार्य में रत्यादि भावों की प्रतीति होती है। दर्शक लोग में सामाजिक जनता में वह प्रतीति रस को निष्पन्न करती है। यह द्वितीय पक्ष नाट्याचार्य की अभिमत शिक्षा के अनुसार है। इसीलिए तृतीय पक्ष भी संभव है कि अनुकर्त्ता में भाव की प्रतीति को करने वाले सामाजिक को अनुकार्य में रस की प्रतीति होती है। यह भी असत् है। रस की प्रतीति में विभोर सामाजिक अनुकार्य एवं अनुकर्त्ता के विभाग को समझता ही नहीं है। इसके सिवाय अनुकरणवाद को दूषित कर दिया है।

इसलिए यह सिद्धान्त इस प्रकार है कि क्या रसों से भावों की उत्पत्ति है या विपर्यय है यानी भावों से रसों की उत्पत्ति है अथवा परस्पर जन्यजनक भाव है। ये तीन प्रश्न हैं। आहो शब्द का स्थान भिन्न है।

विभावादि से रस की निष्पत्ति कही है। यही द्वितीय पक्ष कि भावों से रस की निष्पत्ति होती है पहले से अभ्युपगत है। अब प्रश्न होता है कि वह कैसे। क्योंकि लोक में विभाव अनुभाव एवं व्यभिचारी नाम के कोई पदार्थ नहीं है। लोक में केवल उनकी हेतु

नानाद्रव्यैर्बहुविधैर्व्यञ्जनं भाव्यते यथा ।
एवं भावा भावयन्ति रसानभिनयैः सह ॥३५॥
न रसो भावहीनोऽस्ति न भावो रसवर्जितः ।
परस्परकृता सिद्धिस्तयोरभिनये भवेत् ॥३६॥

अभिनवभारती

अत्र सिद्धान्तमाह—दृश्यते हीति । प्रमदादयः प्रतीताः सन्तो रसास्वादं विदधते यथोक्तं प्राक् । अतो न रसेभ्यो भावाः । भावशब्दार्थपर्यालोचनया चैतदेवोपपन्नमिति श्लोकेनाह—नानाभिनयैः सम्यग्बद्धान् हृदयं गतान् भावयन्ति सम्पादयन्ति रसांस्तस्माद्भावाः ॥३४॥

नन्वेतद्भावशब्दप्रवृत्तिनिमित्तम् । न तत्प्रकृतं किञ्चिदुक्तमित्याशङ्क्यय प्रकृते योजयितुमाह—नानाद्रव्यैरिति । व्यज्यत इति व्यञ्जनश्चानुपानादिरसोऽत्राभिप्रेतः । बहुविधैरिति व्यञ्जनस्योपलक्षणम् । अभिनयैरित्यस्य वा विशेषणम् ॥३५॥

बालक्रीड़ा

(मूल) जैसे नाना प्रकार के बहुविध द्रव्यों से व्यंजन की भावना की जाती है उसी प्रकार भाव अभिनयों के साथ होकर रसों की भावना कराते हैं ॥३५॥

(मूल) भाव से हीन रस नहीं है और न रस से हीन भाव है । अतः अभिनय में उनकी परस्पर के कारण सिद्धि होती है ॥३६॥

कार्य एवं सहकारी रूप अवस्थायें बतलाई हैं । और वे ही रसना के उपयोगी होने से विभावादिरूपता को प्राप्त करते हैं । तो इसका आशय हुआ कि रस के प्रसाद से रस की कृपा से भाव होते हैं । जिनका नाम विभाव अनुभाव एवं संचारी होता है । अगर कहें जैसा कि पहले कह चुके हैं कि विभावादि के प्रसाद से रस निष्पन्न होते हैं । और रस प्रसाद से विभावादि निष्पन्न होते हैं । तब तो परस्पराश्रयत्व प्राप्त होता है । किन्तु परस्पराश्रय कार्यों की (शास्त्र में) कल्पना ठीक नहीं है । यह आक्षेप होता है ।

अब सिद्धान्त कहते हैं कि—देखते हैं इति । प्रमदादि प्रतीत हुए रसास्वाद के जनक होते हैं जैसा कि पहले कहा गया है । अतः रसों से भावों की उत्पत्ति नहीं होती है । क्योंकि भाव शब्द के अर्थ की पर्यालोचना से भी यही तथ्य उपपन्न होता है तर्क संगत मालूम पड़ता है । इस अंश को श्लोक के द्वारा कहते हैं कि नाना प्रकार के अभिनयों से सम्यक् प्रकार से बद्ध अर्थात् हृदयगत रसों को भावित करते हैं सम्पादित करते हैं इसलिए भाव हैं ॥३४॥

प्रश्न—यह तो भावशब्द की प्रविृत्ति के निमित्त को कहा इसमें प्रकृत के संगत कुछ नहीं कहा है । ऐसी आशंका करके प्रकृत के साथ संगति करने के लिए कहते हैं—नाना-द्रव्यों से व्यक्त होता है । इस कथन का अभिप्राय है कि व्यंजन शब्द यहाँ अनुपानादि रस का उपस्थापक है । बहुविध बहुत प्रकार यह व्यंजन का उपलक्षण है । अथवा अभिनयैः पद का विशेषण है । ३५ ।

व्यञ्जनौषधिसंयोगो यथाऽन्नं स्वादुतां नयेत् ।
एवं भावा रसाश्चैव भावयन्ति परस्परम् ॥३७॥

अभिनवभारती

एवं स्थितपक्षमुपसंहरति—न रसो भावहीनोऽस्ति इति । अत्र चोद्यवादी स्वाशयमुन्मीलयति—न भावो रसवर्जित इति । लोके हि न कश्चिद्विभावादिव्यवहार इति भावः । अथोत्तरमाह—परस्परकृता सिद्धिस्तयोरभिनये भवेत् । अभिनये साक्षात्कारे संपन्ने तदुपयोगितया विभावादिव्यपदेश इत्यतो या परस्परकृता सिद्धिः सा भद्रं भवेदिति संभाव्यते । एवम्भूतमितरेतराश्रयजं न दूषणमित्यर्थः ॥३६॥

अत्रैव दृष्टान्तमाह—व्यञ्जनौषधिसंयोग इति । व्यञ्जनौषधिसंयोगोऽन्नं च कर्तृ यथा परस्परमन्योन्यं कर्मभूतं स्वादुतां नयेत् तथा भावा रसाश्चान्योन्यं भावयन्ति । भावा रसान्भावयन्ति निष्पादयन्ति । रसास्तु भावान् भावयन्ति । भावान्कुर्वन्ति । भावादिव्यपदेश्याङ्कुर्वन्तीत्यर्थः ।

एतदुक्तं भवति—एकत्रैकदा क्रियायामन्योन्याश्रयत्वं दोषो न तु क्रियाभेदे । यथा व्यञ्जनादिसंयोगेनान्नस्याह्लादिरसवत्ता क्रियते । अन्नेन चाश्रयरूपेण सता

बालक्रीडा

(मूल) जैसे व्यंजन एवं औषधि का संयोग अन्न को स्वादु बना देता है । इसी तरह रस और भाव परस्पर में परस्पर से भावित है ॥३७॥

इस प्रकार स्थित (सिद्धान्त) पक्ष का उपसंहार करते हैं कि भावहीन यानी भाव के विना रस नहीं है । इस पर चोद्य करने वाला अपने आशय का उन्मीलन करता है कि रस वर्जित अर्थात् रस के विना भाव नहीं है । इस का भाव यह है कि लोक में विभावादि रूप से कोई व्यवहार नहीं है । अब इस पर उत्तर कहते हैं कि अभिनय के प्रसंग में इन रसों एवं भावों में परस्पर के आश्रय से सिद्धि होती है । अभिनय के समय में विषयों के साक्षात्कार सम्पादन में उपयोगी होने से विभावादि का व्यवहार होता है इससे जो परस्पर कृत सिद्धि है एक दूसरे से एक दूसरे की निष्पत्ति होती है वह ठीक हो सकती है ऐसी संभावना करते हैं । अतः परस्पराश्रय के कारण होने वाला दोष प्रकृत में नही है । ३६ ।

इसी प्रसंग में दृष्टान्त कहते हैं कि व्यंजन के साथ औषधियों का संयोग होता है । यह व्यंजनौषधिसंयोग और अन्न ये दोनों कर्त्ता, परस्पर में स्वादुता कर्म को प्राप्त कराते हैं । तथा भाव और रस परस्पर की भावना कराते हैं और रस भावों को भावित करते हैं भावों को करते हैं अर्थात् रस अपने कारणादि को भावादि पद से कहने के योग्य कर देते हैं ।

यहाँ का आशय यह है कि एक ही पदार्थ में एक ही समय में एक ही क्रिया होने पर अन्योन्याश्रय दोष होता है । क्रिया भेद एवं काल भेद में वह दोष नहीं है । जैसे व्यंजनौषधिसंयोग से अन्न को आल्हादी रसवान् किया जाता है । और अन्न जब आश्रय रूप में रहेगा तभी व्यंजन में सुखजनकता की योग्यता होगी । इस तरह भावों से

यथा बीजाद्भवेद् वृक्षो वृक्षात्पुष्पं फलं यथा ।
तथा मूलं रसाः सर्वे तेभ्यो भावा व्यवस्थिताः ॥३८॥

अभिनवभारती

व्यञ्जनसुखयोग्यता क्रियते। एवं भावै रस्यमानता। रसैश्च विभावादिव्यपदेश्यता कारणादीनाम्। यथा पटापेक्षया तन्तवः पटकारणमिति व्यपदेश्याः। तन्त्वपेक्षया पटः कार्यः। न चेतरेतराश्रयंयत्वं तथा प्रकृतेऽपीति ॥३७॥

ननु यदि भावेभ्यो रसास्तर्हि कथमुक्तं 'न हि रसादृते कश्चिदप्यर्थः प्रवर्तते। तेन पूर्वं त एवोद्देश्याः' इत्याशंक्याह—यथेत्यादिना। बीजं यथा वृक्षमूलत्वेन स्थितं तथा रसाः। तन्मूला हि प्रीतिपूर्विका प्रयोजने नाट्ये काव्ये सामाजिकधियि च। व्युत्पत्तिरिति त एव च व्याख्यानार्हाः। कविगतसाधारणीभूतसंविन्मूलश्च काव्यपुरस्सरो नटव्यापारः। सैव च संवित्परमार्थतो रसः। सामाजिकस्य च तत्प्रतीत्या वशीकृतस्य पश्चादपोद्धारबुद्ध्या विभावादिप्रतीतिरिति। तदेवं मूलं बीजस्थानीयः कविगतो रसः। कविर्हि सामाजिकतुल्य एव। तत एवोक्तं "शृङ्गारी चेत्कवि।" (ध्वन्यालो ३ ४२) इत्याद्यानन्दवर्धनाचार्येण। ततो वृक्षस्थानीयं काव्यम्। तत्र पुष्पादिस्थानीयोऽभिनयादिनव्यापारः। तत्र फलस्थानीयः सामाजिकरसास्वादः। तेन रसमयमेव विश्वम्।

बालक्रीड़ा

(मूल) जैसे बीज से वृक्ष होता है और वृक्ष से जैसे पुष्प एवं, फल होते हैं। वैसे रस मूल हैं उनसे सभी भाव व्यवस्थित हैं। उन रसों से भावों की व्यवस्था है। अर्थात् रसों को भावित करते हैं इसलिए वे भाव कहलाते हैं वरना उनको भाव कहना ही असंभव था। अतः रसों की निष्पत्ति भावों से होती है" ॥३८॥

रस्यमानता होती है और रसों से कारणादि में विभावादि पदों के व्यपदेश करने की योग्यता प्राप्त होती है। रसों के बदौलत कारणकार्य सहकारी को विभाव अनुभव एवं व्यभिचारी कहते हैं।

जैसे पट की अपेक्षा से तन्तु कारण हैं ऐसा व्यपदेश होता है और तन्तुओं की अपेक्षा से पट कार्य है। यहाँ इतरेतराश्रय दोष नहीं होता है उसी प्रकार प्रकृत में भी समझें।३७।

प्रश्न—यदि भावों से रस निष्पन्न होते हैं तब आपने कैसे कहाकि रस के बिना कोई भी अर्थ प्रवृत्त नहीं होता है। अतः सबसे पहिले उन्हीं को नामग्राह कहना चाहिए। ऐसा आशंका करके यथेत्यादि से उत्तर देते हैं कि जैसे बीज-वृक्ष के कारण के रूप में स्थित है वैसे ही रस भी है। कहने का आशय है कि कवि रसिक है अतः तद्गत रस ही काव्य रूपी वृक्ष का मूल है। आनन्द रूप प्रयोजन की प्राप्ति के लिए नाट्य एवं काव्य के विषय की सामाजिक के हृदय में प्रेरणा रस मूलक ही होती है। इसलिए रस ही व्याख्यान के योग्य हैं। कविबुद्धि कवि के हृदय में साधारण रूप से पदार्थों को उपस्थित करती, है उस पदार्थोपस्थापक

तदेषां रसानामुत्पत्तिवर्णदैवतनिदर्शनान्यभिव्याख्यास्यामः ।

अभिनवभारती

अत्र च विज्ञानवादो, द्विधाभिधानं, स्फोटतत्त्वं, सत्कार्यवाद, एकत्वदर्शनमित्यादि च द्रष्टव्यम् । वयं तु प्रकृतानुपयोगिश्रुतलवसन्दर्शनमिथ्याप्रयाससंश्रयमशिक्षितपूर्विण इत्यास्ताम् ।

अन्ये तु बीजादि भावाद्रसवृक्षस्ततोऽप्यभिनयकुसुमसुन्दरात्फलमिव भावः प्रतीत्या भुज्यत इति व्याचक्षते । तैः प्रकृतविरुद्धं सर्वं व्याख्यातम् । एवं हि भावस्यैवोपक्रमपर्यवसानवर्तित्वमुक्तं स्यादित्यास्तां चैतत् । एवं त्रयोऽपि पक्षाः कथञ्चिदुपगता अभिप्रायवैचित्र्येणेति तात्पर्यम् ॥३८॥

एवमुद्दिष्टानां विभक्तानां च रसानां सामान्यलक्षणं परीक्षापरिशुद्धमभिधाय तदनुवादपूर्वकं विशेषलक्षणं वक्तुं पीठबन्धं दर्शयति—तदेषामित्यादिना । यतः

बालक्रीड़ा

संवित् के मूल मे होने से ही काव्य के आधार पर नट का अभिनयरूप व्यापार होता है । वह कविसंवित् ही परमार्थतः रस है । उस रसमयी प्रतीति के वशीभूत सामाजिक को रसानुभूति के पश्चात् अपोद्धार बुद्धि से विभावादि का ज्ञान होता है । अतः यह कविगत रस ही काव्य एवं नाटच का मूल हैं बीजस्थानीय है । कवि भी सामाजिक के सदृश है । इसीलिए ध्वन्यालोक में आनन्दवर्धनाचार्य ने कहाकि कवि अगर शृंगारी हुआ तो समझिये जगत् रसमय हो जायगा कि होही गया । अतः काव्य वृक्षस्थानीय है । उसमें पुष्पस्थानीय अभिनयादि नट के व्यापार हैं । और उसमें सामाजिक का रसास्वाद फलस्थानीय है । इससे रसमय ही विश्व है ।

इस सन्दर्भ में बौद्धों का विज्ञानवाद, माध्वों का द्विधाभिधान द्वैतवाद, वैयाकरणों का स्फोट तत्व, साख्यों का सत्कार्यवाद, शांकर वेदान्तियों का एकत्व दर्शन अद्वैतवाद, और आदि पद से रामानुजियों का विशिष्टाद्वैतवाद, निम्बार्कों का द्वैताद्वैतवाद, को देखना चाहिए । हमने तो यह पहले कभी सीखा नहीं है कि प्रकृत विषय के अनुपयोगी शास्त्रों के लेश के दिखाने में मिथ्या प्रयास का संश्रय करना चाहिए ।

दूसरे लोग तो बीज और भाव का रस और वृक्ष का, सुन्दर अभिनय और सुन्दर कुसुम का, एवं फल और भाव का सादृश्य कहते हैं । अतः जैसे बीज से वृक्ष, वृक्ष से कुसुम और उससे फल होता है उसी तरह भाव से रस, रस से अभिनय, और अभिनय से भाव की प्रतीति होती है और प्रतीति से भोग होता है ऐसी व्याख्या करते हैं । उन्होंने सब प्रकृत के विरुद्ध ही व्याख्यान किया । इस प्रकार तो भाव से उपक्रम होता है और भाव में ही पर्यबसान होता है यही कहा जा सकता है । अतः रहने दिया जाय । इस प्रकार ये तीनों ही पक्ष भिन्न-भिन्न अभिप्रायों से स्वीकृत हैं यही तात्पर्य है । ३८ ।

तेषामुत्पत्तिहेतवश्चत्वारो रसाः। तद्यथा—शृङ्गारो रौद्रो वीरो वीभत्स इति। अत्र—

अभिनवभारती

सामान्यलक्षणमेतेषां कृतं तस्माद्विशेषलणांशपूरकाण्युत्पत्त्यादीनि व्याख्यास्यामः। तत्रौत्पत्तिरुत्पादकानामुत्पाद्यानां च विशेषलक्षणम्। अन्योन्यतो व्यवच्छेदात्। उत्पादकानामप्येतदुत्पादकत्वमुत्पादकान्तराद्वैलक्षण्यमुत्पाद्यकृतम्। एवमुत्पाद्यानामुत्पादककृतमिति परस्परलक्षणत्वम्। वर्णः श्वेतादि स्तु सुस्पष्टं विलक्षणत्वादि। दैवतानि तु प्रसिद्धानि। निदर्शनन्तु शृंगारो नामेत्यादिना विभावादिविशेषसंयोगः। उत्पत्तिलक्षणा ह्यन्योन्याश्रयशंका। वर्णदेवतयोस्त्वागमानुविद्धत्वमिति स्फुटं निश्चयदर्शनोपायत्वमुत्पत्यादीनां न संभवति। विभावादिविशेषसंयोगस्तु तद्वैलक्षण्यान्निदर्शनमित्युक्तम्।

बालक्रीड़ा

(मूल) अब इन रसों की उत्पत्ति, वर्ण, दैवत एवं निदर्शनों की व्याख्या करेंगे। रसों की उत्पत्ति के हेतु चार रस हैं। वे रस जैसे शृंगार १ रौद्र २ वीर ३ एवं बीभत्स ४ हैं। इस विषय में श्लोक हैं—

इस प्रकार नामग्राहं कहे हुए और अलग २ विभाग करके दिखाये हुए रसों के परीक्षा से परिशुद्ध सामान्य लक्षण को कहकर अब उसका अनुबाद करते हुए विशेष लक्षण को कहने के लिए पाठबन्ध भूमिका को दिखाते हैं। तदेषामित्यादि से। जब कि इन रसों का सामान्य लक्षण कर दिया है अतः विशेष लक्षण रूप अंश के पूरक उत्पत्ति आदि की व्याख्या करेंगे। वहां उत्पत्ति उत्पादक एवं उत्पाद्यों का विशेष लक्षण है जो परस्पर के व्यवच्छेद से होती है। उत्पादकों में यह उत्पादकत्वभी उत्पादकान्तर से विलक्षण है। इस प्रकार उत्पाद्यों का भी वैलक्षण्य उत्पादक के कारण होता है इस तरह एक दूसरे का लक्षण एक दूसरे से विलक्षण है। वर्ण श्वेतादि विलक्षण है और विशेषस्वरूप के आधायक हैं यह सुस्पष्ट है।

देवता तो आगम वेद से अनुविद्ध हैं अर्थात् देवताओं का ज्ञान आगम से किया जायगा। निदर्शन तो शृंगारो नाम इप्यादि है। शृंगारादि नो रसों की आरम्भभूत पंक्ति में जो शृंगारो नाम, हास्यो नाम, करुणो नाम इत्यादि से जो विभागादि विशेष का संयोग उल्लिखित है वह निदर्शन है। इस प्रकार स्फुट है कि उत्पत्ति आदि निश्चय ही जानने के उपाय हो सकते हैं। प्रश्न—सूत्र में लिखा है कि विभावादि से रस की निष्पत्ति होती है यहाँ कहते हैं कि उत्पत्ति आदि निश्चय रूप से उपाय हैं। उत्तर। विभावादि विशेष के संयोग का जो निदर्शन कहा है वह उनकी विलक्षणता के वदौलत है। रसों की भावों से अभिनिर्वृत्ति है या रसों से भावों की अभिनिवृत्ति है यह अभिनिवृत्ति का स्वरूप अन्योन्याश्रय की शंका से आकुल है।

अभिनवभारती

तत्रोत्पत्तिं तावदाह—तेषामित्यादिना। तेषां रसानामुत्पत्तौ हैतवः सूचकाश्चत्वारः। रसानामुत्पाद्योत्पादकप्रकारो यावान् सम्भवति स चतुर्भिरेव सूचित इति यावत्। तथा हि—तदाभासत्वेन तदनुकाररूपतया हेतुत्वं शृगारेण सूचितम। यतो विभावाभासादनुभावाभासाद्व्यभिचार्याभासाद्रत्याभासे प्रतीते चर्वणा भाससारः शृङ्गाराभासः। कामनाभिलाषमात्ररूपा हि रतिरत्र व्यभिचारिभावः। न स्थायी। तस्य स तु स्थायिकल्पत्वेनाभाति तद्वशाद्विभावाद्याभासता। अतश्च स्थाय्याभासत्वं रतेः। यतो रावणस्य सीता द्विष्टा मय्युपेक्षिका वेति हृदयं नैव स्पृशतीति। तत्स्पर्शे ह्यभिमानोऽस्यापि लीयत एय। 'मयीयमनुरक्ता' इति तु निश्चयो ह्यनुपयोगी। कामजमोहसारत्वात्। शुक्तौ रूप्याभासवत। यद्यपि—

"दूराकर्षणमोहमन्त्र इव मे तन्नाम्नि याते श्रुतिं
चेतः कालकलामपि प्रसहते नावस्थितिं तां विना।
एतैराकुलितस्य विक्षतरतेरङ्गैरनङ्गातुरैः
सम्पद्येत कथं तदाप्तिसुखमित्येतन्न वेद्मि स्फुटम्॥"

इत्यादौ रावणवाक्ये तावति रत्याभासतैव। न तु हासः स्फुरति। तथापि सीताविभावलक्षणं रावणवयःप्रकृतिविरुद्धश्च चिन्तादैन्यमोहादिकव्यभिचारिग

बालक्रीड़ा

उनमें पहिले तेषामित्यादि से उत्पत्ति को कहते हैं कि उन रसों की उत्पत्ति में हेतु सूचक चार हैं। इसका निर्यास यह है कि रसों में जितना या जो उत्पाद्य एवं उत्पादक का प्रकार हो सकता है वह इन चारों से ही हो सकता है। जैसे शृंगार का आभास हास्य है या शृंगार का अनुकरण हास्य रस है इस तरह उसके आभास रूप से या अनुकार रूप से प्रतीत हास्य में हेतुत्व शृंगार से सूचित हुआ। क्योंकि विभावाभास अनुभावाभास और व्यभिचार्याभास से रत्याभास के प्रतीत होने पर चर्वणाभास रूप सार वाला शृंगाराभास होता है। क्योंकि रत्याभास कामना रूप है या अभिलाष रूप होता है अतः तद्रूप रति यहाँ व्यभिचारी भाव है। स्थायी भाव नहीं है। क्योंकि सीता द्विष्टा [यहाँ द्विष् धातु से कर्त्ता में सू प्रत्यय हुआ है अतः] द्वेष करती है अथवा मेरे विषय में उपेक्षा करती है यह तथ्य रावण के हृदय को स्पर्श नहीं करता है। यदि यह तथ्य उसके हृदय को छू दे तो इस रावण का अभिमान ही विलीन हो जाय। यानी सीता का परित्याग ही कर दे। किन्तु ऐसी बात नहीं है। इसके सिवाय यह निश्चय भी व्यर्थ है कि सीता मेरे में अनुराग करती है। क्योंकि यह अनुराग चादी की प्राप्ति की कामना से सीपी में चाँदी के आभास के सदृश कामवासनाजनित मोह का निर्यास है। यद्यपि

दूर से आकर्षण करने वाले मोहन मंत्र के सदृश उसके नाम के मेरे कान में पहुँचते ही चित्त उसके बिना क्षण भर भी स्थिर नहीं हो रहा है। अनंग से आतुर पीडित इन अंगों से आकुलित बेचैन एवं विक्षतरति मुझ को उसके मिलने से होने वाला सुख कसे सम्पन्न होगा। इसको मैं नहीं जानता हूँ। यह स्फुट है।

अभिनवभारती

णोऽश्रुपातपरिदेवितादि चानुभावजातमनौचित्यात्तदाभासरूपं सद्धास्यविभावरूपम्। तद्वक्ष्यते—विकृतपरवेषालङ्कारेत्यादि। एवं तदाभासतायाः प्रकारः श्रृङ्गारेण सूचितः। तेन करुणाद्याभासेष्वपि हास्यत्वं सर्वेषु मन्तव्यम्। अनौचित्यप्रवृत्तिकृतमेव हि हास्यविभावत्वम्। तच्चानौचित्यं सर्वरसानां विभावानुभावादौ सम्भाव्यते। तेन व्यभिचारिणामप्येषैव वार्ता। अत एव संवित्सतत्त्वनिपुणैश्चिरन्तनै रसभावतदाभासव्यवहारस्तत्र तत्र क्रियते। अमोक्षहेतावपि तदाभासतायां शान्ताभासो हास्य एव प्रहसनरूपरूपः। स्वानौचित्यत्यागः सर्वपुरुषार्थेषु व्युत्पाद्यः। एतच्च लक्षणे वक्ष्यते। तत्र हास्याभासो यथाऽस्मत्पितृव्यस्य वामनगुप्तस्य।

"लोकोत्तराणि चरितानि न लोक एष
सम्मन्यते यदि किमङ्ग वदाम नाम।
यत्त्वत्र हासमुखरत्वममुष्य तेन
पार्श्वोपपीडमिह को न विजाहसीति॥"

एवं यो यस्य न बन्धुस्तच्छोके करुणोऽपि हास्य एवेति सर्वत्र योज्यम्। एतदेवोदाहरणम् (१)। एवमन्यत्त नानुमेयमिति मुनिना यथाग्रहणं कृतम्।

बालक्रीड़ा

इत्यादि रावण के वाक्य में रति की आभासता ही स्फुरित होती है। किन्तु हास नहीं है। तद्यपि सीता रूपी विभाव को लक्षित करने वाली रावण की अवस्था स्फुरित हो रही है। उद्दण्ड रावण की प्रकृति के विरुद्ध चिन्ता दीनता एवं मोहादिक व्यभिचारी गण, अश्रुपात एवं परिदेवितादि अनुभाव गत अनौचित्य के कारण व्यभिचार्याभास एवं अनुभावाभास रूप हुए हास्य के विभाव हो गये हैं। जैसा कि कहेंगे—दूसरे के विकृत वेष पहिनावे एवं अलंकार इत्यादि। इस तरह उनकी आभासता के प्रकार को श्रृंगार ने सूचित किया। इससे सभी करुणादि के आभासों में भीं हास्य को ही मानना चाहिए। अनौचित्य से की गई प्रवृत्ति के कारण ही हास्य के विभाव बनते हैं। वह अनौचित्य सम्पूर्ण रसों के विभाव एवं अनुभावादि में सम्भावित है। वहाँ आदि पदार्थ है सात्विक भाव एवं अभिनय। व्यभिचारियों में भी यही वार्ता है। अत एवं संवित्तत्व में निपुण (तत्त्व सतत्त्व, गोत्र सगोत्र, रूप सरूप शब्द पर्याय हैं) चिरन्तन आचार्यों ने रस, भाव, रसाभास एवं भावाभास का व्यवहार जगह २ पर किया है। मोक्ष के अहेतुओं में भी हेत्वाभासता के होने पर शान्ताभास प्रहसन स्वरूप हास्य ही है। सभी धर्म अर्थ काम एवं मोक्ष रूप पुरुषार्थो में अपने २ अनौचित्य का भाग समझने के योग्य है। इस अंश को लक्षण के प्रकरण में कहेंगे। उनमें हास्याभास जैसे हमारे चाचा वामन गुप्त का है।

अंग हे दोस्त? यदि यह लोक इस महाप्रसय्य के लोकोत्तर चरितों का सम्मान नहीं करता है तो हम क्या कहें। किन्तु उसकी जो हासमुखरता है उससे कौन ऐसा है जो हंसते २ आँतो में क्लेश दोनों से बगल को दबा २ कर नहीं हँसता है अर्थात् उसके परिहास की विलक्षण शैली से सभी अत्यधिक प्रभावित है। इसी तरह जो जिसका बन्धु नहीं है

शृङ्गाराद्धि भवेद्धास्यो रौद्राच्च करुणो रसः।
वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिर्बीभत्साच्च भयानकः ॥३९॥

अभिनवभारती

यदीयफलानन्तरं द्वितीयरसोऽवश्यंभावी तस्योदाहरणं (२) रौद्रः। रौद्रस्य हि फलं वधबन्धादि। तद्विभावकेनावश्यं करुणेन भाव्यम्। यथा वेणीसंहारे—

"अद्यैवावां रणमुपगतौ तातमम्बां च दृष्ट्वा
घ्रातस्ताभ्यां शिरसि विनतोऽहं च दुश्शासनश्च।
तस्मिन्बाले प्रसभमरिणा प्रापिते तामवस्थां
पित्रोः पार्श्वं व्यपगतघृणः किं नु वक्ष्यामि गत्वा॥"

एवं रौद्रानन्तरं नियमेन भयानकः। शृङ्गारानन्तरं नियमेन करुणः। व्याप्रियते त्वसौ तज्जन्मनि यथा तापसवत्सराजे वासवदत्तादाहाद्वत्सराजस्य। ननु तत्र रतेरविच्छेदाद्बन्धुताकृतः शोकः। नैतत्। करुणोत्पत्तिकालेऽपि हि क्रोधस्य विच्छेद एव।

यदाह 'निर्वाणवैरदहनाः प्रशमादरीणां नन्दन्तु पाण्डुतनयाः'। (वेणी अ-१-७) इति। न च बन्धुतामात्रं हेतुः। एव हि सति—

बालक्रीड़ा

(मूल) शृंगार से हास्य, रौद्र से करुण, वीर से अद्भुत एवं बीभत्स से भयानक रस की उत्पत्ति होती है ॥३९॥

उसके बारे में किया जाने वाले शोक म करुण भी हास्य ही है। इस बात की योजना सभी जगहों में करनी चाहिए। यही उदाहरण है। और इसी तरीके के अनुसार अन्य विषयों में भी अनुमान करना चाहिए इसका संकेत मुनि ने यथा शब्द का ग्रहण करके कर दिया। जिसके फल के बाद द्वितीय रस जवश्यंभावी है उसका उदाहरण रौद्र है। बध एवं बन्धन आदि रौद्र का ही फल हैं। करुण को अवश्य ही रौद्र का विभाव होना चाहिए। जैसे वेणीसंहार में

माता एवं पिता के दर्शन करके आज ही हम दोनों युद्ध में पहुँचे थे। उन दोनों ने विनत मुझको एवं दुःशासन को शिर में सूंघा था। दुश्मन भीम ने जबरन् उस बालक दुःशासन को उस अवस्था में पहुँचा दिया है। अब निर्लज्ज में माता एवं पिता के पास जाकर क्या कहूँगा। यहां दुर्योधन का विलाप भीम के क्रोध का फल है

इस प्रकार रौद्र के बाद नियमेन भयानक रस होता है। और शृंगार के बाद होने वाला यह करुण नियम से जन्म भर अपना व्यापार करता है। जैसे तापस वत्सराज में वासवदत्ता के दाह से वत्सराज की करुण। प्रश्न—वहां तापसवत्सराज में पर्यन्त में वासवदत्ता के मिलजाने से रति का विच्छेद नहीं हुआ है। अतः केवल बन्धुता के कारण शोक है। उत्तर। यह बात नहीं है। करुण की उत्पत्ति के समय क्रोध का विच्छेद हो ही

अभिनवभारती

उत्कम्पिनी भयपरिस्खलितांशुकान्ता
ते लोचने प्रतिदिशं विधुरे क्षिपन्ती ।
क्रूरेण दारुणतया सहसैव दग्धा
धूमान्धितेन दहनेन न वीक्षिताऽसि ॥' (तापसवत्सराजे २-१६)

इत्यादौ ते इति प्राणभूतं पदं निरुपयोगतां गमितं स्यात् ।

रतिप्रलापेषु च शृङ्गार एव करुणस्य जीवितम्—

'हृदये वससीति मत्प्रिये यदवोचस्तदवैमि कैतवम् ।
उपचारपदं न चेदिदं त्वमनङ्गः कथमक्षता रतिः ॥' (कुमार. ४-९)

इत्याद्युक्तिषु ।

एवं वीराद्भयानकोत्पत्तिः । यथा 'कर्णस्यात्मजमग्रतः शमयतो भीतं जगत् फाल्गुनात्' (वेणी. ५.५)

बालक्रीड़ा

जाता है । जैसा कि वेणीसंहार में कहा है कि शत्रुओं के विनाश से वैररूपी अग्नि के शान्त हो जाने पर पाण्डु के लड़के माधव के साथ आनन्द करें ।

यहाँ पर क्रोध का विच्छेद हो गया है । और भी बात है कि केवल बन्धुता ही करुण की उत्पत्तियों हेतु नहीं है । उस व्यक्ति की विशेषताएँ भी उसमें हेतु होती है । यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो—

चारों तरफ जलती हुई आग को देखकर काँपने वाली, भय से जिसका अंशुकान्त वस्त्र-प्रान्त गिर गया है ऐसी, जिनकी विलक्षणताओं बांकी अदाओं को बहुत बार पहिले अनुभव किया है ऐसे वे उसके लोचन आज आग में जलने के समय में विधुर हो गये हैं। जिन लोचनों को शरण की खोज में वह प्रतिदिशा में फेंक रही है ऐसी दयिता को क्रूर दहन ने दारुणता से अकस्मात् जला दिया । मालूम पड़ता है धुएँ से अन्धे हो जाने के कारण दहन ने तुमको देखा नहीं । अगर वह देखलेता तो सौन्दर्य से आश्चर्य में चकित हुआ स्तब्ध रह जाता नहीं जला पाता ।

इत्यादि स्थलों में प्राणभूत ते पद निरुपयोगिता को प्राप्त हो जाता । रति के प्रलापों में शृंगार ही करुण का जीवित है ।

हे दयित ! आपने मुझको खुश करने के लिए जो कहा कि हे प्रिये ! तुम मेरे हृदय में वसतीं हो उसको मैं आपका कैतव छल समझती हूँ । क्योंकि अगर यह सच होता तो तुम्हारा अंग जलकर राख हो गया और तुम्हारे अंग में निवास करने वाली रति अक्षत है उसका बाल भी बाँका नहीं हुआ । यह कैसे होता ।

इत्यादि उक्तियों में स्पष्ट है । इसी तरह वीर से भयानक की उत्पत्ति होती है । जैसे वेणीसंहार में कर्ण के पुत्र वृषसेन को कर्ण के सम्मुख मारते हुए अर्जुन से जगत् डर गया । यहाँ अर्जुन की वीरता से जगत् में भय उत्पन्न हो गया ।

अभिनवभारती

यत्त्वत्र श्रीशङ्कुकेनोक्तम्—नात्रोत्साहस्य व्यापार इति। तदसत्। एवं हि निर्विषय एवोत्साहः स्यात्। कर्तव्याननुसन्धानात्। युद्धवीरे च परपराजयजनितः प्रतापापरपर्यायः शत्रुहृदयदाहदायी तद्वनितादिषु भयानक एव जीवितम्। यथा—

'स पातु वो यस्य हतावशेषास्तत्तुल्यवर्णाञ्जनरञ्जितेषु।
लावण्ययुक्तेष्वपि वित्रसन्ति दैत्याः स्वकान्तानयनोत्पलेषु॥'

नियमेन तु भवतीति वक्तव्यम्। नियमश्चकारेणोक्तो रौद्रादित्यानन्तर्यसूचकपञ्चम्यनन्तरं प्रयुक्तेन।

यस्तु रसो रसान्तरं फलत्वेनाभिसन्धाय प्रवर्तते तस्योदाहरणं (३) वीरः। महापुरुषोत्साहो हि जगद्विस्मयफलाभिसन्धानेनैव।

यथा—'दोर्दण्डाञ्चितचन्द्रशेखरधनुर्दण्डावभङ्गोद्यत' (महावीर २-५४) इत्यादि। रौद्रस्तु परविनाशनं फलत्वेनाभिसन्धाय प्रवर्तते न करुणमिति विशेषः। विदूषकहासस्तु नायिकाहासं फलत्वेनाभिसन्धत्त इति मन्तव्यम्।

बालक्रीड़ा

जो तो श्रीशंकुक ने कहा कि यहाँ पर उत्साह का कोई व्यापार नहीं है। वह असत् है। यदि ऐसी बात होगी तो उत्साह निर्विषय हो जायगा। क्योंकि यह कर्त्तव्य का अननुसन्धान होगा कि यदि वीर अपने शत्रु के ऊपर उसको परास्त करने के लिए उत्साह नहीं दिखाये। युद्ध वीर में तो दुश्मन के पराजय से उत्पन्न होने वाला, जिसका दूसरा नाम प्रताप है, जो शत्रुओं के हृदय को जलाने वाला है जो उन शत्रुओं की वनिताओं में स्थित है वह भयानक ही जीवित है।

जिसके हनन करने से अवशिष्ट दैत्य, जिसके वर्ण के समान वर्ण वाले अंजन के द्वारा रंजन करने से लावण्य युक्त हुए भी अपनी कान्ताओं के नयन कमलों से डरते हैं वह भगवान् विष्णु हमारी तुम्हारी सबकी रक्षा करे।

यहाँ विष्णु की वीरता से दैत्य त्रस्त हो गये हैं क्योंकि विष्णु के रंग के समान रंग को भी देखकर विष्णु की याद करके डर जाते हैं। वीर से नियमेन भय उत्पन्न होता है। ऐसा कहना चाहिए। आनन्तर्य की सूचना करने वाली "रौद्रात्" इस पंचमी विभक्ति के बाद प्रयुक्त चकार ने नियम को कहा है। जो तो एक रस दूसरे रस का फलरूप से अभिसन्धान करके प्रवृत्त होता है उसका उदाहरण वीर है। महापुरुषों का उत्साह जगत् को विस्मयान्वित कर देने रूप फल का अभिसन्धान करके प्रवृत्त होता है। जैसे—"दोर्दण्डाञ्चित" इत्यादि उदाहरण है। रौद्र तो दूसरे के विनाश को न कि करुण को फलरूप से अभिसन्धान करके प्रवृत्त होता है। यह वैलक्षण्य है। विदूषक का हास तो नायिका के हास का फलरूप से अभिसन्धान करता है। क्योंकि रूठी हुई नायिका को खुश करने के लिए विदूषक विकृत वेष-भूषा एवं बातचीत से हँसाता है। ऐसा सिद्धान्त मानना चाहिए।

शृङ्गारानुकृतिर्या तु स हास्यस्तु प्रकीर्तितः ।
रौद्रस्यैव च यत्कर्म स ज्ञेयः करुणो रसः ॥४०॥

अभिनवभारती

यस्तु रसस्तुल्यविभावत्वान्नियमेन रसान्तरं हि परमाक्षिपति तस्योदाहरणं (४) बीभत्सः । तस्य हि ये विभावा रुधिरप्रभृतयस्तेऽवश्यं भयहेतवः । तथा तद्व्यभिचारिणो मरणमोहापस्माराद्याः । तदनुभावास्तु मुखविकूणनादयः ।

यथा वेणीसंहारे—

'संस्तभ्यन्तां निहतदुश्शासनपीतशेषशोणितस्नपितबीभत्सवृकोदरदर्शनवैक्लव्यस्खलितप्रहरणानि रणाद्विद्रवन्ति बलानि' इति (वेणी. ४.) ॥३९॥

एवं तदाभासद्वारेण रसान्तराक्षेपकत्वे शृङ्गार उदाहरणम् (५)। तेन शृङ्गारानुकृतिरित्यत्र तुशब्दो वीप्सायाम् । द्वितीयो हेतौ । तेनैवं योजना—या अनुकृतिः स हास्यो यतः प्रकीर्तितः एवंविभावको हास्य इति शेषः । तद्यथा शृङ्गार आद्यः । शृङ्गारवदनुकृतिरित्यर्थः ।

यत्त्वत्र शृङ्गाराद्भुतोत्पत्तेराशङ्का 'दृशः प्रथुतरीकृता' (रत्ना २-१५) इत्यादौ तन् निर्मूलमेव । उदयने हि शृङ्गारः । ब्रह्मणि विस्मयसम्भावना । सा च न तात्कालिकत्वेन नोत्तरकालिकत्वेन । किन्तु पूर्वतरमेवेति न किञ्चिदेतत् ।

बालक्रीड़ा

(मूल) शृंगार की जो अनुकृति है वह हास्य कहलाता है । रौद्र का जो कर्म है वह करुण रस है ॥४०॥

जो तो रस, समान विभाव होने के कारण नियम से रसान्तर का अवश्य ही आक्षेप करता है उसका उदाहरण बीभत्स है । उस बीभत्स के जो विभाव रूधिर वगैरह हैं वे अवश्य भय के हेतु हैं । उसके व्यभिचारी भाव मरण मोह एवं अपस्मार आदि हैं । औ उसके अनुभाव मुख का विकूणन नाँक भौंह का सिकोडना आदि हैं । जैसे वेणीसंहार में

मारने के लिए उठाकर गिराये हुए (क्योंकि मरने के बाद खून पानी हो जाता है) दुःशासन की छाती से निकाल कर पीने से बचे हुए खून से स्नान करने के कारण बीभत्स भीम को देखकर उत्पन्न हुई विक्लवता से (वेचैनी से) जिसके आयुध स्वतः गिर गये हैं ऐसी रण से पराङ्मुख होकर भागती हुई सेना को रोको । जाने न पाये ॥३९॥

इस प्रकार आभास के द्वारा रसान्तर का आक्षेप करने में उदाहरण शृंगार है । इससे शृंगारानुकृतिर्या तु में तु शब्द का अर्थ वीप्सा है । और "हास्यस्तु" वाला द्वितीय तु शब्द का हेतु अर्थ है । इसलिए यहाँ ऐसा अन्वय करना चाहिए । जो अनुकृति है उसको जब हास्य कहा है तब इस प्रकार के विभाव वाला हास्य है यह अर्थात् प्राप्त हो गया । यह अंश मूल में नहीं कहा है अतः शेष है । जैसे शृंगार आद्य मूलभूत रस है । शृंगारवान् की अनुकृति हास्य है । जो तो यहाँ "दृशः पृथुतरीकृताः" इत्यादि में शृंगार से अद्भुत के उत्पत्ति

वीरस्यापि च यत्कर्म सोऽद्भुतः परिकीर्तितः ।
बीभत्सदर्शनं यच्च ज्ञेयः स तु भयानकः ॥४१॥

अभिनवभारती

परम्पराफलत्वेन रसान्तराक्षेपे रौद्र उदाहरणम् (६) । रौद्रस्य यत्कर्म फलात्मकं वधादि, चकारात्तस्य यत्कर्म फलरूपं स एव करुणः । एवकारेणात्यन्तव्यवहितां परम्परां पराकरोति ॥४०॥

समनन्तरफलत्वेन रसान्तराक्षेपे उदाहरणं (७) वीरः । वीरस्यापीति—वीरस्य सम्यङ्निकटं यत्फलं कर्म सोऽद्भुतः परितः समन्ताद्या कीर्तिः यशःप्रतापरूपा ततो हेतोः । अपिशब्दाच्छृङ्गारोपि वीरस्यानन्तरं फलं द्रौपदीस्वयंवरादौ । सहभावेन रसान्तराक्षेपे बीभत्स उदाहरणम् । (८)

यदेव बीभत्सस्य दर्शनं विभावादिरूपं स एव भयानकः, तद्विभावत्वात् । उपचारस्य सहभावप्रतीतिः फलम् । तमेव चशब्दो द्योतयति । तुः पूर्वतो विशेषमाह । अयमेव चाक्षेपः प्रकारत्वात्संभाव्यते न त्वधिक इति । (सा त्वस्यापि सन्न नोक्तः ?) ये चात्रोत्पत्तिहेतव उक्तास्ते यथा स्वयं पुरुषार्थचतुष्कव्याप्ताः । तेहि तत्सौन्दर्यातिशयजननरूपाः । रञ्जकाभासादयस्तदनुगामित्वेन रूपकेषु निबन्धनीयाः ।

बालक्रीड़ा

(मूल) वीर का जो कर्म है वह अद्भुत कहलाता है । और जो बीभत्स का दर्शन है उसे भयानक समझना चाहिए ॥४१॥

की आशंका होती है वह निर्मूल है । उदयन में शृंगार है । और ब्रह्मा में विस्मय की संभावना है । जो न तो तात्कालिक है और न उत्तरकालिक है किन्तु पूर्व में ही हो चुकी है अतः यह सब कुछ नहीं है ।

परम्परा को फल के रूप में मानकर रसान्तर के आक्षेप में उदाहरण रौद्र है । रौद्र का जो फलात्मक कर्म वधादि, चकार से उस वध का जो कर्म फल विलाप रूप है वही करुण है । यहाँ एव कार से अत्यन्त व्यवहित परम्परा का पराकरण कर दिया है ॥४०॥

समनन्तर सम्यक् अनन्तर निकट फल के रूप में रसान्तर के आक्षेप में उदाहरण वीर है । वीर का जो अतीव निकट वाला है वह अद्भुत है । जो परितः चारों तरफ यश प्रताप रूप कीर्ति है अद्भुत उसका कारण है । वीरस्यापीति के अपि शब्द से वीर के निकट फल शृंगार भी है जैसे द्रौपदी स्वयम्वर आदि । सहभाव से रसान्तर के आक्षेप में बीभत्स उदाहरण है । जो बीभत्स के विभावादि रूपों का देखना है वही भयानक है । भयानक के विभाव हो सकते हैं । देखना ही भयानक है इस अभेदोपचार का फल है सहभाव से प्रतीति । इसी तथ्य को चशब्द द्योतित करता है । स तु मे उपात्त तु शब्द पूर्व की अपेक्षा से विशेष बात को कहता है । यही आक्षेप प्रकार के रूप में संभाव्य है इससे अधिक नहीं । जिनको उत्पत्ति का हेतु बतलाया है वे जैसे स्वयं चारों पुरुषार्थों से व्याप्त हैं वैसे ही उत्पन्न होने वाले भी

अथ वर्णाः—

श्यामो भवति श्रृङ्गारः सितो हास्यः प्रकीर्तितः ।
कपोतः करुणश्चैव रक्तो रौद्रः प्रकीर्तितः ।।४२।।
गौरो वीरस्तु विज्ञेयः कृष्णश्चैव भयानकः ।
नीलवर्णस्तु बीभत्सः स्वच्छपीतौ शमाद्भुतौ ।।४३।।

अथ दैवतानि

श्रृङ्गारो विष्णुदेवत्यो हास्यः प्रमथदैवतः ।
रौद्रो रुद्राधिदैवत्यः करुणो यमदैवतः ।।४४।।

अभिनवभारती

एतावन्त एव च रसा इत्युक्तं पूर्वम् । तेनानन्त्येऽपि पार्षदप्रसिद्ध्यैतावतां प्रयोज्यत्वमिति यद्भट्टलोल्लटेन निरूपितं तदवलेपेनापरामृश्येत्यलम् ।।४१।।

वर्णाभिधानं पूजादौ ध्यान उपयोगि । मुखरागेऽपीत्यन्ये । स्वच्छपीतौ शमाद्भुताविति शान्तवादिनां पाठः । तत्तद्रससिद्धौ सा सा देवता पूज्येति देवतानिरूपणम् । विष्णुः विष्णुपुत्रः कामदेवः । प्रमथा भगवतो गणाः क्रीडापराः ।

बालक्रीड़ा

(मूल) अब इन रसों के वर्णों को कहते हैं—श्रृंगार का श्याम रंग है । हास्य का सित रंग कहा है । करुणका कपोत के सदृश वर्ण है और लालरंग रौद्र रस का कहा है ।।४२।।

(मूल) वीर को गौर समझना चाहिए । भयानक को कृष्ण । बीभत्स का नील वर्ण और शान्त और अद्भुत स्वच्छ एवं पीत वर्ण वाले हैं ।।४३।।

(मूल) अब इन रसों के देवताओं को कहते हैं श्रृंगार का देवता विष्णु है । हास्यका देवता प्रमथ हैं । रुद्र के गण हैं । रौद्र का अधिदेवता रुद्र है । करुणका देवता यम है ।।४४।।

चारों पुरुषार्थों के अन्तर्गत हैं उनसे उत्पादकों के सौन्दर्यातिशय का जनन होता है । रञ्जकाभासादि अर्थात् रसाभास एवं भावाभास आदि को उत्पादक रसों के अनुगामी के रूप से रूपकों में निबद्ध करना चाहिए ।

इतने ही रस होते हैं यह बात पहले कही जा चुकी है । इसलिए रसों में आनन्त्य होने पर भी पार्षद प्रसिद्धि से कवि समय के अनुसार इतने ही प्रयोग के योग्य हैं । ऐसा जो भट्टलोल्लट ने निरूपण किया है वह गर्व से विना विचार किये हुए कहा है । अब बस करो ।।४१।।

रसों के वर्णों का अभिधान पूजादि के समय ध्यान में उपयोगी है । अन्य तो कहते हैं कि अभिनय के समय मुख के रंगने में भी उपयोग है । शम स्वच्छ है अद्भुत पीत है अतः "स्वछपीतौ शमाद्भुतौ" ऐसा शान्त को रस कहने वालों का पाठ है । उस २ रस

बीभत्सस्य महाकालः कालदेवो भयानकः ।
वीरो महेन्द्रदेवः स्याद् बुद्धः शान्तेऽब्जजोऽद्‍भुते ॥४५॥

एवमेतेषां रसानामुत्पत्तिवर्णदैवतान्यभिव्याख्यातानि । इदानीमनुभावविभावव्यभिचारिसंयुक्तानां लक्षणनिदर्शनान्यभिव्याख्यास्यामः । स्थायिभावांश्च रसत्वमुपनेष्यामः ।

अभिनवभारती

रुद्रस्त्रैलोक्यसंहारकर्ता अत एव रोदयतीति । यमयतीति यमेन वधादिके सम्पादिते करुणः । महाकालोऽधिदैवतमिति शेषः । स हि तद्विभावं कङ्कालं श्मशानादि सेवते । महेन्द्रस्त्रैलोक्यराजः । ब्रह्मा अचिन्त्याद्भुतस्रष्टा ॥४५॥

'बुद्धः शान्तेऽब्जजोऽद्भुते' इति शान्तवादिनः पठन्ति । बुद्धो जिनः परोपकारैकपरः प्रबुद्धो वा । तत्रोत्पत्तिलक्षणमन्योन्याश्रयत्वान्न निश्चयकारि । वर्णदैवतात्मकमप्यागमसिद्धत्वादित्येकप्रघट्टकेनोपसंहरत्येवमित्यादिना । एतेषामिति सर्वेषामित्यर्थः ।

बालक्रीडा

(मूल) बीभत्स का महाकाल है । भयानक का देवता साक्षात् काल है । वीर का देवता महेन्द्र है और शान्त का बुद्ध तथा अद्‌भुत का ब्रह्मा है ॥४५॥

(मूल) इस प्रकार इन रसों की उत्पति, वर्ण एवं देवताओं का व्याख्यान कर दिया है । अब अनुभाव एवं व्यभिचारियों के लक्षण एवं निदर्शनों की व्याख्या करेंगे । और स्थायी भावों को रस के रूप में प्रांप्त करेंगे ।

की सिद्धि में वह वह देवता पूज्य है इसलिए देवताओं का निरूपण किया है । विष्णु पद से प्रकृत में विष्णु के पुत्र कामदेव हैं । प्रमथ माने क्रीडा में तत्पर रहने वाले भगवान् के गण है । रुद्र त्रैलोक्य का संहार कर्त्ता । अतएव रुलाता है । नियमन करता है वह यम है । उस यम के द्वारा वध एवं बन्ध आदि के सम्पादन करने पर करुण पैदा होता है । महाकाल अधिदेवता है इतना अंश कहने से शेष है बच गया है अर्थात् उसको भी कहना चाहिए । वह महाकाल बीभत्सरस के विभाव रुधिर प्रभृति का सेवन करता है । महेन्द्र माने त्रिकोकी का राजा इन्द्र । ब्रह्मा अचिन्त्य एवं अद्‌भुत सृष्टि के कर्त्ता ।४५।

"अद्‌भुतो ब्रह्मदैवतः" ऐसा पाठ आठ रसों को मानने वालों के मत में है । और "बुद्धः शान्तेऽब्जजोऽद्‌भुते" यह पाठ शान्त को रस मानने वालों का है । अद्‌भुत रस का अधिष्ठाता दैवत ब्रह्मा जी हैं । और शान्त रस का बुद्ध है । बुद्ध शब्द का अर्थ हैं जिन, हिंसा रहित अतएव दूसरे के उपकार में लगा रहने वाला अथवा प्रबुद्ध प्रकृष्ट ज्ञानवान् । उन उत्पत्ति वर्ण और दैवत वगैरह में उत्पत्ति का लक्षण स्वरूप में अन्योन्याश्रय दोष है अतः निश्चय कारी नहीं है वर्ण और देवता भी आगम वेद से सिद्ध है और वेद परोक्ष है अतः

अभिनवभारती

अथ विशेषलक्षणानि वक्तुमासूत्रयतीदानीमित्यादिना। विशेषलक्षणं सजातीयाद्यवच्छेदकम्। न विजातीयाद्यवच्छेदं विना सजातीयत्वम्। न चासौ सामान्यलक्षणं विनेति तत्पृष्ठे विशेषलक्षणमिति दर्शयितुं सामान्यलक्षणमनुवदत्यनुभावेत्यादिना। लक्षणानि च तानि निदर्शनानि च विशेषात्मकानि। तेन प्रत्येकं लक्षणविशेषा उच्यन्त इत्यर्थः। विशेषलक्षणानि वा सामान्यलक्षणस्य निदर्शनानि। येषु सामान्यलक्षणं निर्दिश्यते योज्यते उदाह्रियते च। तद्विना तस्योदाहर्तुमशक्यत्वात्। चकारो लोकोत्तरतयाऽऽदरं सूचयति। ये स्थायिनो भावा लोके चित्तवृत्त्यात्मानो बहुप्रकारपरिश्रमप्रसवनिबन्धनकर्तव्यताप्रबन्धाभिधायिनस्तानपि नाम रसत्वं विश्रान्त्येकायतनत्वेनोपदेशदिशा नेष्यामः। विभावान् यथायोगमुपहरद्भिः कविनटैर्हि ते रसतां नीयन्ते। यदाह—

"या व्यापारवती रसान्रसयितुं काचित्कवीनां नवा
दृष्टिर्या परिनिष्ठितार्थविषयोन्मेषा च वैपश्चिती।

बालक्रीड़ा

प्रत्यक्ष कारी नहीं है। इसलिए एवमित्यादि से एक ही प्रघट्टक से एक ही साथ एक पंक्ति से उपसंहार करते हैं। एतेषां का अर्थ है इन सबका।

अब इनके विशेष लक्षणों को कहने के लिए इदानीमित्यादि से आसूत्रण करते हैं सूत्र का निर्माण करते हैं। सजातीयों से व्यावर्त्तन करने वाला विशेष लक्षण होता है। विजातीयों से व्यवच्छेद किये विना सजातीयता नहीं होतीं है अतः सजातीय के व्यावर्त्तन के अन्तर्गत विजातीय व्यावर्त्तन है। और व्यावर्त्तन भी सामान्य लक्षण के बिना नहीं होता है। अतः निर्विशेषं न सामान्यम् के अनुसार सामान्य लक्षण की पृष्ठ भूमिका में विशेष लक्षण अन्तर्भूत है इस तथ्य को दिखाने के लिए अनुभावेत्यादि से सामान्य लक्षण का अनुवाद करते हैं। जो सामान्यात्मक लक्षण हैं वे ही विशेषात्मक निदर्शन है। इस लिए प्रत्येक के विशेष लक्षणों को कहते हैं यह इसका अर्थ है। अथवा विशेष लक्षण सामान्य लक्षण के निदर्शन हैं। जिनमें सामान्य लक्षण का निर्देशन योजन एवं उदाहरण देते हैं। क्योंकि विशेष के विना सामान्य का उदाहरण नहीं दिया जा सकता है। स्थायिभावांश्च में उपात्त चकार स्थायी भावों में लोकोत्तरता के कारण आदर की सूचना देता है। लोक में चित्तवृत्ति रूप और बहुत प्रकार के परिश्रम के प्रसव जनन में जो निबन्धन कारण हैं। उनकी कर्त्तव्य निष्ठा के विषय में प्रबन्ध का अभिधान करने वाले जो स्थायी भाव हैं उनकी विश्रान्ति के चर्वणा के एकमात्र आयतन हैं ऐसे उपदेश के मार्ग से उन स्थायी भावों को रस रूप में जो प्राप्त करेंगे यानी स्थायी भाव रस होते हैं अपनी २ युक्ति के अनुसार बिभावों का उपहरण करने वाले कवि और नट लोग उन स्थायी भावों को रस रूप में प्राप्त करा देते हैं। जैसा कि कहा है—

रसों का आस्वाद कराने के लिए व्यापार करने वाली जो कवियों की नवीन दृष्टि है और जो परिनिष्ठित अर्थो का विकाश करने वाला वैदुष्य है। उन दोनों का भी अब-

तत्र शृङ्गारो नाम रतिस्थायिभावप्रभवः। उज्ज्वलवेषात्मकः। यत्किञ्चिल्लोके शुचि मेध्यमुज्ज्वलं दर्शनीयं वा

अभिनवभारती

ते द्वे अप्यवलम्ब्य विश्वमनिशं निर्वर्णयन्तो वयं
श्रान्ता नैव च लब्धमब्धिशयन ? त्वद्भक्तितुल्यं सुखम् ॥" इति ।
(ध्वन्या ३.४३)

नटानां तु तदुपजीवितत्वान्न नवा दृक्पश्यति न रसयत्यतो नवेति । तस्माद्रसनोपयोगिविभावाद्यौचित्यमस्माभिरुपदिशद्भिः स्थायिनो रसतां नीता भवन्तीत्यनेन लक्षणरूपस्य फलं दर्शितम् ।

अथ शृङ्गाररसप्रकरणम् ।

तत्र कामस्य फलत्वादशेषहृदयसंवादित्वाच्च तत्प्रधानं शृङ्गारं लक्षयति— तत्रेत्यादिनोज्ज्वलवेषात्मक इत्यन्तेन सूत्रेण। तत्रेति क्रमनिर्धारणे एवं सतीत्यर्थे वा

बालक्रीड़ा

(मूल) उन में रति नामक स्थायी भाव से जिस का प्रभव है उत्पत्ति है और जिसका वेष एवं भूषा उज्वल है वह शृंगार है। लोक में जो कुछ शुचि स्वच्छ मेध्य पवित्र उज्वल चमकीला एवं तडक भडक वाला देखने में भव्य मालूम पड़ता है उसकी शृंगार से उपमा दी जाती है और उज्वल वेषधारी है तडक भडक के साथ बनठन कर सजा हुआ रहता है

लम्बन कर के अहर्निश विश्व का निर्वर्णन करते हुए देखते हुए सुनते हुए समझते हुए हम थक गये किन्तु हे क्षीरसागरशायिन् ? आप की भक्ति के तुल्य सुख को नहीं पा सके।

यहाँ प्रकृत में केवल इस पद्य के प्रथम चरण से तात्पर्य है कि कवि अपने नवीन दृष्टि से युक्ति के अनुसार सहृदय भावुकों को स्थायी सम्बलित विभावादिकों का समर्पण करते हैं। जिससे वे भावुक स्थायी का रस रूप से आस्वादन करते हैं। इसी प्रकार नट भी काव्यज्ञ की शिक्षा एवं अपने अभ्यास के बल पर अभिनयों के द्वारा दर्शक सामाजिकों के सम्मुख स्थायि सम्बलित विभावादिकों का उपहार करता है जिनसे वे स्थायी का रस रूप में आस्वादन करते हैं।

नट लोग कवि एवं उनके काव्यों से उपजीवित हैं अर्थात् उनके सहारे जीते हैं अतः उनकी कोई नवीन दृष्टि नहीं है। अतः देखने का प्रश्न नहीं है। और न वे नट रसका आस्वादन करते हैं। इसी लिए कहां कि कवियों की नवा" दृष्टि है। यह नटों से कवियों का वैलक्षण्य दिखाया। तस्मात् रसनोपयोगी विभावादि के औचित्य का उपदेश देते हुए हमने स्थायी को रसरूप में भावुकों को प्राप्त करा दिया जाता है इस कथन से लक्षण के निरूपण करने का फल दिखा दिया।

अब यहां से शृंगार रसके प्रकरण का आरंभ करते हैं। चार पुरुषार्थों में काम एक पुरुषार्थभूत फल है पुरुषों के चाहने योग्य फल है और अशेष प्राणियों के हृदय का संवादी है।

अभिनवभारती

एतत्सूत्रभाष्येण व्यक्तम्। यल्लक्ष्यपदं नामेति। व्याचष्टे यत्किञ्चिदित्यादिना। हारादिमण्डितः शृङ्गारवान्। तेन शुचिमेध्याद्युपमीयते। तेनोज्ज्वलवेषात्मके शृङ्गारशब्दः। न चातिप्रसङ्गः। आप्तोपदेशस्य नियामकत्वादिति चिरन्तनाः। तदनुपपन्नम्। उपमानोपमेययोर्विशेषविषयविभागानवभासात्तथा।

तस्मादयमत्रार्थः। रतिरेवास्वाद्यमानो मुख्यः शृङ्गारः। रतिमास्वादयद्भिः-स्तद्बहुमानपरः शृङ्गारीत्युच्यते। यस्तु तज्जनकादिपर एव तद्व्यसनिता सा रसना-

बालक्रीड़ा

इसलिए तत्र इत्यादि से लेकर उज्ज्वलवेषात्मक यहां तक के सूत्र से काम प्रधान शृंगार का लक्षण करते हैं। तत्र यह क्रम के निर्धारण अर्थ में है अथवा एवं सति इस अर्थ में है। यह सूत्र के भाष्य से व्यक्त होगा। जो लक्ष्य पद है उसका संकेत यह नाम है। यत् किंचित् इत्यादि से उज्ज्वलवेषात्मक की व्याख्या करते हैं। हार वगैरह से सुशोभित शृंगारवान् होता है। उसके साथ शुचि एव मेध्य पदार्थों की उपमा दी जाती है। इसलिये उज्ज्वलवेष में शृंगार शब्द का प्रयोग किया जाता है। प्रश्न—शृंगार शब्द प्रकृत में शृंगार रस का प्रतिपादक है किन्तु आप कहते हैं कि उज्ज्वलवेष स्वरूप में शृंगार शब्द का प्रयोग है यह तो लक्ष्य को छोड़कर अलक्ष्य में प्रयोग होने से अतिव्याप्ति हो गई। उत्तर। नहीं। अति-प्रसंग नहीं हुआ क्योंकि आप्तोपदेश नियामक है। ऐसा चिरन्तन आचार्यों का मत है। किन्तु वह अनुपपन्न है। क्योंकि उपमान एवं उपमेय में विषय के विभाग का कोई विशेष अवभास नहीं हो रहा है। अतः वैसा प्रयोग किया है। यहाँ का भाव यह है कि लोक व्यवहार में उज्ज्वल भव्य सुन्दर वस्त्र वेश भूषण पहिरने वालों में उनके चमकीले भडकीले कपड़े वगैरह को देखकर लोग कहते हैं कि बड़ा रसिक है शृंगारी है। ऐसी अवस्था में भव्य उज्ज्वल वेष एवं भूषण शृंगार कहलाया। जैसे उज्ज्वल वेष भूषण पहिरने वाला शृंगारवान् है वैसे उज्ज्वल वेष भूषा शृंगार है। जिसके फल स्वरूप पहिरने वाला शृंगारवान् उपमान कोटि में आगया और उज्ज्वल वेष भूषा शृंगार उपमेय कोटि में। किन्तु प्रकृत में शृंगार शब्द रस अर्थ में प्रयुक्त है जो कि आस्वाद्य है वेष भूषा तो आस्वाद्य नहीं है। अतः अतिप्रसंग की स्थिति आ जाती है। इस पर प्राचीनों का उत्तर है कि अति-प्रसंग वाली बात तो ठीक है किन्तु आप्तवाक्य है अतः क्षम्य है। अभिनवाचार्य का कथन है कि केवल बाबा वाक्यं प्रमाणं वाली स्थिति यहां नहीं है युक्तियुक्त यह कथन है। जैसे घी से आयु बढ़ती है यहाँ आयु जन्य है घी उसका जनक है इस तरह इन दोनों में भेद स्पष्ट है तब भी लोग कह देते हैं अरे घी ही आयु है। अतः यह जैसे अभेदोपचार से अव्यादृत प्रयोग होता है। वैसे ही प्रकृत में भी तादृशवेषभूषाधारी को शृंगारी कहने से अर्थात् वेषभूषा को शृंगार शब्द से कहना प्राप्त हो गया। अतः विशेष रूप से उपमान एवं उपमेय के विषय की पृथक् प्रतीति नहीं हुई अतः वैसा प्रयोग किया है।

इसलिए यहाँ पर शृंगारो नाम रतिस्थायिप्रभव उज्ज्वलवेषात्मकः इसका यह अर्थ है कि आस्वाद्यमान रति ही मुख्य रूप से शृंगार शब्द की वाच्य है और रति का

तच्छृङ्गारेणोपमीयते। यस्तावदुज्ज्वलवेषः स शृङ्गारवानित्युच्यते। यथा च गोत्रकुलाचारोत्पन्नान्याप्तोपदेशसिद्धानि पुसां नामानि भवन्ति तथैवैषां रसानां भावानां च नाट्याश्रितानां चार्थानामाचारोत्पन्नान्याप्तोपदेशसिद्धानि नामानि। एवमेष आचारसिद्धो हृद्योज्ज्छलवेषात्मकत्वाच्छृङ्गारो रसः। स च स्त्रीपुरुषहेतुक उत्तमयुवप्रकृतिः।

अभिनवभारती

स्वाददशा लोके भवन्त्यपि न चिरमवतिष्ठते। तदास्वादे चोपयोगि यथास्वविभावादि तथा शास्त्रानिषिद्धमजुगुप्सितं संस्फुटं मनोहरं च यत् तदुपचाराच्छृङ्गारशब्दवाच्यम्। तदाह–उपमीयते। तदुपयोगितया तथा मीयते लक्ष्यत इति यावत्।

क्व तथेति दर्शयति-यस्तावदिति। तावद्ग्रहणेनावधारणवाचिना शृङ्गारवाच्यो-मुख्योऽर्थस्तत्र नास्तीति दर्शयति–स शृङ्गारवानिति। तदुज्ज्वलवेषे शृङ्गारशब्द उपचरित इत्याह। ननु मुख्यतया रत्यास्वादे शृङ्गारशब्दस्य प्रवृत्तौ किं निबन्धनमित्याशङ्क्याह-यथा चेत्यादि। गोत्रं पितृसन्तानादि। कुलं मतृसन्तानं सूचयति।

बालक्रीड़ा

(मूल) वह शृंगारवान् कहलाता है। जैसे पुरुषों के नाम; गौत्र पितृवंश, कुल मातृवंश, आचार शिष्ट परम्परा से उत्पन्न तथा आप्त के उपदेश से सिद्ध होते हैं वैसे ही इन रसों भावों तथा नाट्य के आश्रित अर्थों के नाम भी नाट्याचार्यों के आचार व्यवहार एवं आप्तोपदेश से सिद्ध हैं। इसप्रकार यह हृद्य आकर्षक एवं उज्वल भव्य वेष स्वरूप होने से आचार से सिद्ध शृंगार रस है। वह शृंगार रस उत्तम प्रकृति वाले युवक एवं युवतियों में दाम्पत्य भाव मूलक होता है।

आस्वादन करने वाले लोग रति का अतीव आदर करने में तत्पर व्यक्ति को शृंगारी कहते हैं। जो तो उस रति के कारण प्रमदादि, कार्य कटाक्षविक्षेपादि, सहकारि चिन्तादि में आसक्त हैं उसमें वह उसकी व्यसनिता व्यसन रूप रसन आस्वादन दशा लोक में अनुभव में आती हुई दिखाई पड़ती हुई भी चिरकाल तक नहीं ठहरती है। और उसे रति के आस्वाद में जैसे अपने विभावादि उपयोगी हैं वैसे जो शास्त्र से अनिषिद्ध लोक से अजुगुप्सित स्फुट और मनोहर वस्तु उपयोगी है वे सब उपचार से शृंगार शब्द से वाच्य हैं। इसी लिए कहते हैं कि उपमीयते अर्थात् उस रति के उपयोगी के रूप में उस तरह वे जाने जाते हैं।

कहां वे उस प्रकार जाने जाते हैं उसको दिखाते हैं कि जो तो। तावत् शब्द अवधारणार्थक है। अतः उस निश्चयार्थक तावत् शब्द के ग्रहण से यह दिखाते हैं कि शृंगार शब्द का वाच्य मुख्य अर्थ उस उज्ज्वल वेष में नहीं है। किन्तु वह उज्ज्वलवेषधारी शृंगारवान् है अर्थात् उसके उज्ज्वल वेष में शृंगार शब्द उपचरित है। ऐसा कहते हैं।

अभिनवभारती

आचारो व्यवहारः । तत उत्पन्नानि लोके प्ररूढानि । मूले तु न । आद्याप्तोपदेशेन नामकरणलक्षणेन समयेन सिद्धानि । पुंसामिति मनुष्यजातेर्नराणां नारीणां च । नराणां हि पितृसन्तानानुसारि नाम विष्णुशर्मेत्यादि । स्त्रीणां तु मातृवंशानुसारि कनकप्रभा चन्द्रप्रभेति । एवं रसादीनां तच्छास्त्रवेदिवृद्धव्यवहारतो निरूढानि प्राक्तन-ब्रह्माद्याप्तप्रणीतानि नामानि ।

तदेवोपसंहरति—एवं शृङ्गारो रसः । स आचाराद् व्यवहाराल्लोकेऽपि सिद्धः । कुतो हेतोः । हृद्यादिवेषात्मकत्वात् । एतदुक्तं भवति—प्रतिशास्त्रसमयानुसारिणोऽपि शब्दास्तद्वृद्धव्यवहारपरम्परया लोके प्रसिद्धा उपचारतोऽन्यत्रापि व्यवह्रियन्ते । यथा—'साङ्ख्यपुरुषोऽयं न किञ्चित्करोति । पूर्वरङ्गोऽत्र तेन मे विरचितः । अत्र महत् अन्योन्यमस्य' इति । तद्वदमी शृङ्गारादिशब्दा इहैव विषये मुख्याः । लोके तु साङ्ख्यपुरुषादिशब्दवत् उपचरिताः ।

बालक्रीड़ा

प्रश्न—जब उपचरित है तब मुख्यरूप से रति के आस्वाद में शृंगार शब्द की प्रवृत्ति में क्या कारण है । ऐसी आशंका करके कहते हैं कि जैसे रत्यादि । गोत्र पिता की सन्तानादि को कुल माता की सन्तानादि को सूचित करता है । आचार शब्द का अर्थ है व्यवहार । उससे उत्पन्न यानी लोक में प्ररूढ़ है किन्तु मूल में ऐसी बात नहीं हैं । आद्य आप्त के उपदेश नामकरणरूप संकेत से सिद्ध है । पुंसा का अर्थ है मनुष्य जाति के नर और नारी । नरों के पितृपरम्परा के अनुसारी विष्णु शर्मा आदि नाम होते हैं । और स्त्रियाँ के तो मातृवंश के अनुसार कनकप्रभा चन्द्रप्रभा इत्यादि नाम होते हैं । इसी प्रकार रस भाव आदि के नाटचशास्त्र के नाम रस शास्त्र के जानकार वृद्धों के व्यवहार से निरूढ़ हैं और प्राक्तन ब्रह्माजी आदि आप्तों के द्वारा प्रणीत है ।

उसी का उपसंहार करते हैं—कि इस प्रकार शृंगार रस है । वह आचार एवं व्यवहार से लोक में भी सिद्ध है । प्रश्न—इस सिद्धि का कारण क्या है । उत्तर । शृंगार का हृद्य स्फुट एवं शास्त्रानिषिद्धादि वेष स्वरूप होना इसका कारण है । इसका आशय यह है कि प्रत्येक शास्त्र के संकेत के अनुसारी शब्द होते हैं जो उस शास्त्र के जानकार वृद्धों की व्यवहार परम्परा से लोक में प्रसिद्ध हैं । उन शब्दों का उपचार से अन्य अर्थों में भी व्यवहार होता है । जैसे-अजी ये तो सांख्य पुरुष हैं कुछ करते कराते नहीं । इसने यहाँ पर मेरे लिए पूर्वरंग यानी भूमिका बना दी । यहाँ पर परस्पर में इन दोनों में इसका महत् है । यहाँ का अभिप्राय यह है कि सांख्य शास्त्र में पुरुष को कर्त्ता नहीं माना है प्रत्युत उसको पुष्कर पलाश की तरह निर्लेप माना है और कर्त्री एवं भोक्त्री प्रकृति है । तदनुसार लोक में भी जिसकी स्त्री ही सब कुछ करती है उस पुरुष को मजाक में लक्षणया सांख्य पुरुष कहते हैं । (पूर्वरंगः प्रसंगाय नाटकीयस्य वस्तुनः) नाटयोपयोगी अभिनय के लिए अवसर प्रदान करने के लिए पूर्वरंग किया जाता है । पूर्वरंग का अर्थ है पहली भूमिका तदनुसार लोक में भी किसी को कार्य करने के लिए सहूलियत देने के विषय में इस शब्द का प्रयोग औपचारिक

अभिनवभारती

यस्तु शृङ्गारशब्दस्य मत्वर्थीयेन व्युत्पत्तिमाह तस्य रूपमपि विस्मृतम् । आरकन् हि प्रत्ययोऽत आरब्धः । ('शृङ्गवृन्दाभ्यामारकन्') (वार्तिक. ५.२-१२१) वृन्दारक इति यथा । अत एवोणादिषु निपातितोऽयं शब्दः । (शृङ्गारभृङ्गारौ । उ. सू.) ।

यस्तु पृथग्भावेन तत्तद्दीक्षितानि गोत्रादिनामानि व्याचष्टे व्यावर्त्याभावात् । तत् प्रकृते न किञ्चिदप्युपयुज्यते । न च गोत्राचारोत्पन्ने नामनि नियामक आप्तोपदेशो लोके इत्यास्तामेतत् ।

अथ रतिस्थायीति सूत्रभागं भाष्येण स्पष्टयति—स चेत्यादिना । स्त्रीपुरुषशब्देन परस्पराभिलाषसंभोगलक्षणाया लौकिक्या 'अस्येयं स्त्री' इति "अस्या अयं पुरुष" इति रतेः, स्तथाभिलाषमात्रसारायाः कामावस्थानुवर्तिन्या व्यभिचारिरूपानीताया

बालक्रीड़ा

होता है । न्यायवैशेषिक उभय सम्मिलित दर्शन में अणु महत् ह्रस्व और दीर्घ ये शब्द परिमाण अर्थ में संकेतित है । किन्तु लोक में "महतां सकलं महत्" यह प्रयोग स्त्री पुंव्यंजन उपस्थ वृषण एवं कुच अर्थ में भी उपचार से प्रयुक्त होता है । उसी प्रकार ये शृंगारादि शब्द भी इन रसादि अर्थों में मुख्य हैं। लोक में तो सांख्यपुरुषादि शब्दों की तरह उपचरित हैं ।

जिसने तो शृंगार शब्द की मत्वर्थीय आरकन् प्रत्यय से व्युत्पत्ति कही है उसने शृंगारक रूप को भी भुला दिया। क्योंकि यहाँ शृंग शब्द से (शृंगवृन्दाभ्यामारकन्) वार्तिक से आरकन् प्रत्यय का आरम्भ किया है । अतः जैसे वृन्दशब्द से आरकन् प्रत्यय होने पर वृन्दारक बनता है उसी तरह शृंग शब्द से शृंगारक बनता है न कि शृंगार। शृंगार शब्द का तो "शृंगार भृंगारौ" इस उणादि सूत्र से निपातन हुआ है ।

जो तो अलग २ भिन्न २ दीक्षा के अनुसार गोत्र नाम भारद्वाज आदि, कुलनाम पुरुषों के अरुणोदय सूर्योदय चन्द्रोदय भाग्योदय आदि । कन्याओं के विजय लक्ष्मी सौभाग्य लक्ष्मी एवं राज्य लक्ष्मी आदि है । आचार नाम अरुणोदय प्रपन्न (रामानुजसंप्रदाय में प्रपत्ति की दीक्षा दी जाती है अतः उसके नाम के आगे प्रपन्न जोड़ा जाता है) को कहता है उस कथन का प्रकृत में कोई उपयोग नहीं है क्योंकि उन नामों से कोई अन्य व्यावर्त्य नहीं है जब कि एक ही व्यक्ति उन नामों से बोध्य है । यदि कहें कि ठीक है अन्य कोई व्यावर्त्य नहीं है तद्यपि आप्त व्यवहार यह नहीं है । इस पर कहते हैं लोक व्यवहार में गोत्र कुल एवं आचार विहित नाम के विषय में आप्तोपदेश नियामक नहीं है । अतः बस इसे रहने दिया जाय ।

अब रतिस्थायिप्रभवः इस सूत्र भाग का स चेत्यादि भाष्य के द्वारा स्पष्टीकरण करते हैं कि यहाँ "स च स्त्रीपुरुष हेतुकः" इस भाष्य में प्रयुक्त स्त्रीपुरुष शब्द से इस शृंगार की हेतु रति कही गई है । जो रति परस्पर अभिलाषात्मक (विप्रलम्भरूप) एवं सम्भोगरूप यह इसकी स्त्री है यह इसका पुरुष है इस लौकिक रति से विलक्षण है । तथा केवल अभिलाष ही जिसमें सार है ऐसी और दश कामावस्थाओं का अनुवर्त्तन करने वाली यानी अपुष्ट अत एव (उद्बुद्धमात्रः स्थायी च भाव इत्यभिधीयते जो स्थायी केवल उद्बुद्ध ही हुआ है किन्तु

अभिनवभारती

रतेश्च विलक्षणैव इयं स्थायिरूपा प्रारम्भादिफलप्राप्तिपर्यन्ता व्यापिनी परिपूर्णसुखैकफला रतिरुक्ता भवति हेतुरस्य।

कविर्हि लौकिकरतिवासनानुविद्धस्तथा विभावादीनाहरति नाट्ये नटश्चानुभावान्, यथा रत्यास्वादः शृङ्गारो भवतीति। आस्वादयितुरपि प्राक्कक्ष्यायां रत्यवगम उपयोगीत्युक्तं प्राक्।

एतदुक्तं भवति—रतिः क्रीडा सार्धं च परमार्थतः कामिनोरेव। तत्रैव सुखस्य धाराविश्रान्तेः।

अपरस्य तु माल्यादिविषयसौन्दर्यस्य तद्विना कृतस्य संकल्पत्वात्संवेदनद्वितयान्योन्यनिमज्जनात्मकमीलनाख्यो हि परमो भोगः। संविद एव प्रधानत्वात्। अन्यत्र तु जडस्य भोग्यत्वात्।

अत एवाह—'श्वासायासविडम्बनैव वपुषि प्राणाः पुनर्जानकी' इति।

अत एव यत्कैश्चिदचोद्यत—रतेराधारभेदेन भेदात्कथमेको रस इति। तदनभिज्ञतया। एकैव ह्यसौ तावती रतिः। यत्रान्योन्यसंविदा एकवियोगो न भवति।

बालक्रीड़ा

पुष्ट नहीं है वह व्यभिचारी भाव होता है इस न्याय के अनुसार) व्यभिचारी रूप को प्राप्त होने वाली रति से विलक्षण है। इस प्रकार विलक्षण यह रति स्थायी रूप है अर्थात् प्रारम्भ से लेकर फलपर्यन्त व्याप्त रहने वाली है अत एव एकमात्र परिपूर्ण सुखरूप फल से सम्पन्न है।

इन त्रिविध रतियों में से लौकिक रति की वासना से अनुविद्ध कवि काव्य में विभावादि को और नाट्य में नट अभिनयों को उस तरह उपस्थित करते हैं जिस प्रकार विलक्षण रति का आस्वाद शृंगार रस हो जाता है। आस्वाद करने वाले को भी प्रथम कक्ष्या में रति का अवगम उपयोगी होता है यह तथ्य पहिले कहा जा चुका है। इसका आशय यह है कि परमार्थतः वस्तुतः कामी की कामिनी के (सार्ध) साथ और कामिनी की कामी के साथ क्रीडा ही रति है। उसी में सुख के धारा की विश्रान्ति है। अतः रति के विना किये गये अपर शृंगार जिसमें माला के पहिरने आदि विषयों उद्यान चन्द्रोदय एवं वसन्त प्रभृति ऋतुओं से सौन्दर्य प्राप्त होता है वह शृंगार संकल्प है मानस कर्म है। अतः संवेदन द्वितय कामी एवं कामिनी दोनों की रतियों का अर्थात् संवेदनशाली कामी एवं कामिनी का परस्पर में निमज्जन एक दूसरे का एक दूसरे में विभोर हो जाना परमभोग है। इस निमज्जन की आख्या मिलन है परस्पर में अन्तर्हित हो जाना है। क्योंकि संविद् ही प्रधान है ज्ञाने परिसमाप्यते के अनुसार ज्ञान में ही सब का पर्यवसान है ज्ञान से अतिरिक्त स्थल में जड़ पदार्थ भोग्य है। इसी लिए कहते हैं कि शरीर में श्वास प्रश्वास को प्राण कहना विडम्बना है वस्तुतः प्राण जानकी है। अतः किसी ने जो यह कुचोद्य किया कि आधार भेद से रति अनन्त है तब भी रस एक है और रति ही रस बनता है। यह कैसे। ऐसा कुचोद्य

अभिनवभारती

अत एवोत्तमयुवप्रकृतिः। उत्तमश्चोत्तमा चोत्तमौ। एवं युवानौ। तत्रोत्तमयुवशब्देन तत्संविदुच्यते। न तु कायः। चैतन्यस्यैव हि परमार्थत उत्तमयुवत्वं विशेषः। स(सा) चावस्थावान् यत्र तत्र व्यवहारस्य भूतत्वात् तत्प्रकृतिः। सा संविदास्वादयोग्यत्वात् शृङ्गाररसीभवतीति। अनुत्तमत्वे तु न दाढ्यंमयुवत्वे चेति न सा रतिः संवित्। वियोगस्य संभावनात्। अवियुक्तसंवित्प्राणस्तु शृङ्गारः। यथा—

"वारिसिणि०चरिहिअदि हिल०गणाहुकंहविएक।
हुहिमुळजळमरणिमअळहुतीतिहविप०सि ॥" इति।

व्याख्याता परस्परं जीवितसर्वस्वाभिमानरूपा। वेषयति व्यापयति चित्तवृत्तिमन्यत्र ज्ञापनया संक्रमयतीति वेषो विभावानुभावात्मा। वेषयन्ति व्याप्नुवन्ति स्थायिनमिति व्यभिचारिणः। ते चोज्ज्वला उत्कृष्टा यस्मिंस्तथाभूत आत्मा यस्येति।

बालक्रीड़ा

नासमझी से है। क्योंकि जितनी भी रतियाँ हैं उतनी वह स्थायी रूपा रति एक ही है। जहाँ परस्पर की संविद के द्वारा एक दूसरे का वियोग नहीं होता है। इसी लिए रस को उत्तम युवप्रकृति कहा। यहाँ उत्तम शब्द में उत्तम और उत्तमा के द्वन्द्वसमास में सरूपाणामेकशेष इसके अनुसार एक शेष हो गया। और शेष रहता है वह लुप्यमान के अर्थ को कहता है। तदनुसार उत्तम शब्द का अर्थ है दो उत्तम। ऐसे जो युवा अर्थात् उत्तम युवा और उत्तम युवती। यहाँ उत्ताम युवा तौर उत्ताम युवती शब्द से उनकी संविद कही गई है। न कि उनका शरीर। क्योंकि परमार्थतः उत्ताम युवत्व ही चैतन्य का विशेष रूप है। वह चैतन्य विशेष ही भिन्न २ अवस्थाओं को धारण करके यहाँ वहाँ सर्वत्र व्यवहार का कारण होता है अतः उत्तम युवक एवं युवती उसकी प्रकृति हैं। वह संवित् आस्वाद के योग्य होती है अतः वह शृंगार रस हो जाती है। उत्ताम नहीं होने पर और युवत्व नहीं होने पर वह दृढ़ यानी स्थायी नहीं होती है अत एव वह संवित् रति नहीं है। क्योंकि वहाँ वियोग की संभावना है। फलतः अवियुक्त संवित् रूप रति शृंगार का प्राण है। जैसे—

वारिसिणि। यह गाथा बीच २ में खण्डित है अतएव अस्फुट है। इसमें परस्पर की जीवित सर्वस्व रति की व्याख्या की है। ऐसा आचार्य का लेख है। विष्लृ व्याप्तौ से घञ् प्रत्यय करके निष्पन्न वेष शब्द की अन्तर्भावितणिजर्थ मानकर व्युत्पत्ति करते हैं—वेषयति जो व्याप्त करता है अर्थात् जो चित्तवृत्ति को दूसरे में बोध के द्वारा संक्रान्त कर देता है वह विभावात्मा और अनुभावात्मा वेष है। इसीतरह जो स्थायी को व्याप्त करते हैं वे व्यभिचारी वेष हैं। वे विभावादि जिसमें उज्ज्वल हों उत्कृष्ट हों वह उज्ज्वल वेष कहलाता है। और वैसा जिसका आत्मा हो स्वरूप हो वह उज्ज्वल वेषात्मक कहलाता है।

तस्य द्वे अधिष्ठाने सम्भोगो विप्रलम्भश्च। तत्र सम्भोग-स्तावत ऋतुमाल्यानुलेपनालंकारेष्टजनविषयवरभवनोपभोगोपवनगमनानुभवनश्रवणदर्शनक्रीडालीलादिभिर्विभावैरुत्पद्यते ।

अभिनवभारती

सूत्रे संक्षिप्य यद्विभावादि निरूपितं तद्विभागेन व्याख्येयमित्याशयेन शृङ्गारस्यावस्थाभेदमाह—तस्य द्वे इत्यादिना। अधिष्ठाने अवस्थे इत्यर्थः। अधिष्ठीयतेऽवस्थात्र शृङ्गाररूपेण। ते न शृङ्गारस्येमौ भेदौ। गोत्वस्येव शाबलेयत्वबाहुलेयत्वे। अपि तु तद्दशाद्वयेऽप्यनुयायिनी या रतिरास्वादनात्मिका तस्याश्चास्वाद्यमानं रूपं शृङ्गारः। यदाहुः—

"एतस्मान्मां कुशलिनमभिज्ञानदानाद्विदित्वा
मा कौलीनादसितनयने ? मय्यविश्वासिनी भूः।
स्नेहानाहुः किमपि विरहे ह्रासिनस्ते त्वभोगा-
दिष्टे वस्तुन्युपचितरसाः प्रेमराशीभवन्ति ॥ इति ॥ (मेघ. २.४५.)

बालक्रीड़ा

(मूल) उसके दो अधिष्ठान यानी अवस्थाएँ होती हैं सम्भोग एवं विप्रलम्भ। उनमें सम्भोग-वसन्तादि ऋतुएँ, अपनी २ ऋतुओं में पैदा होने वाले पुष्पों की मालाएँ, अगर तगर कस्तूरी केशर कपूर एवं चन्दन को घिस कर बनाया हुआ अनुलेप, पराग पाउडर, अलंकार, इष्टजन, स्पृहणीय विषय उत्तम भवन आदि का उपभोग सेवन, उपवन विहार, मधुर गीतों का श्रवण आकर्षक वस्तुओं का दर्शन, जलक्रीडा और रासलीला आदि के अनुभवन रूप विभावों से उत्पन्न होता है।

सूत्र में संक्षिप्त रूप से जो विभावादिका निरूपण किया है उसकी व्याख्या अलग २ करनी चाहिए इस आशय से शृंगार की विभिन्न अवस्थाओं को कहते हैं उसके दो अधिष्ठान हैं दो अवस्थाएं हैं। यहां विप्रलम्भ एवं संभोग शृंगार रूप से दो अवस्था रहती है अतः अधिष्टान का अर्थ अवस्था है। यहाँ अधिकरण में ल्युट् प्रत्यय है। ये अवस्थायें शृंगार के दो भेद नहीं हैं। जैसे गोत्व के शावलेयत्व एवं बाहुलेयत्व भेद नहीं है। गोत्व तो यावद् गौओं में रहने वाला धर्म हैं और शावलेयत्व केवल शबला गौ के अपत्य में, बाहुलेयत्व केवल बहुला के अपत्य में रहने वाला धर्म है अतः वे गोत्वका भेदक धर्म नहीं हैं। वही स्थिति यहाँ भी है। फलतः उन दोनों सम्भोग विप्रलम्भात्मक अवस्थाओं में अनुगत रहने वाली जो आस्वादनात्मिका रति है उसी का आस्वाद्यमान रूप शृंगार है। जैसा कि कहते हैं।

सन्देश वाहक मेघ के द्वारा दिये हुए इस अभिज्ञान से मुझे कुशली समझ कर मेरे विषय में हे असितनयने ! अविश्वासिनी मत होना कि वह मुझे भूल गया होगा या अन्य किसी में अनुरक्त हो गया होगा अब उसको मुझसे क्या मतलब है। इत्यादि अविश्वास मत करना। क्योंकि लोग कुछ ऐसी ही बात कहा करते हैं कि विरह दशा में स्नेह

अभिनवभारती

अत एव सम्भोगे विप्रलम्भसम्भावनाभीरुत्वं विप्रलम्भेऽपि सम्भोगमनोराज्या(रथा)-नुवेध इति इयच्छृङ्गारस्य वपुः। अभिलाषेर्ष्याप्रवासादिदशास्त्वत्रैवान्तर्भूताः। सत्यामाशाबन्धात्मिकायां रतौ तेन सम्भोगश्रृङ्गार इत्यादिव्यपदेशोऽभोगेऽप्युपचारात्। अत एव एतद्दशाद्वयमेलने सत्यतः सातिशयचमत्कारः। यथा—

"एकस्मिन् शयने पराङ्मुखतया वीतोत्तरं ताम्यतो-
रन्योन्यं हृदयस्थितेऽप्यनुनये संरक्षतोर्गौरवम्।
दम्पत्योः शनकैरपाङ्गवलनान्मिश्रीभवच्चक्षुषो-
र्भग्नो मानकलिः सहासरभसव्यासक्तकण्ठग्रहम्॥" (अमरुक-२३.)

तत्र ह्रीर्ष्याविप्रलम्भसम्भोगमेलनात्मिकैवैकप्राणीभूतोभयगतविभावानुभावव्यभिचारिकृता सातिशया रसानुभूतिः। तेन यच्चोदितं श्रीशङ्कुकेन पुरूरवस उन्मादे, वत्सराजस्य तापसत्वे चानुज्ज्वलवेषत्वं विप्रलम्भश्रृङ्गारेऽपि (इति) तदनवकाशमेव। भोगस्य रसत्वाभावात् स्नानाद्यवस्थानमिव। यत्त्वत्रोत्तरं तावद्दत्तं स्थैर्यादुज्ज्वलवेषाभावेऽपि रतिमुत्तमां न विजहातीति तद्यक्षभाषितम्॥ प्रकृतचोद्यापरिहारात्।

बालक्रीड़ा

ध्वंसन स्वभाव वाले होते हैं। नष्ट प्रायः हो जाते हैं। किन्तु जैसे किसी वस्तु के उपभोग नहीं करने से वह वस्तु क्षीण नहीं होती है प्रत्युत उसमें कुछ डालते रहने से बढ़ती है। उसी तरह प्रेम के उपभोग नहीं होने से प्रत्युत विरह में प्रेमी की तन्मयता के कारण उपचित होने से वे प्रेम राशि के रूप में समुदाय के रूप में इकट्ठे हो जाते हैं।

इसीलिए संभोग में यह डर बना रहता है कि कहीं बियोग नहीं हो जाय। विप्रलम्भ में भी मानसिक सम्भोग का अनुवेध बना रहता ही है। बस इतना श्रृंगार का शरीर है। अभिलाष ईर्ष्या एवं प्रवासादि दशायें तो इसी में अन्तर्भूत हैं। क्योंकि आशाबन्ध ही एक ऐसा तत्त्व है जो कुसुम के सदृश सद्यः पाती अंगनाओं के प्रणयी हृदय को वियोगावस्था में रोके रहता है (आशाबन्धः कुसुमसदृशं प्रायशो ह्यंगनानां सद्यःपाति प्रणयि हृदयं विप्रयोगे रुणद्धि) अतः पुर्नमिलन की आशा से विप्रलम्भ की दशायें भी इस सम्भोग में आ जाती है। क्योंकि आशाबन्धात्मिक रति होने पर यही स्थिति है। इसलिए भोग नहीं होने पर भी लक्षणा से संभोग श्रृंगार इत्यादि व्यपदेश होता है। अत एव ऐसी दो दशाओं के मिलने में सचमुच अतिशय चमत्कार होता है। जैसे—एक ही शयन में पराङ्मुख होकर मुंह फेरकर लेटे हुए किन्तु बातचीत के बन्द हो जाने से दुःखी एक दूसरे को मनाने की इच्छा मन में रहते हुए भी अपने अहंभाव की रक्षा कर रहे दम्पती-धीरे से अपांग के वलन से आँखों के मिलजाने पर जब आँखें चार होती है तब मुहब्बत आही जाती है के अनुसार-हँस पड़े। जिसके फलस्वरूप उनका मान कलह भग्न हो गया और वे बड़े वेग से एक दूसरे के गले में लिपट गये।

यहाँ ईर्ष्या विप्रलम्भ एवं संभोग के मिलन स्वरूप एक प्राण होकर उभय में रहने वाले विभाव अनुभाव एवं व्यभिचारी भाव के कारण सातिशयी रस की अनुभूति हो रही है।

अभिनवभारती

न नु चोदितमनुज्ज्वलेवेषे कथं श्रृङ्गार इति। तदेवास्तु चोद्यमिति चेत्— न वचनस्यातिभारोऽस्ति। न तु मुनिनैवमुक्तं सत्युज्ज्वलवेषे श्रृङ्गार इति। अपि तु विपर्यय इत्यास्तामेतत्।

तत्रेति। द्वयोरवस्थयोर्मध्ये सम्भोगावस्था तावदुच्यते। तत्रेह वस्तुतः स्त्रीपुंसौ परस्परं विभावौ। तयोरुत्तमत्वे चोपयोगीनि ऋत्वादीनि। उत्तमस्यानवसरे रत्यभावात्। यदाह—

'असमाप्तजिगीषस्य स्त्रीचिन्ता का मनस्विनः।
अनाक्रम्य जगत्कृत्स्नं किं? सन्ध्यां भजते रविः॥' इति॥

(राज. तर. ४.४४२.)

ऋतुर्वसन्तादिः। माल्यं कुसुमादिः। अनुलेपनं समालम्भनं यद्यत्कामस्योद्दीपकम्। अलङ्कारः कटकादिः। इष्टजनः विदूषकादिः। एतदुभयमुत्तमत्वसूचकम्। विषया गीतादयः। तदन्तर्भूतमपि माल्यादि प्राधान्यात्पृथगुक्तम्। वरभवनं हर्म्यादि।

बालक्रीड़ा

इससे जो श्रीशंकुक ने कहा कि पुरूरवा का उन्माद के समय, वत्सराज का तपस्वी हो जाने के समय विप्रलम्भ श्रृंगार में भी वेष अनुज्वल रहा। उसको कोई अवकाश नहीं है क्योंकि उपभोग रस नहीं है। स्नानादि की अवस्था के तरह वेष भूषा का उपभोग रस नहीं है। और जो तो यहाँ उत्तर दिया कि उज्वल वेष के अभाव में भी उदयन एवं वत्सराज अपनी स्थिरता से उत्तमा रति को नहीं छोड़ते हैं। यह तो यक्षभाषित हुआ। अर्थात् इस पेड़ में भूत बोलता है। जैसा हुआ। प्रकृत कुचोद्य का शंका का परिहार नहीं हुआ। इसके सिवाय और भी बात है कि आपने यह शंका भी नहीं की है कि अनुज्वल वेष में श्रृंगार कैसे होता है। श्रृंगार तो उज्वल वेष में होता है। यदि कहें कि यही शंका रहे तो भी ठीक नहीं। क्योंकि कहने में तो कोई बोझ नहीं है कि दश हाथ लम्बी हर्रे होती है। मुखमस्यास्ति वक्तव्य दशहस्ता हरीतकी। किन्तु मुनि ने ऐसा नहीं कहा है कि उज्वल वेष होने पर श्रृंगार होता है। अपि तु विपर्यय है। अर्थात् उज्वलवेषात्मक श्रृंगार है। अतः रहने दिया जाय।

तत्रेति—उनमें दो अवस्थाओं में से पहले सम्भोगावस्था को कहते हैं। वहाँ वस्तुतः स्त्री और पुरुष परस्पर में विभाव हैं। उनकी उत्तमता में ऋतु माल्य अलंकार आदि उपयोगी होते हैं। उत्तम पुरुष को अनवसर में रति नहीं होती है।

जैसा कि कहा है। जगत् के विजय की इच्छा रखने वाले मनस्वी को उस इच्छा के समाप्त किये विना स्त्री की चिन्ता नहीं होती है। क्योंकि देखा गया है कि सम्पूर्ण जगत् को आक्रान्त किये विना रवि सन्ध्या का सेवन नहीं करता है।

ऋतु वसन्तादि ६ हैं। माल्य कुसुम आदि हैं। अनुलेपन समालम्भन है। इस तरह जो जो काम के उद्दीपक हैं। अलंकार कटकादि। इष्टजन विदूषक वगैरह। ये सब दोनों में उत्तमत्ता के सूचक हैं।

अभिनवभारती

एतद्देशविशेषोपलक्षणम् । एषामुपभोगः । उपवनस्योद्यानस्यानुभवनं, श्रवणं वरभवनस्थस्यापि । एतत्सङ्कल्पादेरप्युपलक्षणम् । क्रीडा जलावगाहनादिका । लीला जनस्यानुकृतिः । आदि ग्रहणादन्यदपि हृद्यं हंसयुगलकचित्रपुस्तकदर्शनादि । एतच्च समस्तमेव शृङ्गारविभावत्वेन मन्तव्यम् । यावान्कश्चिदयं विषयसम्भारो हृद्यतमस्तत्पूर्णतायां सत्यामुत्तमस्य रत्युदयः । अत एव रत्नावल्यां हर्म्यवर्णनमुद्यान-गमनं कामदेवपूजा वसन्त इत्यादि सर्वमेवात्र संगृहीतं 'राज्यं निर्जितशत्रु योग्यसचिवे न्यस्तम्' इत्यादिना । एवञ्च सर्व एव समुदितो विभाव इति काल्पनिकमालम्बन-विभाव उद्दीपनविभाव इति । अत एव मुनिना नायं क्वचिद्विभाग उक्तः सूचितो वा । युक्तञ्चैतत् । यथैकत्रैव रूपके उद्यानर्तुमाल्यादीनां सर्वेषां दर्शनादेको रसः स्यात् । विभावाभेदात् ।

ननु प्रथमं प्रमदामात्रदर्शने नोद्यानभवनादिसम्भवः । क एवमाह । ऐश्वर्यपूर्णस्य हि तावदात्मीयसमृद्धिसम्भारसंस्कारावगमात् पूर्णतैव विभाववर्गस्य । तत्प्रधानं हि रूपकं तत्र तत्रोदाहरणम् । तेन पृथक्पृथगुदाहरणदानमनुपपन्नम् ।

बालक्रीड़ा

विषय गीतादि हैं । यद्यपि माल्यादि भी विषयों के अन्तर्गत हैं तथापि प्रधानता के कारण उनको अलग कहा है । उत्तम भवन हर्म्यादि हैं । यह देशविशेष का उपलक्षण हैं । इनका उपभोग । उपवन उद्यान का अनुभव यानी उसमें विहार करना और उत्तम भवन में स्थित का श्रवण करना । यह सब संकल्प का उपलक्षण है । क्रीडा जल में अवगाहन वगैरह । लीला किसी जन की अनुकृति । आदि ग्रहण से और भी आकर्षक हंस एवं हंसी को जोड़े एवं चित्र का देखना पुस्तक का पढ़ना । इन सबको शृंगार के विभाव समझना चाहिए । जितनी भी कुछ अतीव आकर्षक विषय सामग्रीं है उसके पूर्ण होने पर उत्तम पुरुष को रति का उदय होता है । अतएव रत्नावली में हर्म्य का वर्णन, उद्यान में गमन, कामदेव की पूजा, वसन्त का दर्शन इत्यादि सभी का, शत्रुओं से रहित राज्य के भार का योग्य सचिव में विन्यास करना इत्यादि के द्वारा संग्रह हो गया है । इस प्रकार ये सभी समुदित हुए विभाव हैं । इसलिए अमुक आलम्बन विभाव हैं और अमुक उद्दीपन विभाव हैं । यह कल्पना है । इसी लिए मुनि ने ऐसे किसी विभाग को कहीं पर कहा भी नहीं है और न सूचित ही किया है । ठीक भी है यह । जैसे एक ही रूपक में विभावों के भेद के नहीं होने से उद्यान ऋतु एवं माल्य आदि सभी वस्तुओं के समुदाय के देखने से एक ही रस होना चाहिए ।

अब प्रश्न होता है कि—पहिले केवल प्रमदारूप आलम्बन विभाव के देखने के समय उद्यान एवं वरभवन आदि के उपयोग की संभावना नहीं है । तब समुदित विभाव रस का कारण होता है यह कहना नही बना । उत्तर । किसने ऐसा कहा कि केवल आलम्बन विभाव का ही वहां ज्ञान हुआ अन्य का नहीं । सुनिये जैसे किसी ने "राजा जा रहा है" कहा । तब इसका यह मतलब नहीं है कि छड़ी उठायी चल दिया अपि तु यान एवं भृत्य

अभिनवभारती

या तु मुक्तकादौ पृथक्तया भावेऽपि रससंवित् तत्रोत्तमे च तावतोऽनुसन्धानाच्चमत्कार इति। इयांस्त्वनुत्तमादिविषयेऽपरिपूर्णोद्दीपनत्वेन चमत्कारो दृश्यते—

यथा हि 'वर्धते लुनाहि पणीलुदिंसिगमिहा अमहंह भुवं हचदुघरीदुल्लए लंधा' इति, यथा 'कमसूपे रङ्ग' इत्यादि। तत्रैकाङ्गस्य सौभाग्यस्य प्राधान्याच्चमत्कारोदय इति तात्पर्यम्। न तु तदभावकृता चमत्कृतिः।

एतैः कविनोपनिबद्धैर्नटेन च साक्षात्कारकल्पतामानीतैः सम्यगित्यविघ्नं योगात्सम्भोगादिको रस उत्पद्यते झटित्येव। न हि गमनक्रियावत् पर्यन्ते रसना क्रिया निष्पद्यते। अपि तु प्रथम एवावसरे। स च विभावसाक्षात्कारात्मक एव। तस्य तु प्रथमकक्ष्यायामेव रसनागोचरत्वाभिमतस्य नयनचातुर्यादिभिरनुभावनं तथा तैः

बालक्रीड़ा

आदि अन्य सभी उपकरणों से पूर्ण हुआ राजा जा रहा है ऐसी जनता की प्रतीति जैसे राजभाव के संस्कार से स्वतः हो जाती है उसी तरह ऐश्वर्य पूर्ण विभाववर्ग की भी अपनी समृद्धि के संभार सम्बन्धी संस्कारों के ज्ञान से पूर्णता स्वतः उपस्थित हो जाती है तभी रस की प्रतीति होती है अपूर्णता में नहीं। अतः तत्प्रधान अर्थात् ऐश्वर्यपूर्ण विभाव वर्ग की पूर्णता जिसमें प्रधान है ऐसा रूपक स्थल २ पर उदाहरण है। इसलिए यह रूपक आलम्बन विभाव प्रधान है और यह रूपक उद्दीपन विभाव प्रवान है इस तरह पृथक् २ उदाहरण देना उपपत्ति युक्त नहीं है।

जो तो मुक्तक आदि में अलग २ अर्थात् किसी एक विभाव के उपस्थित होने से अपूर्णता में भी रस की संवित् होती है वहाँ उत्तम स्थल में उतने विभाववर्ग के अनुसंधान से चमत्कार हो जाता है। और जो तो अनुत्तम स्थल रूपक में कहीं पर उद्दीपन विभाव के परिपूर्ण नहीं होने पर भी चमत्कार दिखाई पड़ता है: वहां एक अंग के सौभाग्य की प्रधानता से चमत्कार का उदय होता है यह तात्पर्य है न कि उद्दीपन विभाव के अभाव में भी चमत्कार होता है यह तात्पर्य है। कवि के द्वारा काव्य में उपनिबद्ध और नट के द्वारा साक्षात्कार करा दिये इन विभाव आदि के सम्यक् अर्थात् निष्प्रत्यूह योग से झटिति सम्भोग शृंगारादि रस उत्पन्न होते हैं। झटिति कहने का आशय है कि जैसे यान प्रभृति सहायक उपकरणों के जुटाने के बाद पर्यन्त में यात्रा होती है वैसे शब्द के द्वारा समुपस्थाप्य अर्थ विभावादि एवं उनके द्वारा व्यक्त व्यभिचारी भावों के ज्ञान के बाद पर्यन्त में रसना क्रिया निष्पन्न होती है। यह बात नहीं है। अपितु प्रथम ही अवसर में निष्पन्न होती है। और वह प्रथम अवसर है विभावों का साक्षात्कार। इस तरह रसना के विषयरूप में अभिमत उन विभावों के साक्षात्कार की प्रथम कक्ष्या में ही नयनचातुर्य कटाक्षवीक्षण आदि से यह रसना के अभिमुख ले जाया जाता है। इसीलिए वे अभिनय और अनुभाव हैं। रसना आदि के अभिमुख नयन और अनुभावन उस रस के आस्वाद में समर्थ आचरणरूप उद्दीपन है। अतएव उसके अभाव में विभावादि का वर्णन जिसमें प्रधान है ऐसे काव्य में चमत्कार नहीं है। क्योंकि वहां रसना क्रिया का अभाव है।

अभिनवभारती

रसनाद्याभिमुख्यं नीयते। एवमाभिमुख्यनयनमनुभावनं च। अत एव तेऽभिनया अनुभावाश्च। तद्रसास्वादे समर्थाचरणमुद्दीपनम्। अत एव तदभावे विभावादिवर्णन-प्रधानेऽपि काव्ये न चमत्कारः। रसनायास्तत्राभावात्। यथा विन्दोर्भट्टेन्दुराजस्य—

"उपपरिसरं गोदावर्याः परित्यजताध्वगाः!
सरणिमपरो मार्गस्तावद्भवद्भिरवेक्ष्यताम्।
इह हि विहितो रक्ताशोकः कयापि हताशया
चरणनलिनन्यासोदञ्चन्नवाङ्कुरकञ्चुकः॥" इति।

एवमन्यत्राप्युपपद्यत इति तस्याभिनयादियोजनीयम्।

ननु विभावानां साधारण्यं कथम्। नियमेनैवं हि न नाट्ये। इयांश्चात्र कविप्रयत्नसमर्प्यमाणः। तेन तद्भावात्प्रयोजकधर्मोद्रेकप्रकाशविशिष्टसमबलात्प्रमुख एव विशेषविश्रान्ततां याति। यथा 'हा प्रिये'! जनकराजपुत्रि! इत्ययं श्रुत एव न रतिव्यतिरेकेण भावान्तरविभावता शङ्क्या। 'एतेन कुणपः कामिनी' इत्यादि-सम्भावनं प्रत्युक्तम्।

बालक्रीड़ा

जैसे विन्दु विद्वान् भट्ट इन्दुराजका। यह विन्दु शब्द विद् ज्ञाने धातु से "विन्दुरिच्छुः" इस सूत्र के द्वारा उप्रत्यय और नुम् के आगम होने पर बना है। अमर कोष में भी "ज्ञाता तु विदुरो विन्दुः" इस तरह जानकार के अर्थ में उल्लेख किया है।

हे अध्वगाः हे मुसाफिरो ? गोदावरी नदी की पर्यन्तभूमि के पास की सरणि को आप लोग छोड़ दें। अब आप लोग दूसरे मार्ग को देखलें। क्योंकि यहाँ गोदावरी के नजदीक की सरणि पर किसी हताशा ने रक्ताशोक में चरण कमल के न्यास से नूतन अंकुर रूपी कञ्चुक को उदञ्चित कर दिया है। यहाँ रक्ताशोक का वर्णन है। इसी तरह अन्यस्थलों में भी उपपत्ति होती है। उसके उपयुक्त अभिनय आदि की योजना कर लेनी चाहिए।

प्रश्न—इस तरह के वर्णन प्रधान काव्य में अर्थात् किसी व्यक्ति विशेष के इतिहास स्वरूप काव्य में विभावों की साधारणता कैसे होगी। नाट्य में तो नियम से नहीं होगी। यथास्थित की व्याख्या। अथवा विभावों का साधारण्य क्यों, किस प्रकार होगा। क्योंकि अभिनय तो रसों के लिए नियत ही है। अमुक रस में अमुक वेषभूषा (आहार्यिक) अमुक प्रकार की भाषा (वाचिक) अमुक अंगहार (आंगिक) अमुक भाव (सात्विक) रहेंगे तब उसका अभिनय सांगोपांग होगा। अतः विभावों की साधारणता में अर्थात् नियत विभावों के अभाव में नाट्य में अभिनयादि की योजना कैसे होगी। नियम के अनुसार ऐसा नहीं होगा। उत्तर। इतना अंश या स्वरूप कवि के रचनात्मक प्रयत्न से समर्प्यमाण है जिससे उसकी सत्ता के प्रयोजक कारण धर्मों के उद्रेक से जिसका प्रकाश है ऐसे विशिष्ट एवं सम अर्थात् सन्तुलित इसके बल से प्रमुख में ही आरम्भ में ही विशेष में विश्रान्ति मिलजाती है।

तस्य नयनचातुर्यभ्रूक्षेपकटाक्षसञ्चारललितमधुराङ्गहार वाक्यादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः।

अभिनवभारती

तत्र नयनचातुर्यादिना "कान्ता" दृष्टिर्लक्ष्यते। यत्तु भ्रुवोर्मूलसमुत्क्षेपश्चतुरमिति (ना. शा. ८.४७) 'विवर्तनं कटाक्ष'(ना. शा. ८-१००) इति च ताराकर्म वक्ष्यते। तदत्र सभ्रूक्षेपेण कटाक्षेण चोक्तम्। एवं च योजना—नयनानां चातुर्येण सभ्रूक्षेपेण कटाक्षेपेण च यद्यत्सञ्चारणं ललितं मन्थरं मधुरं नयनाभिरामं कृत्वा यान्यङ्गानां हरणानि स्वकर्तव्यकाले ललितानि सुकुमाराभिधेयानि मधुराणि च श्रवणसुखकराणि यानि वाक्यानि इत्युपाङ्गाभिनय आङ्गिको वाचिकश्च लक्षितः।

अत एव सामान्याभिनयाध्याय (ना. शा. अ-२२) वक्ष्यमाणाशेषचेष्टालङ्कारलाभ इति ललितमधुरशब्दौ तदर्थावित्यसत्। आदिग्रहणात्सात्त्विको मुखरागपुलकादिर्गृह्यते। अनुभावकत्वेन ताटस्थ्यपरिहारः। आभिमुख्यनयनेन स्वात्मैकविश्रान्तिशङ्कानिरासः। एवमुत्तरत्रापि।

बालक्रीड़ा

(मूल) उस संभोग शृगार का नयनचातुरी, भ्रुवों का क्षेप, कटाक्षसंचार, ललित अंगहार एवं मधुर वाक्य आदि अनुभावों से अभिनय करना चाहिए।

जैसे—हा हा प्रिये ? जनक राजपुत्रि ! इतना सुनते ही रति के सिवाय अन्य भाव के विभाव की शंका ही नहीं हो सकती है। इससे मृत प्रमदा में कुणप (शव) या कामिनी इत्यादि की सम्भावना का प्रत्याख्यान हो गया।

तत्र। यहाँ नयन चातुर्य से "कान्ता" दृष्टि लक्षित होती ह। जो तो भ्रुवोर्मूल समुत्क्षेपः चतुरम्' भ्रुवों का मूल में समुत्क्षेप चतुर है इत्यादि कहेंगे इसको यहाँ समुत्क्षेप से कहा है। विवर्त्तन कटाक्ष है इससे तारा कर्म को कहेंगे। इस प्रकार यहाँ योजना है—नयनों के चातुर्य से, भ्रूक्षेप एवं कटाक्ष का जो जो संचारण है और ललित शिथिल तथा मधुर यानी नयनों को देखने में अभिराम सुन्दर मालूम पड़े ऐसा करके जो अंगों का हरण है तथा अपने कर्त्तव्य काल में ललित रस यानी सुकुमारार्थक एवं मधुर अर्थात् श्रवण सुखकर जो वाक्य है। इससे उपांगों का अभिनय जिसमें है ऐसे आंगिक अभिनय और वाचिक अभिनय को लक्षित किया। इससे सामान्य अभिनयों के प्रतिपादक अध्याय में जिन चेष्टाओं एवं अलंकारों को कहेंगे उनका लाभ हो गया। अतः ललित एवं मधुर शब्द उस अर्थ वाले हैं। यह कहना असत् है। वाक्यादिभिः में जो आदि ग्रहण किया है उससे सात्विक भाव मुख राग एवं पुलक रोमाञ्च आदि का ग्रहण होता है। अनुभावक होने से तटस्थता का परिहार हो गया। आभिमुख्य नयन से केवल अपने आप में होने वाली विश्रान्ति का निरास हो गया। इसी तरह आगे भी समझना चाहिए।

व्यभिचारिणश्चास्यालस्यौग्र्यजुगुप्सावर्ज्याः विप्रलम्भकृतस्तु निर्वेदग्लानिशङ्कासूयाश्रमचिन्तौत्सुक्यनिद्रा स्वप्नविबोधव्याध्युन्मादापस्मारजाड्यमरणादयः।

अभिनवभारती

एवं विभावसमय एव रसनीयस्यानुभावावसरेऽवस्थावेशवैरस्यास्पदस्य पश्चाद्व्यभिचारिणः (स्थितः) यतः स्वामेव रसनीयतां चित्रयन्तः सातिशयं पुष्यन्तीति पश्चात्ते निरूप्यन्ते—व्यभिचारिणश्चास्येति। आलस्यौग्र्यजुगुप्सा वर्ज्यमाना येभ्यस्ते सर्वे व्यभिचारिणः। अस्येति दशाद्वयमयस्येत्यर्थः। जुगुप्सा स्थायिन्यपीह निषिद्धा न्यायसिद्धं स्थायिनामपि व्यभिचारित्वमनुज्ञापयति। आलस्यादि च स्वविभावप्रमदादिविषयमेव निषिद्धम्। तेन 'वपुरलसलसद्बाहु लक्ष्म्याः' (वेणी-१-२) इति तथा 'कतिचिदहानि वपुरभूत् केवलमलसेक्षणं तस्याः' (विक्र. ५-८) इत्यादिनापि रूपके मन्तव्यम्। एवं प्रयोगे काव्ये च विभावादीनां क्रम एव समाश्रयणीयः। पूर्वमुद्गतस्य पश्चात् लब्धप्रतिष्ठता। तथाभूतस्य परिवारसंघटनमिति हि प्रतीतिक्रमः।

बालक्रीड़ा

(मूल) संभोग श्रृंगार के आलस्य उग्रता एवं जुगुप्सा को छोड़कर व्यभिचारी भाव होते हैं। विप्रलम्भश्रृंगार के तो निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, श्रम, चिन्ता, औत्सुक्य, निद्रा, स्वप्न, विबोध, व्याधि, उन्माद, अपस्मार, जाडय एवं मरणोन्मुखता आदि व्यभिचारी भाव होते हैं।

इस प्रकार विभाव की प्रतीति के समय रसनीय किन्तु अनुभावों की प्रतीति के अवसर पर अवस्था के आवेश से विरस व्यभिचारियों की स्थिति सबसे पीछे है। क्योंकि वे अपनी रसनीयता का चित्रण यानी विलक्षण तरीके से प्रकट करते हुए स्थायी भाव को अतिशय पुष्ट करते हैं अतः उनका निरूपण सबके पश्चात् करते हैं। व्यभिचारिणश्चास्य। आलस्य औग्र्य एवं जुगुप्सा को छोड़कर सभी भाव यहाँ व्यभिचारी हैं। अस्य का आशय है दशाद्वयमय। अर्थात् संभोग एवं विप्रलम्भ रूप दो दशाओं वाला श्रृंगार। जुगुप्सा यद्यपि बीभत्स रस का स्थायी भाव है अतः इस का यहाँ श्रृंगार के व्यभिचारियों में उल्लेख निषिद्ध है। तद्यपि यह स्थायियों के न्यायसिद्ध व्यभिचारित्व की अनुज्ञा देता है। आलस्य एवं औग्र्य का जो निषेध किया है वह निषेध अपने रस श्रृंगार के विभाव प्रमदादि के विषय में ही है। इससे "लक्ष्मी का शरीर जिसमें बाहु आलस्य से सुशोभित है। तथा कुछ दिनों तक उसका शरीर केवल अलस ईक्षणों वाला था। इत्यादि के द्वारा रूपक में आलस्यादि व्यभिचारी भावों को मानना चाहिए। इस प्रकार प्रयोग में और काव्य में विभावादि का क्रम ही समाश्रयणीय है। जो पहिले उगता है उसी को प्रतिष्ठा (स्थिति) मिलती है। और प्रतिष्ठित हुए का परिवार में संघटन (गणना) होती है यह प्रतीतियों का क्रम है।

अभिनवभारती

ननु निर्वेदादयः सम्भोगे न व्यभिचारिणः इत्याशङ्क्याह—विप्रलम्भकृतस्त्विति। तुशब्दो विशेषं द्योतयति।

यद् वाक्यैकवाक्यतया दुःखप्रायनिर्वेदादि मुक्त्वा आलस्यादिव्यतिरिक्ताश्च सुखमया एव धृत्यादयोऽत्र व्यभिचारित्वेन सम्भोग उपन्यस्ता इति प्रकटयति। परस्परांशोपजीवनं चात्र जीवितमिति दर्शयितुमस्येत्यनुद्भिन्नमेवोक्तम्। तत एव च भगवदनुग्रहपवित्रवाचा कालिदासेन रघुवंशे सम्भोगविप्रलम्भात्मकव्यामिश्ररसनासम्पत्तये प्रत्यनीकोद्देशेन रामभद्रस्य स्वकर्म पूर्वावस्थावर्णनेनादृतम्।

निद्रान्तर्भूतोऽपि स्वप्नः प्राधान्यादुपात्तः। 'क्व नीलकण्ठ व्रजसि' इति (कुमा-५-५४)। सिविणवए विहुदौसुजपउसुमराविउतरूढसंखुआसिपुअगळनाळविउति।' तथा 'आहूतोऽपि सहायैः' इत्यादौ हि स एव प्राणः। सम्भोगदशायां तु विभावसान्निध्ये निद्राद्यभावाद्विबोधोऽपि व्यभिचारी। सम्भोगेऽपि रतिश्रमकृतनिद्रादि यद्यप्यस्ति तथाऽपि न रतौ तच्चित्रतामाधत्ते। विप्रलम्भे तु तद्रतिभावनपरम्परात एव निद्रादिबाहुल्यापेक्षं चेत्थमभिधानम्।

बालक्रीड़ा

प्रश्न—निर्वेद आदि भाव संयोग शृंगार में व्यभिचारी नहीं होते हैं किन्तु आपने लिखा है कि आलस्य उग्रता एवं जुगुप्सा को छोड़कर सभी भाव संभोग शृंगार में व्यभिचारी हैं यह कैसे। ऐसी आशंका करके उत्तर देते हैं कि— विप्रलम्भशृंगार का तो। तु शब्द विप्रलम्भ की संभोग के अपेक्षा विलक्षणता को द्योतित करता है।

व्यभिचारिणो वर्ज्याः इस वाक्य की विप्रलम्भ कृतस्तु इस वाक्य के साथ एकता है अतः दुःखबहुल निर्वेदादि को छोड़कर आलस्यादि से व्यतिरिक्त धृति आदि सुखमय ही भावों का इस संभोग में व्यभिचारी के रूप में उपन्यास किया है इस विशेष को तुशब्द प्रकट करता है। संभोग एवं विप्रलम्भ शृंगार एक दूसरे के अंश का उपजीवन यहाँ प्राण है इस बात को दिखाने के लिए व्यभिचारिणश्चास्य में "अस्य" इसको उद्भिन्न अर्थात् स्फुट नहीं कहा। क्योंकि संभोग और विप्रलम्भ दोनों प्रस्तुत हैं अतः अस्य यह पद दोनों का बोधक हो सकता है। इसीलिए भगवती सरस्वती के अनुग्रह से पवित्र वाणी वाले कालिदास ने रघुवंश मे संभोग एवं विप्रलम्भ दोनों से मिश्रित रसना की सम्पत्ति के लिए प्रत्यनीकविधया विपर्ययदिशा से उद्देश यानी अवस्थाओं का कीर्तन करके पूर्वावस्था का वर्णन करते हुए रामभद्र के निजी कर्मों का आदर किया। स्वप्न यद्यपि निद्रा के अन्तर्भूत है क्योंकि सोने के समय ही स्वप्न होते हैं तद्यपि प्रधानता के कारण "निद्रा स्वप्न" इस तरह निद्रा से पृथक् स्वप्न का उपादान किया है। "नीलकण्ठ कहाँ जा रहे हो" "सिविणवए स्वप्नमये" "साथियों से बुलाया हुआ भी" इत्यादि उदाहरणों में वह स्वप्न ही प्राण हैं। संभोगदशा में तो विभाव के सान्निध्य में निद्रा के अभाव में विबोध भी व्यभिचारी है। संभोग में भी रति के बाद थकावट से यद्यपि निद्रा होती है तद्यपि रति में उससे कुछ विचित्रता का आधान नहीं होता है अतः निद्रा को सम्भोग में व्यभिचारी नहीं माना है। किन्तु विप्रलम्भ में

अभिनवभारती

उन्मादापस्मारव्याधीनां या नात्यन्तं कुत्सिता दशा सा काव्ये प्रयोगे च दर्शनीया। कुत्सिता तु सम्भवेऽपि नेति वृद्धाः। वयं तु ब्रूमः। तादृश्यां दशायां स्वजीवितनिन्दात्मिकायां तद्देहोपभोगसाररत्यात्मकावस्थाबन्धोऽपि विच्छद्यत एवेति असम्भव एव। मरणमचिरकालप्रत्यापत्तिमयमत्र मन्तव्यम्। येन शोकोऽवस्थानमेव न लभते। यथा—

"तीर्थे तोयव्यतिकरभवे जह्नुकन्यासरय्वो-
देहत्यागादमरगणनालेख्यमासाद्य सद्यः।
पूर्वावस्थाधिकचतुरया सङ्गतः कान्तयाऽसौ
लीलागारेष्वरमत पुनर्नन्दनाभ्यन्तरेषु॥ (रघु. ८-९५)

अत एव सुकविना वाक्यभेदेनापि मरणं नाख्यातम्। प्रतीतिविश्रान्तिस्थानत्वपरिहाराय तृतीयपादेन विभावानुसन्धानकं दर्शनम्। पुनर्ग्रहणेन स एवार्थः सुतरां द्योतितः।

अन्ये त्वाहुः मरणमिति न जीवितवियोग उच्यते अपि तु चैतन्यावस्थैव प्राणत्यागकर्तृतात्मिका। या सम्बन्धाद्यवसरगता मन्तव्या व्यभिचारिभावेनेति सुलभोदाहरणमेतदिति। आदिशब्देन दैन्यमोहादयः। एते व्यचारिणोऽपि स्वानुभावैरनुभाविता विप्रलम्भमनुभावयन्ति। तस्मादनुभावैरित्यूह्यम्।

बालक्रीड़ा

नायिका की रति की भावनाओं की परम्परा स्वप्न में हो सकती है अतः निद्रा की खास तौर से अपेक्षा है इसलिए ऐसा कहा कि विप्रलम्भ में निद्रा व्यभिचारी भाव है।

उन्माद अपस्मार एवं व्यधियों की जो अत्यन्त गन्दी दशा नहीं है उसको काव्य में एवं प्रयोग में दिखाया जा सकता है। कुत्सित दशा को तो नही ही दिखाना चाहिए। चाहे वह सम्भव भी हो। ऐसी वृद्धों की सम्मति है। हमारा तो कहना है कि अपने जीवित की निन्दामयी उस कुत्सित दशा में उपभोग के साधन देह के उपभोगों में सार भूत रतिरूप अवस्था का संबन्ध ही विच्छिन्न हो जाता है अतः काव्य में या प्रयोग में उस दशा का दिखाना असंभव ही है। अचिर काल में ही प्रत्यापत्ति यानी शीघ्र ही पुनर्मिलन जहाँ हो जायगा ऐसा मरण यहाँ मरण शब्द से बोध्य हैं। इसका फल होगा कि शोक इस पुनर्मिलन के कारण अवस्थान यानी अपने स्वरूप को नहीं प्राप्त कर सकेगा। जैसे गंगा एवं सरयू के जलों के संगम से बनने वाले तीर्थ में देह के त्याग देने से तत्काल देवताओं की गणना में अपने को लिखा हुआ पाकर वह देह त्यागी पुरुष अज प्रथम शरीर की अपेक्षा से अधिक चतुर कान्ता इन्दुमती से संगत हो गया जिसके फल स्वरूप नन्दनोद्यान स्थित लीलागृहों में क्रीडा करने लगा।

यहाँ इस पद्य में तत्काल होने वाली प्रत्यापत्ति के कारण मरण जन्य शोक को किसी प्रकार अवस्थान नहीं मिला। अतएव सुकवि कालिदास ने वाक्य भेद करके भी मरण को नहीं कहा। अपितु बीच में प्रतीति की विश्रान्ति के स्थानत्व के अर्थात् विच्छेद के परिहार के लिए तृतीय पाद में कान्ता रूप आलम्बन विभाव का संगम दिखला दिया। और पुनः

अभिनवभारती

अन्ये त्वादिशब्दं करुणवाचिनमाश्रित्य तदीयानुभावान्प्राधान्येन दर्शयन्ति। एकशेषेण द्वयमप्यन्ये। विप्रलम्भो विडम्बनं वञ्चनं प्रसिद्धम्। इह तूपचारात्तदीयं फलं विरहात्मकं गृह्यते। न हि परस्परं रतिमतोर्विडम्बनमस्ति। तेन विरहेण कृतः सुष्ठुतमां पोषित इति दर्शयन्मुनिरनेन विना शृङ्गारो न प्रयोगे हृद्यतामवलम्बत इति दर्शयति।

तथा हि—सम्भोगेऽप्येकघनशर्करास्वादस्थानीयतापरिहाराय वैषम्यं गोत्रस्खलितं स्पर्धामन्यद्वा कलहविप्रलम्भहेतुभूतं कवयो निबध्नन्ति। वामो हि कामः' (काम. शा. २-७-१) इति वात्स्यायनादिभिरभिहितम्। मुनिनापि वक्ष्यते 'यद्वामामिनिवेशित्वम्' इति (ना. शा. २२-२०७)। एते च व्यभिचारिणो विद्युदुन्मेषनिमेषयुक्त्यैव स्थायिसूत्रमध्ये स्वात्मानं प्रकटयन्तस्तिरोदधतश्च तद्वैचित्र्यमावहन्ति न तु स्थिराः।

बालक्रीड़ा

शब्द के उपादान से उस नायिका संगम रूप अर्थ को बड़े सुन्दर ढंग से प्रकाशित कर दिया। अन्य लोग तो कहते हैं कि मरण यह पद जीवित वियोग को नहीं कहता है अपितु प्राणत्याग कर्त्तृतात्मक चैतन्यावस्था को ही कहता है। जो मरणरूप व्यभिचारी भाव से सम्बन्धादि अवसर में ज्ञात हुई समझनी चाहिए। अतः ऐसे उदाहरण सुलभ हैं। मूल नाटचशास्त्र में मरणादिभिः में उपात्त आदि शब्द से दीनता एवं मोह आदि व्यभिचारियों को समझना। ये व्यभिचारीं भाव अपने अनुभावों से अनुभव में आये हुए विप्रलम्भ का अनुभव कराते हैं। इसलिए "अनुभावैः" यह कहा। दूसरे लोग तो उक्त आदि शब्द को करुण अर्थ का वाची मानकर करुण के अनुभावों को प्रधानरूप से दिखाते हैं। और लोग तो मरणरूप अर्थ के वाचक मरण शब्द और मरणानुसन्धी शोक रूप अर्थ के बोधक मरण शब्द का एक शेष करके दोनों अर्थों का ग्रहण करते हैं। विप्रलम्भ शब्द का अर्थ वञ्चना ठग लेना अर्थ प्रसिद्ध है अत एव अष्टविध नायिकाओं में विप्रलब्धा नायिका एक स्वतन्त्र मानी गई है। संकेत अर्थात् समय और स्थान की सूचना दे करके भी जिसका प्रिय नहीं आता है वह वंचिता विप्रलब्धा नायिका होती है। इस वचना में नायिका को नायक का विरह होता है। इसलिए कार्यकारण में अभेदोपचार मानकर विप्रलम्भ से जन्य विरह को विप्रलम्भ कह देते हैं। इसी को आचार्य लिखते हैं कि यहाँ प्रकृत में अभेदोपचार से उस विप्रलम्भ के फल कार्य को विरह स्वरूप मानते हैं। क्योंकि परस्पर में परस्पर की जव रति है प्रेम है तब प्रेम में वञ्चना नहीं होती है। प्रेम में तो आत्म समर्पण होता है। उस विरह के कारण तन्मयता अवस्था से प्रेम अत्यन्त पुष्ट होता है इस तथ्य को दिखाते हुए मुनि ने इस विप्रलम्भ के विना न नाट्य में और न काव्य में श्रृंगार आकर्षक हो सकता है यह दिखादिया है।

जैसे—संभोग एकघन शर्करा यानी मिठास अत्यन्त आस्वाद का स्थान है ऐसी संभोग-स्थानीयता के परिहार के लिए कवि लोग वैषम्य गोत्रस्खलित किसी स्त्री को बुलाने के लिए उसकी द्वेष्य स्त्री के नाम को लेना, या स्पर्धा होड़ करना या कलह अथवा और कुछ जो विप्रलम्भ का हेतु हो सकता है उसको काव्य में लिखते हैं। काम उलटा होता है यह

अभिनवभारती

यद्यपि स्थाय्यपि न स्थिरः तथाऽपि संस्काररूपतया धारावाहिसजातीयप्रवाहरूपतया च स्थिर एव। व्यभिचारिणस्तु नैवं क्षणमपि भवन्ति। संस्कारमपि स्वकं स्थायिसंस्कार एव प्रौढयन्ति। तथैव स्मरणाच्च।

तेन व्यभिचारिषु पृथक्पृथग्यैःकैश्चिदुदाहृतं तन्न तन्त्रन्यायानुपाति' तथा हि—धृतौ यदुदाहृतं 'असम्भाव्यं दैवात्' इत्यादि तत्रापि हर्षविस्मयगर्वमतिप्रभृतीनां च तातेति मामिति वलित इत्यादिसूचितानां सम्भार एव। किमपरं त्रैलोक्यम्' इत्यादौ चावान्तरवाक्यारम्भे स्मृतिप्रभृतिभिः सर्वत्र भाव्यम्। अन्यथा हि धृत्येकवचनत्वे सर्वत्र श्लोकार्थे दृष्टिरेकैव चित्रन्यस्तेव भवेत्। 'अस्यास्सर्गविधौ' (विक्रमोर्व १-१०) इत्यत्राप्यवान्तरवाक्यसामाप्तौ धृतिहर्षविस्मयादयो भवन्त्येव। अत एव विच्छद्य विच्छद्य वितर्कान्तरं समुदेति। न तु व्यभिचारी क्षणमप्यवतिष्ठते। चलं हि गुणवृत्तमिति हि तत्र भवन्तः। अतएव प्रयोगवैचित्र्यम्। अन्यथाऽवैचित्र्यात्स एव प्रयोगः स्यात्। मध्ये चान्ते चाश्रयाः स्फुटाः। ते च विस्मयधृतिप्रभृतीनित्यास्तामेतत्।

बालक्रीड़ा

वात्स्यायन ने कामसूत्र में कहा है। मुनि भी आगे चलकर कहेंगे कि जो उलटा करने में अभिनिवेश आग्रह है वह वह काम है। ये व्यभिचारी भाव विजली के उन्मेष चमक एवं निमेष दमक की युक्ति से ही अपने आपको कभी प्रकट और तिरोहित करते हुए स्थायी रूप सूत्र में प्रकटन एवं तिरोधान रूप वैचित्र्य का आधान करते हैं अत एव वे स्थिर नहीं है। यद्यपि रत्यादि भाव भी नाम धरने के लिए स्थायी हैं वस्तुतः वे भी स्थिर नहीं है तद्यपि संस्कार रूप से अथवा धारावाहिक सजातीय प्रवाह रूप से स्थिर ही हैं। व्यभिचारियों की तो ऐसी स्थिति क्षणभर भी नहीं होती है। वे तो अपने संस्कार से स्थायी के संस्कारों को प्रौढ़ करते हैं। वैसे ही रूप में उनका स्मरण होता है।

इस लिए जो तो किसी ने व्यभिचारियों के अलग २ उदाहरण दिये हैं वे साहित्य तंत्रसिद्ध न्याय के अनुगुण नहीं है। जैसे धृति का जो उदाहरण है "असंभाव्यं दैवात्" इत्यादि उसमें भी हर्ष, विस्मय, गर्व एवं मति प्रभृति ' तातेति माँमिति, वलिता" इत्यादि से सूचित किये गये हैं उनका समूह है। क्या यह अपर त्रिलोकी है इत्यादि अवान्तर वाक्यों के आरम्भ में सभी जगहों में स्मृति प्रभृति होंगी। यदि ऐसा नहीं मानेंगे और धृति को एक वचनान्त मानेंगे तो सभी श्लोकार्थों में चित्रन्यस्त दृष्टि की तरह एक ही दृष्टि माननी पड़ेगी। इसके सिवाय "अस्याः सर्गविधौ" यहाँ पर भी अवान्तर वाक्य की समाप्ति में धृति हर्ष एवं विस्मय आदि भाव होते ही हैं। इसीलिए विच्छिन्न हो २ कर और २ वितर्क उत्पन्न होते हैं। व्यभिचारी तो क्षणभर भी नहीं ठहरता है। गुणों का वृत्त (नियमरूप चरित्र) चल है स्थिर नहीं है ऐसा आचार्य लोग कहते है। योग्यविभु विशेषगुणानां स्वोत्तरवर्तिगुणनाश्यत्व नियमः। विभु के योग्य विशेष गुण अपने उत्तरवर्त्ती गुणों से नाश्य हैं। ऐसा नैयायिकों का सिद्धान्त है। अतएव गुणों के चल होने से ही प्रयोगों में वैचित्र्य

अत्राह—यद्ययं रतिप्रभवः श्रृङ्गारः कथमस्य करुणाश्रयिणो भावा भवन्ति। अत्रोच्यते—पूर्वमेवाभिहितं सम्भोगश्चविप्रलम्भकृतः श्रृङ्गार इति। वैशिकशास्त्रकारैश्च दशावस्थोऽभिहितः। ताश्च सामान्याभिनये वक्ष्यामः।

अभिनवभारती

वाक्यैकवाक्यत्वेनावस्थाद्वयस्यूतस्य श्रृङ्गारस्य यत्स्वरूपमुक्तमेतदेव परिशोधयितुं पूर्वपक्षयति अत्राहेति। करुणविषये आश्रयणं विद्यते येषां भूम्ना। अत एव कर्मधारयमत्वर्थीयाभ्यामितीह नाश्रितम्। भूम्ना विद्यते ह्यत्रेति मत्वर्थीयः पूर्वपक्षस्य प्राणितम्।

ननु त्वयोक्तमसदेवास्त्वित्याशङ्कयाह—वैशिकेत्यादि। वेशो वेश्या वर्गः। प्रयोजनं च कारणं सम्भोगात्मकम्। तत्प्रयोजनमस्येति शास्त्रं कामसूत्रं ये कृत-

बालक्रीड़ा

(मूल) इस प्रसंग में प्रश्न करते हैं कि अगर यह शृंगार रति से उत्पन्न होता है तब इसके करुणाश्रयी भाव कैसे होते हैं। उत्तर। पहले ही कहा गया है शृंगार की दो अवस्थाएँ होती है एक संभोग दूसरी विप्रलम्भ। यद्यपि वैशिक शास्त्रकारों ने कामसूत्र में इस शृंगार की दश अवस्थाये बतलाई हैं। उनको हम सामान्य अभिनयों के निरूपण के प्रसंग में कहेंगे। करुण तो इष्टजन का शाप के कारण प्राप्त हुए क्लेश में पड़े जाने और विभव नाश, या वध

है। अन्यथा यदि वैचित्र्य नहीं होगा तो बार २ वही प्रयोग होगा। किन्तु स्फुट है कि प्रारम्भ में मध्य में एवं अन्त में व्यभिचारी भावों के वे आश्रय हैं और विस्मय धृति एवं गर्व आदि को प्रकाशित करते हैं। बस रहने दिया जाय।

व्यभिचारिणश्चास्य आलस्यौग्र्यजुगुप्सा वर्ज्याः इस वाक्य की विप्रलम्भकृतस्तु इत्यादि वाक्य के साथ एक वाक्यता होने से दो अवस्थाओं से अनुस्यूत श्रृंगार का जो स्वरूप कहा है उसकी परिशुद्धि करने के लिए पूर्वपक्ष उठाते हैं कि इस विषय में यह कहते हैं कि करुण के विषय में आधिक्येन आश्रयण जिनका हो वे करुणाश्रयी है। अतएव यहाँ पर कर्मधारय और मत्वर्थीय ने आश्रय नहीं लिया। यहाँ का आशय यह है कि उपर्युक्त विग्रह कर देने से (न कर्मधारयान् मत्वर्थीयः बहुव्रीहिश्चेत्तदर्थप्रतिपत्तिकरः। कर्मधारय तत्पुरुष समास के बाद मत्वर्थीय प्रत्यय नहीं करना चाहिए यदि जिस अर्थ की प्रतिपत्ति कर्मधारयोत्तर-मत्वर्थीय प्रत्यय कर देने से होती है उसी अर्थ की प्रतिपत्ति को कर देने वाला बहुव्रीहि हो तो) इन कर्मधाय और मत्वर्थीम का झगड़ा नहीं उपस्थित हुआ। हमने कर्मधारय समास नहीं किया। किन्तु करुणविषये आश्रयणं करुणाश्रयणम् इस प्रकार पहले मध्यम पद "विषय" लोपी समास किया फिर भूमनिन्दा प्रशंसासु नित्ययोगेऽति शायने। संसर्गेऽस्ति-विवक्षायां भवन्ति मतुबादयः के अनुसार भूमा माने आधिक्य अर्थ में मतुप् प्रत्यय किया है। यह भूम्ना विद्यते अत्र इस अर्थ में विहित मत्वर्थीय प्रत्यय इस पूर्वपक्ष का प्राण है।

अभिनवभारती

वन्तस्तैः। शृङ्गारो दशभिरभिलषितादिभिर्मरणान्ताभिरवस्थाभिर्युक्तो दर्शितः। अवस्थाग्रहणेन च तावन्तो बहवो विप्रलम्भा इत्याशङ्कां निराकरोति। तेन चिन्तादयोऽपि व्यभिचारित्वेन रतेस्तैरनुज्ञाता इति तात्पर्यम्। चकारेणेदमाह– परस्पराऽऽस्थाबन्धात्मकत्वे रतिरूपे स्थिते सति तदङ्गभूता दशावस्था विप्रलम्भाङ्गम्। यथोदयनस्य चित्रफलकावलोकनतः प्रभृति।

ननु तत्रापि रतिः क। तस्य विषयस्यानवगमात्। न हि चित्रमात्रम्। नलिनीसंस्तरादेः साक्षिणो विद्यमानत्वात्। आकृत्या च काम्यमानतौचित्यस्य लाभात्। यदि परं नाम न ज्ञातं तत्कुत्रोपयोगीति। यदा तु विप्रलम्भाङ्गता न भवति तदा स्वातन्त्र्यं—यथा रावणस्यापि। तदुक्तमस्मदुपाध्यायभट्टतौतेन—

'स्वातन्त्र्येण प्रवृत्तौ तु सर्वप्राणिषु सम्भवः।' इति।

बालक्रीड़ा

प्रश्न—तुमने जो विप्रलम्भ एवं सम्भोग दो भेदों वाला शृंगार है ऐसा कहा वह अतत् ही है। ऐसी आशंका करके कहते हैं कि हमने तो दो ही भेदों वाला कहा है वैशिक शास्त्रकारों ने उसको दश अवस्थाओं वाला कहा है। यहाँ वैशिक शब्द में वेश शब्द का अर्थ है वेश्या वर्ग और ठञ् शब्द का अर्थ है प्रयोजन। "प्रयोजनम्" सूत्र के द्वारा ठञ् प्रत्यय होता है। इस सूत्र में प्रयोजन शब्द का अर्थ है कारण और फल। प्रकृत में कारण अर्थ ग्रहण किया है। उसी के अनुसार आचार्य व्याख्या करते हैं। वेश्या वर्ग है प्रयोजन संभोगात्मक कारण जिसका उस शास्त्र कामसूत्र को जिन्होंने बनाया है। उन्होंने शृंगार को अभिलषितादि मरणान्त दश अवस्थाओं से युक्त दिखाया है। अवस्था शब्द के उपादान से उतने बहुत से विप्रलम्भ हो सकते हैं इस आशंका का निराकरण किया। अर्थात् अवस्थी एक है उसकी अवस्थायें अनेक हो सकती हैं अतः उसमें स्वरूपतः एकत्व ही है। इससे चिन्ता आदि की रति के व्यभिचारी के रूप में अनुज्ञा दे दी है। वैशिक शास्त्र कारैश्च में उल्लिखित चकार से यह कहा कि रति परस्पराशा बन्धात्मक है। अतः उस रति के रहने पर उसकी अंगभूत दश अवस्थाएँ विप्रलम्भ की अंग है। जैसे—उदयन की चित्र फलक के अवलोकन से लेकर दश दशायें हैं।

प्रश्न—उदयन में रति कहाँ है। क्योंकि चित्र के अवलोकन मात्र से विषय का अवगम नहीं होता है। उत्तर। केवल चित्र ही साक्षी नही है। कमलिनी के दलों का बिछौना भी साक्षी है। काम्यमानता अर्थात् कामयमानावस्था का औचित्य उसकी आकृति से भी मिलता है। इस पर भी यदि उसका ज्ञान नहीं होता है तब चित्र नलिनीसंस्तर, कामयमानावस्था एवं आकृति का उपयोग कहां किसलिए क्यों होगा। अगर वे विप्रलम्भ के अंग नही है स्वतन्त्र है जैसे रावण की दश दशाय। जैसा कि हमारे उपाध्यायजी भट्टतौत ने कहा है कि स्वतन्त्र रूप से प्रवृत्ति होने पर तो उन दशाओं का सभी प्राणियों में सम्भव है।

करुणस्तु शापक्लेशविनिपतितेष्टजनविभवनाशवधबन्ध-समुत्थो निरपेक्षभावः। औत्सुक्यचिन्तासमुत्थः सापेक्षभावो विप्रलम्भकृतः।

अभिनवभारती

नन्वेवं व्यभिचार्यभेदात्करुणः कथं विप्रलम्भाद्भिद्यत इत्याशङ्क्याह—करुणस्त्विति। अधमप्रकृतेस्तावन्न विप्रलम्भः। स्थाय्यभावात्। तदभावो विभावसामग्रीवैकल्यादिति। तत्र तावत्करुणः पृथक् लब्धप्रतिष्ठः। एवमुत्तमप्रकृतावपि। रतिविपरीतः शोकः करुणे स्थायी। अत एवाह निरपेक्षः। बन्धुजनादिविषये याऽपेक्षा रताविवालम्बनम्।

यथोक्तम्—"आशाबन्धः कुसुमसदृशं प्रायशो ह्यंगनानाम्।" इति (मेघ १-१०)। ततो निष्कान्तो भावः शोकाख्यो यस्मिन्। शापक्लेशे विनिपतितस्येष्टजनस्य यो विभवनाशो वधबन्धो वा ततः समुत्थानं यस्य। शापग्रहणेनाप्रति-

बालक्रीड़ा

(मूल) या बन्ध आदि कारणों से उत्पन्न होता है। जो रतिरूप भाव की अपेक्षा आवश्यकता से शून्य है। विप्रलम्भ शृंगार तो औत्सुक्य, चिन्ता, शंका एवं ग्लानि आदि भावों से उत्पन्न

प्रश्न—इस प्रकार यदि करुण और विप्रलम्भ के व्यभिचारियों में अभेद है एकता है तब करुण का विप्रलम्भ से भेद कैसे होगा। ऐसी आशंका करके कहते हैं कि करुण तो। अधम प्रकृति में विप्रलम्भ नही होता है। क्योंकि यह रस बड़ा कोमल होता है और अधम स्वभाव वाला व्यक्ति इतना क्रूर होता है कि नायिका के कोमल स्वभाव के साथ उसका निर्वाह नहीं हो सकता है अतः नायिकादि रूप विभाव सामग्री की विकलता से विप्रलम्भरस के स्थायी का वहां अधम प्रकृति में अभाव है। विप्रलम्भ से पृथक् प्रतिष्ठा को प्राप्त करने वाला करुण रस उस अधम प्रकृति में होता है। उत्तम प्रकृति में भी करुण रस होता है। उस करुण में रति के विपरीत शोक स्थायी भाव है। इसलिए कहा कि करुण निरपेक्ष भाव है। रति में जैसे आलम्बन की अपेक्षा रहती है अर्थात् आलम्बन विभाव की आवश्यकता बनी रहती आलम्बन के विना रति का उद्गम एवं सत्ता नही है। उसी तरह बन्धुजनादि के विषय में जो अपेक्षा आवश्यकता है वह करुण में नही है। बन्धुजन आदि रहेंगे तब शोक क्यों होगा वह तो उनके न रहने पर होगा और शोक के अभाव में करुण कैसे होगा। अतः कहा कि बन्धुजनादि से निरपेक्ष भाव करुण है। और विप्रलम्भ सापेक्ष भाव है। जैसा कि मेघदूत में कालिदास ने कहा है कि कुसुम के सदृश कोमल एवं प्रणयी अंगनाओ का हृदय सद्यः पतनशील होता है थोड़े से विकार से टूटने वाला होता है किन्तु यह आशारूपी बन्धन इतना जबर्दस्त होता है कि साधारण दशा में टूटने नही देने की बात कौन कहे विप्रलम्भ में भी नही टूटने देता है। इस उद्धरण का यह आशाय है कि विप्रलम्भ में आशा पुर्नमिलन की भावना बनी रहती है अतः उसमें आलम्बन की अपेक्षा बनी रहती है। करुण में

एवमन्यः करुणोऽन्यश्च विप्रलम्भ इति। एवमेष सर्वभाव-संयुक्तः शृङ्गारो भवति।

अभिनवभारती

कार्यत्वे सत्युत्तमप्रकृतेः शोकोदयस्थानमेतदिति दर्शयति। अन्यथोत्साहक्रोधादिविभावत्वं स्यात्। शोकत्वमेव च पराकर्तुं कविकुलचक्रवर्तिना पुरूरवस ऊर्वशीशापप्राप्तिरनुरूपलक्षितत्वेन निबद्धा। एवं विभावस्थायिविभेदो दर्शितः। येऽपि चैते निर्वेदाद्यास्तेऽपि वस्तुतो रत्यननुगृहीता निरपेक्षाच्छोकाद्भवन्तोऽन्यएव। ततोऽप्याह निरपेक्षभाव इति।

एवं प्रसङ्गात्करुणस्य स्वरूपमभिधाय प्रकृते योजयति—औत्सुक्यचिन्तेति। चिन्ताशब्दोऽशेषनिर्वेदाद्युपलक्षम्। औत्सुक्यप्रधाना ये चिन्तादयस्तेभ्यः सम्यगुत्थानं विजृम्भो यस्य। अत एव सापेक्षो यत्र रत्याख्यो भावः। ते च सापेक्षाद्रत्याख्याद्भवन्ति। न हि विप्रलम्भे विभावः स्थायी च सम्भोगाद्भिद्यते। एक एवासाविति हि बहुश उक्तम्।

बालक्रीड़ा

(मूल) होता है। और इसमें रति के रूप की अपेक्षा बनी रहती है। इस तरह करुण अन्य है और विप्रलम्भ अन्य है। इस प्रकार के सभी भावों से संयुक्त शृंगार होता है।

वह आशा नही रहती है और करुण के मूल में जो शोक है वह तभी होगा जब बन्धुजन वगैरह नहीं रहेंगे अतः यह निरपेक्ष भाव है। उक्त अपेक्षा से निष्क्रान्त निकला हुआ बहिर्भूत हुआ भाव शोकाख्य जिस करुण में रहे वह वह करुण निपरपेक्ष भाव है। शापजनित क्लेश में गिरे हुए इष्टजन का जो विभवनाश अथवा बध या बन्धन है उससे जिसका समुत्थान है उद्गम है वह करुण है। शाप पद के ग्रहण करने का भाव है कि शाप का प्रतिकार नही है। इसके अप्रतिकार्य होने से उत्तम प्रकृति में भी शोक के उदय होने का यह स्थान है आधार है यह दिखा दिया है। अन्यथा अर्थात् यह शाप प्रतिकार्य होता तो ये विभवनाश बध एवं बन्ध स्थिर प्रकृति के लिए उत्साह के और अस्थिर प्रकृति के लिए क्रोध के विभाव होते। शोक के ही निराकरण करने के लिए कवि कुल चक्रवर्त्ती कालिदास ने पुरुरवा को उर्वशी के द्वारा शाप दिलवाया और विक्रमोर्वशी नाटक में उसका निबन्धन उपलक्षण के तरीके से किया। अर्थात् इन्द्र के सभा की अप्सरा उर्वशी का पुरुरवा से वियोग निश्चित ही था क्योंकि वह उर्वशी उसकी वस्तु ही नही थी। अतः शाप तो केवल वियोग का उपलक्षण था। इस प्रकार विप्रलम्भ एवं करुण के/विभाव और स्थायियों के भेद को दिखाया। और जो भी ये निर्वेदादि व्यभिचारी भाव करुण में हैं वे भी वस्तुतः रति से असंबद्ध होकर निरपेक्ष शोक से उत्पन्न होते हैं अतः विप्रलम्भ से अन्य ही हैं। इसलिए भी कहा कि करुण निरपेक्ष भाव है।

इस प्रकार प्रसंग से करुण के स्वरूप को कहकर उसकी प्रकृत में योजना करते हैं औत्सुक्य एवं चिन्ता इति। चिन्ताशब्द सभी प्रकार के निर्वेदादि का उपलक्षण है। औत्सुक्य जिनमें प्रधान है ऐसे जो चिन्ता आदि भाव हैं उनसे जिसका सम्यक् उत्थान है विजृंभण है।

अपि च

सुखप्रायेषु सम्पन्नः ऋतुमाल्यादिसेवकः ।
पुरुषः प्रमदायुक्तः श्रृङ्गार इति संज्ञितः ॥४६॥

अभिनवभारती

एतदुक्तं भवति । औत्सुक्यं विषयौन्मुख्यम् । तच्च नष्टे विषये न सम्भवति । एवं परीक्ष्य परीक्षाफलमुपसंहरति—एवमेष इति । श्रृङ्गार इत्येकवचनेनैक एव श्रृङ्गार इत्युपसंहृतम् ।

एवं सूत्रार्थे परीक्ष्य स्थापिते तदर्थस्य सुखग्रहणार्थं सूत्रार्थविवरणरूपत्वात्सूत्रसमीपेऽप्युपचितपाठात्कारिकामधुना पठति—अपि चेति । न केवलं सूत्रं परीक्षाऽपि यावदियं कारिकेति समुच्चयार्थः । एवं सर्वत्र मन्तव्यम् ।

तामेव कारिकां पठति सुखेति । पुरुष इति भोक्ता संवेदनात्मकोऽभिप्रेतः । भोक्तैव च स्थायिसंविद्रूपः । व्यभिचारिणस्तु भोग्यस्वभावाः । तेन रतिरेव पुरुषः । तथा चोक्तम्—'श्रद्धामयोऽयं पुरुष' इति । एवं प्रमदाऽपि । तत्र भोक्तृत्वे पुरुषस्य

बालक्रीड़ा

(मूल) और भी सुख बहुल साधनों से सम्पन्न, ऋतु विहार एवं भिन्न २ ऋतुओं के पुष्पों की मालाओं को धारण करने वाला पुरुष, प्रमदा से संयुक्त होने पर शृंगार इस संज्ञा वाला होता है ।४६।

अतएव वहां रत्याख्य भाव सापेक्ष है । और वे औत्सुक्य चिन्तादि, सापेक्ष रति भाव से उद्भूत होते हैं । एक बात और भी है जिसको बहुत दफे हम कह चुके हैं कि विप्रलम्भ में जो विभाव है एवं स्थायी है वह सम्भोग से भिन्न नही है । एक ही वह विभाव है और स्थायी है ।

इसका आशय यह है कि औत्सुक्य किसी विषय का होता है जो विषय के नष्ट होन पर नही हो सकता है । इस तरह परीक्षा करके अब परीक्षा के फल का उपसंहार करते हैं कि इस प्रकार यह । शृंगार इस एक वचन से यह उपसंहार किया कि उभयविध अवस्थाओं से सम्पन्न शृंगार एक ही है । इस तरह परीक्षा करके सूत्र के अर्थ की स्थापना की । अब उस अर्थ के सुखपूर्वक ग्रहण करने के लिए सूत्र के अर्थ की विवरण रूप होने से सूत्र के समीप में उसका पाठ करना उचित है अतः कारिका का पाठ अब करते हैं कि अपि च । यह कारिका केवल सूत्र के अर्थ का विस्तार ही नही करती है अपितु यह परीक्षा भी है । इस प्रकार की व्याख्या सभी जगहों में समझिएगा जहाँ २ ऐसी कारिका आयेगी ।

अब उसी कारिका को पढ़ते हैं "सुख" इति । पुरुष पद से यहाँ संवेदनात्मक भोक्ता इष्ट है । क्योंकि भोक्ता ही स्थायी संविद्रूप है । व्यभिचारी तो भोग्यस्वभाव हैं अतः रति ही पुरुष है । जैसा कि कहा है यह पुरुष श्रद्धामय है श्रद्धा स्वरूप है । इसी तरह प्रमदा भी रति रूप है । उन दोनों प्रमदा और पुरुष में पुरुष भोक्ता है प्रमदा भोग्य है ।

अभिनवभारती

प्राधान्यम्। प्रमदायास्तु भोग्यत्वम्। प्राधान्यादेव च तस्य भोग्येनापरतन्त्रीकरणमिति नायिकान्तरयोगेऽपि न शृङ्गारहा भोज्यस्य तु पारतन्त्र्यादेवान्यसंम्मीलने शृंगारभंग इति दर्शितम्। अत एव न स्थायिभेदः शंकनीयः। सुखप्रायेषु सम्पन्न इत्यादिपुरुषविशेषणत्वेन समुदितस्य विभावत्वं दर्शयति। विभावादयो निः। रसोदयं विनाऽऽस्वादैश्च भोक्तरीति निमग्नत्वे भोक्तृप्रधानत्वं च दर्शयन्ति। विषयसम्भारपूर्णताभिमानजैव रतिरुचिता।

एतदर्थमेव 'जंस अहं तादेण दिण्णेति' 'ईरिसव्स कण्णपूरदंसणव्से' इति च च। एतत्सर्वसम्पन्नत्वमेव नायिकायाः प्रदर्शितम्। अन्यथा नोत्तमत्वं स्यात्। निजजातिकुलानुरूपसम्पदभावे तु रतिः पुरुषार्थरूपत्वाभावादनुपदेश्या। अत एव तत्र सर्वस्य प्रतीतिवैरस्यस्यानन्तरसंभावनमिति श्लोकस्य तात्पर्यार्थः।

विषयसामग्रीसम्पूर्णो रस इति ये मन्यन्ते तेषामभ्रान्तिकारणमयं श्लोकः। स चेत्थं व्याख्यातो न भ्रान्तिजनकः। संज्ञित इत्यनेनान्वर्थतां पराकरोति। तथा हि—उणादिषु शृङ्गारशब्दो निपातित इति।

बालक्रीड़ा

अतः भोक्ता होने के कारण पुरुष प्रधान है। इस प्रधानता के ही बदौलत वह पुरुष भोग्य के परतन्त्र नहीं है। अतः दूसरी नायिका के साथ संयोग करने पर भी शृंगार की हानि नहीं होती है। भोग्य का तो परतन्त्र होने के कारण अन्य से मेल करने पर शृंगार भग्न हो जाता है। अतएव स्थायी के भेद की शंका नहीं करनी चाहिए। सुख बहुल पदार्थों से सम्पन्न इत्यादि पुरुष के विशेषण से यह दिखाया कि समुदित विभाव होता है। रस के उदय के विना और आस्वाद के विना विभावादि भोक्ता में हैं अर्थात् जब तक रस को उदय नहीं होता है और रस का आस्वाद नहीं होता है तब तब तक यह विभाव है यह उसका भोक्ता है ऐसी स्थिति है। किन्तु रस के उदय एवं आस्वाद के समय में तो वे उसमें निमग्न हो जाते हैं एकाकार हो जाते हैं इससे यह दिखाते हैं कि भोक्ता प्रधान है। क्योंकि विषय संवाद की पूर्णता के अभिमान से जन्य ही रति उचित है। इसीलिए रत्नावली नाटिका में सागरिक ने कहा कि ये ही वे उदयनराजा है जिनके लिए पिता जी ने मुझे दिया। इस तरह के कर्णपूर के दर्शन से हृदय आकृष्ट हो रहा है। इस वाक्य से नायिका की सर्वसम्पन्नता प्रदर्शित करी। अन्यथा सर्व सम्पन्नता के विना नायिका उत्तम नहीं कहलायेगी। अपनी २ जाति एवं कुल के अनुरूप सम्पत्ति के अभाव में रति पुरुषार्थ रूप नहीं होने से उपदेश्य ही नहीं होगी। अतएव उस अनुपदेश्य रति के बारे में सब की प्रतीति में वैरस्य की संभावना बाद में हो सकती है यह श्लोक का तात्पर्य भूत अर्थ है। जो तो मानते हैं कि विषय सामग्री से संपूर्ण रस होता है उनको निर्भ्रान्त कर देने वाला यह श्लोक है। इसकी व्याख्या इस प्रकार करेंगे तब यह भ्रान्ति का जनक नहीं होगा। शृंगार यह संज्ञा संभोग एवं विप्रलम्भ रस की हो गई है। इससे संज्ञा की अन्वर्थता का परा करण हो जाता है। क्योंकि संज्ञा शब्द प्रायः अन्वर्थ नहीं ही होते हैं। शायद कदाचित् कोई हो। यह शृंगार शब्द उणादि में निपातन से सिद्ध किया है।

अपि चात्र सूत्रार्थानुविद्धे आर्ये भवतः ।
ऋतुमाल्याङ्कारैः प्रियजनगान्धर्वकाव्यसेवाभिः ।
उपवनगमनविहारैः शृङ्गाररसः समुद्भवति ॥४७॥
नयनवदनप्रसादैः स्मितमधुरवचोधृतिप्रमोदैश्च ।
मधुरैश्चाङ्गविहारैस्तस्याभिनयः प्रयोक्तव्यः ॥४८॥

अभिनवभारती

न केवलं श्लोकवृत्तमिदं सूत्रार्थानुविद्धे यावदार्ये अपीत्यपि चेत्यस्य भिन्नक्रमस्यार्थः। प्रियो जनो विदूषकादिः। गान्धर्वशब्दो गीतादिहृद्यविषयोपलक्षणम्। काव्यसेवाशब्देन विषयसङ्कल्पं विभावत्वेन लक्षयति ॥४७॥

यस्त्वाह काव्यार्थीभूताद्रसात्काव्यार्थविदो भावान्तरं प्रादुर्भवति। अतः सुखजनकत्वात्काव्यार्थो रस इति। स प्रत्युक्तः। न हि विषयसामग्री रस इति पूर्वं दर्शितम्। धृतिप्रमोदशब्देन व्यभिचारिणो लक्षयति। एक एव च परमार्थतः शृङ्गार इत्यभिप्रायेणादाववस्थोपलक्षणद्वारेण सर्व एवोपसंहृतो मन्तव्यः ॥४८॥

इति शृङ्गाररसप्रकरणम् ॥

बालक्रीड़ा

(मूल) इस प्रसंग में सूत्र के अर्थ से अनुविद्ध आर्या भी हैं।

ऋतुओं के विहार और माल्य एवं अलंकारों के धारण, प्रिय जन का सम्पर्क तथा उसी सम्पर्क में गाना बजाना एवं नाचना करने से तथा काव्य दृश्य श्रव्य एवं पठ्य की सेवा माने प्रेक्षण, श्रवण एवं भावन करने से और उपवन में गमन तथा विहार से शृंगार रस पैदा होता है।४७।

(मूल) नयन विकाश, मुख प्रसाद, स्मित, मधुर वचन, धैर्य, आनन्द की सामग्रियों एवं मधुर अंगविहारों से उसका अभिनय करना चाहिए।४८।

इस विषय को स्पष्ट करने वाला केवल यह श्लोक ही नहीं है किन्तु सूत्र के अर्थ से अनुबिद्ध सम्बद्ध दो आर्या भी हैं यह अर्थ भिन्न स्थान वाले इस अपि च का है। यहाँ प्रिय जन विदूषक आदि हैं। गान्धर्व शब्द गीतादि हृद्य विषयों का उपलक्षण है। काव्य सेवा शब्द से विषय के संकल्प को विभाव रूप से लक्षित करते हैं ॥४७॥ जो तो कहते हैं कि काव्यार्थीभूत रससे काव्य के जानकारों के हृदय में दूसरे-दूसरे भावों का प्रादुर्भाव होता है। अतः सुख का जनक काव्यार्थ रस है। वह परास्त हो गया। विषय सामग्री रस नहीं है यह पहिले दिखाया जा चुका है। धृति एवं प्रमोद शब्द यहाँ व्यभिचारियों को लक्षित करते हैं। परमार्थतः शृंगार एक ही है इस अभिप्राय से आरम्भ में अवस्थाओं का बहाना करके सभी का उपसंहार कर दिया समझना चाहिए ॥४८॥

यह शृगार रस का प्रकरण समाप्त हुआ।

अथ हास्यो नाम हासस्थायिभावात्मकः । स च विकृतपरवेषालङ्कारधाष्टर्यलौल्यकुहकासत्प्रलापव्यङ्गदर्शन दोषोदाहरणा-

अभिनवभारती

अथ हास्यरसप्रकरणम् ॥

अथ हास्यं लक्षयितुमाह—अथेति । आत्मशब्देनेदमाह—रतिरास्वादनाख्यां प्रतीतिं विदधाना न तां रतिरूपामेव विधत्ते । प्रमुखे विभावादावसाधारण्यात् । हासे तु य आस्वादः सोऽपि विकृतवेषादीनां सामाजिकान्प्रति लोकवृत्तेन हासहेतुतेति विभावसाधारण्यद्वारेण तदेकस्वभाव एवेति हासात्मकरसनाख्यचर्वणीयत्वाच्चास्य । रतिशोकावेव परमतज्जातीयसंविदास्वादौ धारारूढसुखदुःखरूपत्वेन निस्साधारणात्मीयत्वनियमग्रहगृहीतहेतुबलादेवोत्पद्येते यतः अतोऽनयोर्मुनिना प्रभवग्रहणं कृतम् । अन्येषु तु विभावे साधारण्यसम्भावनात्तदात्मकग्रहणम् । नयविनयादेरन्यायकारिणः समानं कालादेरपूर्ववस्तुनश्च सर्वान्प्रत्युत्साहक्रोधभयजुगुप्साविस्मयहेतुत्वेन साधारण्यविभावत्वादित्यलं बहुना ।

बालक्रीड़ा

(मूल) अब हास नामक स्थायीभाव स्वरूप वाले हास्य रस का निरूपण करते हैं । वह हास्य रस दूसरे के विकृत वेष एवं अलंकार तथा धाष्ट्यं निर्लज्जता, लौल्य लालच, कुहक बालकों को आश्चर्य में डालने के लिए उनके कक्ष एवं गर्दन आदि को छूने, असत् प्रलाप, विकल

अब हास्य रस का प्रकरण शुरू होता है । अब हास्य रस के लक्षण का निर्माण करने के लिए कहते हैं—"अथं" इति । हासस्थायिभावात्मकपद में उपात्त आत्म शब्द ने यह कहा कि आस्वादनाख्य प्रतीति को करने वाली रति रतिस्वरूपप्रतीति का विधान नही करती हैं । क्योंकि रति की आस्वादनाख्यप्रतीति में प्रमुख विभावादि असाधारण रहते हैं । हास में तो जो आस्वाद है वह भी लोक काव्य एवं नाटच में एक स्वभाव वाला ही है क्योंकि लोक में वृत्त सिद्ध विकृत वेषभूषा आचारादि ही काव्य एवं नाटच के अनुभावक एवं दर्शक सामाजिकों के प्रति हास के हेतु हैं । अतः लोक काव्य एवं नाटच गत विभावों में साधारण्य है समानता है । इसके सिवाय यह रस हासात्मक रसना नामक चर्वणा से चर्वणीय होने से भी लोक काव्य एवं नाटच में समान स्वभाव ही है । परन्तु धारा में आरूढ़ पार्यन्तिक बोध में प्राप्त सुख एवं दुःख रूप होने से विजातीय संविदास्वाद स्वभाव वाले रति एवं शोक ही असाधारण आत्मीयता के नियम ग्रह से ग्रहण किये गये हेतुओं के बल से उत्पन्न होते हैं अतः मुनियों ने श्रृंगार और करुण रस के लक्षणों में प्रभवपद का उपादान किया और बाकी हास्य आदि सात रसों के विभावों में साधारण्य की संभावना है अतः स्थायिभावात्मक पद का उपादान किया है । नय एवं विनय या अनय एवं अविनय रूप आचरण देश एवं कालरूप अधिकरण पाप एवं पुण्य रूप अपूर्व वस्तु पदार्थ अन्यायकारी के समान सबके लिए उत्साह, क्रोध, भय जुगुप्सा एवं विस्मय के हेतु होने से विभावों में साधारण्य होता है । इसलिए बहुत कहने से बस किया जाय ।

दिभिर्विभावैरुत्पद्यते। तस्योष्ठनासाकपोलस्पन्दनदृष्टिव्याकोशाकुञ्चनस्वेदास्यरागपार्श्वग्रहणादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः। व्यभिचारिणश्चास्यावहित्थालस्यतन्द्रानिद्रास्वप्नप्रबोधासूयादयः। द्विविधश्चायमात्मस्थः परस्थश्च। यदा स्वयं हसति तदाऽऽत्मस्थः। यदा तु परं हासयति तदा परस्थः। अत्रानुवंश्ये आर्ये भवतः।

अभिनवभारती

तत्र वेषः केशादिरचना। अलङ्कारः कटकादिः। स चोभयोऽपि विकृतो देशकालप्रकृतिवयोऽवस्थाविपरीतो हास्यस्य विभावः। एतेन सर्वे रसा हास्येऽन्तर्भूता इति दर्शितम्। अथ विदूषकोऽपि तद्वेषं विदधद्धास्याभासं प्रथयतीत्येतच्च प्रागेवोक्तम्। परस्य सम्बन्धी परः। एवंभूतो देवदत्तस्य वेषोऽयमलङ्कारो वा इत्युद्घट्टक (ना. शा. ४-१८७) भाण्डनृत्तादौ दृश्यमानौ। हासं करोति। वेषालङ्कारौ गतागतिकादेरप्युपलक्षणम्। धाष्ट्र्यं निर्लज्जता। लौल्यं विषयेष्वनियतता। कुहकं कक्षग्रीवादिस्पर्शनं विस्मापनविधिप्रसिद्धं बालानाम्। अङ्गविगमो विखुनादि व्यङ्गम्। एषां दर्शनमिति समासः। दोषा अतत्प्रकृतेरपि भयादयः अकार्यकरणादयश्च विकृतवेषादय एव वा तेषामुदाहरणं वर्णनम्। आदिग्रहणात्सङ्कल्पस्मृत्यादि।

बालक्रीड़ा

(मूल) अंगों को दिखाने एवं दोषों के उदाहरण देने आदि विभावों से उत्पन्न होता है। उस हास्य का ओष्ठ नासिका के हिलाने सिकोड़ने एवं कपोल के बजाने, आखों के खोलने एवं मीचने, पसीने को दिखाने, मुँह के रंग को बदलने, अगल बगल के दबाने आदि अनुभावों से अभिनय करना चाहिए। इस हास्य के व्यभिचारी भाव अवहित्था आकारगोपन आलस्य, तन्द्रा, स्वप्न, प्रबोध एवं असूया आदि हैं। यह हास्य रस दो प्रकार का है। एक आत्मस्थ अपने में रहने वाला। दूसरा परस्थ अन्य में रहने वाला। जब वह व्यक्ति विकृत वेषालंकार आदि से स्वयं हंसता है तब आत्मस्थ है। किन्तु जब वह दूसरे को हँसाता है तब वह परस्थ है।

उस हास्य मे वेश केशादि की रचना है। अलंकार कटक आदि हैं। ये दोनों ही विकृत अर्थात् देश काल प्रकृति (स्वभाव) वय (उमर) अवस्था के विपरीत हुए हास्य के विभाव हैं। इससे यह दिखाया कि सभी रस हास्य के अन्तर्भूत हैं। विदूषक भी विकृत वेष को धारण करके हास्याभास को प्रसिद्ध करता है यह बात पहिले ही कही जाचुकी है। पर स्वयं पर होता ही पर का सम्बन्धी भी पर होता है। एसा यह देवदत्त का वेष है अथवा अलंकार है यह उद्‌घट्टक अंगहार एवं भाण्डों के नृत्त में दिखाये जाने चाहिए। मजाक करता है। वेष एवं अलंकार गतागति चाल चलन आदि के भी उपलक्षण हैं धाष्टर्य निर्लज्जता है। लौल्य विषयों में नियत नहीं होना है। कुहक बालकों को आश्चर्यान्वित कर देने वाली क्रिया में प्रसिद्ध कक्ष एवं ग्रीवा आदि का स्पर्श करना है। व्यंग्य माने

विपरीतालङ्कारैर्विकृताचाराभिधानवेषैश्च ।
विकृतैरर्थविशेषैर्हसतीति रसः स्मृतो हास्यः ॥४९॥
विकृताचारैर्वाक्यैरङ्गविकारैश्च विकृतवेषैश्च ।
हासयति जनं यस्मात्तस्माज्ज्ञेयो रसो हास्यः ॥५०॥

अभिनवभारती

ओष्ठादेः स्पन्दनशब्देन संबन्धः । व्याकोशनं विकासो निमीलनं च । आकुञ्चनं त्वीषत् । एतद्दृष्ट्या योज्यम् । आस्यरागो मुखरागः । पार्श्वयोर्ग्रहणं पीडनम् । तन्द्राशब्देन मोहः । एते च विभावा अनुभावा व्यभिचारिणश्च प्रकृतित्रय-भेदेन ये स्मितादिभेदा वक्ष्यन्ते तेषु यथायोगं योजनीयाः ।

द्विविधश्चायमिति । आत्मस्थैर्विभावैर्विकृतवेषादिभिर्विदूषकः स्वयं हसति स तस्यात्मस्थः । देवीं च हासयतीति तस्यः परस्थः । तदिदमसत् । एवं हि विभावाना-मात्मस्थत्वविभागः स्यात् । न हासस्य । किञ्च स्वामिनः शोकोऽनुजीविषु शोकं करोतीति परस्थता सर्वत्र स्यात् । स्वयंभूर्हि परत्र देव्यादौ व्यक्तः परस्थ इति चेद्गम्भी-रस्य प्रभोरनुजीविगतोऽनुभावव्यक्तक्रोधोऽपि परस्थो भवेत् । तद्विभाव आत्मस्थोऽतो (न्य)विभावकस्त्वन्यस्थ इत्यप्यसत् । परहासोपि तद्धासे विभावः स्यात् । एतच्च

बालक्रीड़ा

इस विषय में गुरुशिष्य परम्परा में प्रसिद्ध दो अर्थाएँ हैं—

(मूल) उलटे पुलटे अलंकारों के पहिरने, विकृत आचरण, अभिधान नाम या कथन एवं वेष तथा विकृत अर्थ विशेषों से जो हंसता है वह हास्य रस है ॥४९॥

(मूल) विकृत आचरण, वाक्य, अंगों की विकलता एवं वेष से जब कि दूसरों को हँसाता है इसलिए इसको हास्य रस जानना चाहिए ॥५०॥

अंग बिगम अंग हीनता जैसे विखुन आदि । इन सब का दर्शन इस तरह मूल पाठ में षष्ठी तत्पुरुष समास है । दोष के माने है अपनी प्रकृति के विरुद्ध भय को दिखाना भीत आदि आदि अकार्य को करना आदि । विकृत वेष भूषा का धारण करना । उनका उदाहरण यानी वर्णन । आदि के उपादान से संकल्प एवं स्मृति को समझना चाहिए ।

ओष्ठ आदि का स्पन्दन शब्द से सम्बन्ध है । व्याकोशन का अर्थ है विकाश एवं निमीलन । आकुञ्चन का तो अर्थ ईषत् निमीलन है । इन तीनों अर्थों का दृष्टि के साथ सम्बन्ध है । आस्यराग माने मुखराग है मुख में पाउडर लगाना है । अगल बगल का पकड़ना माने उनका पीडन करना है । तन्द्रा शब्द से मोह को समझना । इन विभाव अनुभाव एवं व्यभिचारियों की योजना उत्तम मध्यम एवं अधम रूप तीन प्रकृतियों के भेद से जो स्मित हसित आदि भेद बतलाये जायेंगे उनमें युक्ति के अनुसार करनी चाहिए ।

यह हास्य दो प्रकार का है । अपने में रहने वाले विकृत वेष भूषादि विभावों से विदूषक स्वयं हँसता है वह उसका आत्मस्थ हास है । देवी को हँसाता है वह देवी का हास

स्त्रीनीचप्रकृतावेष भूयिष्ठं दृश्यते रसः ।
षड्भेदाश्चास्य विज्ञेयास्तांश्च वक्ष्याम्यहं पुनः ॥५१॥
स्मितमथ हसितं विहसितमुपहसितं चापहसितमतिसितम् ।
द्वौ द्वौ भेदौ स्यातामुत्तममध्याधमप्रकृतौ ॥५२॥

अभिनवभारती

रत्यादिषु सर्वेष्वप्यस्ति । तस्मादयमत्रार्थः—परं हसन्तं दृष्ट्वा स्वयं विभावानपश्यन्नपि हसन् लोके दृष्टः । तथा विभावादिदर्शनेऽपि गाम्भीर्यादनुदितहासोऽपि । परकीयहासावलोकेन तत्क्षणं हासविशेषः सम्पद्यत एवेति स्वभावः । यथाऽम्लदाडिमादिरसास्वादः सङ्क्रमणस्वभावोऽन्यत्रापि दन्तोदकविकारानुरूपसङ्क्रमदर्शनादेव सङ्क्रामति एवं हासः स्वभावतः सङ्क्रमणशील इति भूयिष्ठता काष्ठा ॥४९।५०।५१॥

बालक्रीड़ा

(मूल) यह रस स्त्री एवं अधम प्रकृतिक मनुष्यों में अधिकतर दिखाई पड़ता है । इसके छ भेदों को जानना चाहिए । जिनको मैं आप लोगों से कहूँगा ॥५१॥

(मूल) स्मित, हसित, विहसित, उपहसित, अपहसित एवं अतिहसित ये छ भेद हैं । जिनमें दो दो भेद उत्तम मध्यम एवं अधम प्रकृतियाँ में होते हैं ॥५२॥

उसकी अपेक्षा पर में रहने वाला हास है । यह सब असत् असमीचीत है । क्योंकि यह तो विभावों की आत्मस्थिति एवं परस्थिति का विभाग हुआ हासका विभाग नहीं हुआ । एक बात और भी है कि स्वामी का शोक अनुजीवियों को शोकाकुल करता है । इस तरह शोक सर्वदा परस्थ ही होगा । स्वयंभू स्वयं उत्पन्न होने वाला हास पर देवी आदि में व्यक्त होता है अतः परस्थ हैं यदि ऐसी बात है तो गंभीर प्रभु का अनुजीवियों पर अनुभावों से व्यक्त हुआ क्रोध भी सदा परस्थ ही होगा । इसलिए वही विभाव जब बन जायगा तब वह हास आत्मस्थ कहलायेगा । जब इससे अन्य विभाव हो जायगा तब वह परस्थ वह कहलायेगा यह भी असत् है । ऐसी स्थिति में दूसरे का हास भी उसके हास में विभाव हो जायगा । यह स्थिति तो रत्यादि सभी स्थायीभावों में है । इसलिए यहाँ पर यह अर्थ है कि दूसरे को हँसते हुए देखकर हास्य रस के विभावों को नहीं देखता हुआ भी स्वयं हँसता है ऐसा लोक में देखा गया है । इसके सिवाय विभावादि को स्वयं देखकर भी गंभीरता के कारण उत्तम व्यक्ति नहीं भी हँसता है । परकीय हास के अवलोकन से उस क्षण में हासविशेष पैदा हो ही जाता है यह स्वभाव है । जैसे अम्ल नीबू के रस या दाडिम के रस का आस्वाद दूसरे में संक्रान्त हो जाने वाला है अतः संक्रमण स्वभाव वह मुख में पानी के भर जाने रूप संक्रमण को देखकर दूसरे में भी अनुरूप विकारों से संक्रान्त हो जाता है इसप्रकार हास भी स्वभावतः संक्रमण शील है । यह भूयिष्ठता है काष्ठा सीमा । या काष्ठा का उत्कर्ष का बाहुल्य है । सा काष्ठा सा परा गतिः इत्यादि स्थलों में काष्ठा का अर्थ सीमा या उत्कर्ष है ॥४९।५०।५१॥ नाना भेद इसके हैं इसको कहते कि छ भेद हैं । क्रमशः दो-दो भेद होते हैं इसका कारण है विभावों का तारतम्य न्यूनाधिक भाव । ऐसा जो

तत्र स्मितहसिते ज्येष्ठानां मध्यानां विहसितोपहसिते च ।
अधमानामपहसितं ह्यतिहसितं चापि विज्ञेयम् ॥५३॥

अत्र श्लोकाः—

ईषद्विकसितैर्गण्डैः कटाक्षैः सौष्ठवान्वितैः ।
अलक्षितद्विजं धीरमुत्तमानां स्मितं भवेत् ॥५४॥

अभिनवभारती

नानाभेदा इत्याह—षड्भेदाश्चेति । द्वौ द्वाविति । यथाक्रमं विभावतारतम्यमित्यादीति केचित् । तत्त्वसत् । भेदान्तराणामपि प्रसङ्गात् । तस्मात्सङ्क्रमणाभिप्रायेणैतत् । स्मितं हि यदुत्तमप्रकृतौ तत्सङ्क्रान्तं हसितं सम्पद्यते । अत एव त्र्यवस्थो हास इति वक्ष्यते । षडवस्थो ह्यन्यथा स्यात् ॥५२॥

स्मितमीषत्तायाम् । हसितं, ततो विशेषेण हसितं विहसितं । ततोऽपि परस्य समीपगतमन्यत् । अपहसितमतिशयेन चेत्युपसर्गभेदादर्थभेदः ॥५३॥

सौष्ठवमनुल्बणता । द्विजा दन्ताः । धीरमिति मन्थरं कृत्वा ईषत्त्वनिर्वाहः ।५४। विकसितैरथेति । स्मितानन्तरं संक्रमणकाल इत्यर्थः । तदिति । स्मितमेव संक्रान्तं सदेवंरूपतामेतीत्यर्थः ॥५५॥

बालक्रीड़ा

(मूल) स्मित और हसित ये भेद उत्तम पुरुषों में, विहसित एवं उपहसित मध्यम प्रकृतियों में अपहसित और अनिहसित अधम प्रकृतियों में होते हैं ॥५३॥

(मूल) इस विषय में श्लोक है – जिसमें कपोल ईषत् विकसित हों, आकर्षण को करने वाले कटाक्ष हों और दांत दिखाई नहीं पड़ते हो वह धीर स्मित हास्य उत्तमों का होता है ।५४। कोई कहते हैं वह असत् है । इस तरह मानने पर तो और भेदों का भी प्रसंग हो जायगा । इसलिए उत्तम मध्यम एवं अधम प्रकृतियों में कमशः दो-दो भेदों का होना संक्रमण के अभिप्राय से समझना चाहिए । जैसे उत्तम पुरुष में जो स्मित है वह संक्रान्त हुआ हसित हो जाता है । इसीलिए हास की तीन अवस्थाएँ कही जायँगी अन्यथा उत्तमादि प्रकृतियों की व्यवस्था को नहीं मानेंगे तो हास की अनेक अवस्था माननी पड़ेगी। हास का ईषद्भाव स्मित है । उसका विशेषरूप हसित है । उसकी अपेक्षा विशेष रूप हसित विहसित है । उससे भी विशेष परके समीप में गया हुआ हास उपहसित अलग है । अतिशय तरीके से जो हास है वह अपहसित है । इस तरह उपसर्गों के भेद से अर्थ का भेद है ॥५३॥

सौष्ठव अनुल्वणता अर्थात् तड़क-भड़क नहीं होना । द्विज दाँत है । धीर माने मन्थर शिथिल करके ईषत्त्व का निर्वाह ।५४। विकसितैरथ में अथ शब्द का अर्थ है स्मित के अनन्तर संक्रमण काल में । 'तत्' इति । वह स्मित ही संक्रान्त हुआ इस रूप को प्राप्त करता है ।५५। जिह्म माने वक्र नाम से आगे अष्टम अध्याय में कही जाने वाली दृष्टि से निरीक्षण जिस काल में उचित हो । इस कथन से प्राप्त हुआ कि संस्थान आदि में यह हास उचित है ॥५६।५७॥

उत्फुल्लाननेत्रं तु गण्डैर्विकसितैरथ ।
किञ्चिल्लक्षितदन्तं च हसितं तद्विधीयते ॥५५॥

अथ मध्यमानाम् :—

आकुञ्चिताक्षिगण्डं यत्सस्वनं मधुरं तथा ।
कालागतं सास्यरागं तद्वै विहसितं भवेत् ॥५६॥
उत्फुल्लनासिकं यत्तु जिह्मदृष्टिनिरीक्षितम् ।
निकुञ्चिताङ्गकशिरस्तच्चोपहसितं भवेत् ॥५७॥

अथाधमानाम् :—

अस्थानहसितं यत्तु साश्रुनेत्रं तथैव च ।
उत्कम्पितांसकशिरस्तच्चापहसितं भवेत् ॥५८॥

अभिनवभारती

काल उचितं तेन संस्थानादौ । जिह्माख्याया भाविन्या दृष्ट्या निरीक्षणं यत्र ॥५६।५७॥

अस्थान इत्यकाले शोकाद्यवसरे ॥५८॥ विकृष्टं श्रवणकटु ॥५९॥ नाटक इति । नाटकशब्दो रूपकमात्रवृत्तिः ।६०। स्वसमुत्थ इत्यसंक्रान्तस्मितविहसितापहसितलक्षणः। परसमुत्थः संक्रान्तोपहसितातिहसितरूपः । हसितादिरूपसंक्रमणमेवोत्कृष्टप्रकृतौ स्मितादिरूपम् । रतिक्रोधशोकादेस्तु न संक्रमणं भवतीत्युक्तमेव । तत्र हि युगपदेव

बालक्रीड़ा

(मूल) जिसमें आनन और नेत्र खिले हुए हों कपोल विकसित हों और दाँत दिखाई पड़ते हों वह हसित कहलाता है ॥५५॥

(मूल) जिसमें आँखे और कपोल आकुंचित हों वक्र हों, थोड़ा २ शब्द हो, मुख लाल हो, और जो सभा सोसाइटी में उचित समय पर किया गया हो वह मधुर हास्य विहसित मध्यमों का होता है ॥५६॥

(मूल) जिसमें नासिकायें फूल जाती हो, जिह्म दृष्टि से निरीक्षण किया जाता हो और अंग एवं शिर निकुञ्चित हो जाते हों झुक जाते हों वह हास्य उपहसित कहलाता है ॥५७॥

(मूल) जिसमें बेमोके हँसा जाय आखें आसुओं से भर जाय और कन्धे एवं शिर उत्कम्पित हो जाँय वह अपहसित अधमों का कहलाता है ॥५८॥

अस्थान माने बेटाइम शोकादि के अवसर पर हँसना ।५८। विकृष्ट माने श्रवणकटु ॥५९॥ "नाटके" यह नाटकशब्द रूपक मात्र में वृत्ति है ।६०। स्वसमुत्थ अपने आप उठने वाला अर्थात् संक्रान्त नहीं होने वाले स्मित विहसित एवं अपहसित रूप हास है । परसमुत्थ दूसरे को देखकर उठने वाले संक्रमण शील हसित उपहसित एवं अतिहसित रूप हास हैं । हासितादिरूप में संक्रमण ही उत्तम प्रकृति में स्मितरूप हास है । रति क्रोध एवं शोक आदि का संक्रमण

संरब्धं साश्रुनेत्रं च विकृष्टस्वरमुद्धतम् ।
करोपगूढपार्श्वं च तच्चातिहसितं भवेत् ॥५९॥
हास्यस्थानानि यानि स्युः कार्योत्पन्नानि नाटके ।
उत्तमाधममध्यानामेव तानि प्रयोजयेत् ॥६०॥
इत्येष स्वसमुत्थस्तथा परसमुत्थश्च विज्ञेयः ।
द्विविधस्त्रिप्रकृतिगतस्त्र्यवस्थभावो रसो हास्यः ॥६१॥

अभिनवभारती

स एव विभावस्तच्चित्तवृत्तिमान्वा पुरुषो विभावतामेति । न तु त एव विभावास्तस्य चित्तवृत्तिं प्रस्तूय संक्रमयन्त्यन्यप्रस्तुवतः हासमिव सर्वेषामात्मस्थपरस्थभेदोपलक्षणमेतदित्यन्ये। एतच्चासत्। अनुभवसिद्धमेव हीदं हासः संक्रामतीति।

अन्यस्त्वाह—तिसृषु प्रकृतिषु त्र्यवस्थो विभावतारतम्यात् द्विरूपः । पुनरात्मपरस्थत्वेन द्विधेति द्वादशभेदोऽयमिति कारिकातात्पर्यमिति । अत्र च पृथग्विभावनमपि भवति । तत्त्वतिप्रसङ्गावहं तन्मतमिति नोदाहृतम् ॥६१॥

इति हास्यरसप्रकरणम् ॥

बालक्रीड़ा

(मूल) जो संरंभ आरोप से युक्त हो जिसमें नेत्र अश्रुओं से संयुक्त हो विकर्षण के साथ स्वर का उद्‌गम हो, करों से पार्श्व का उपगूहन किया जाय वह अतिहसित होता है ॥५९॥

(मूल) किसी मतलब से उत्पन्न किये गये जो उत्तम मध्यम एवं अधमों के लिए हास्य के अवसर हैं उनको इस प्रकार ऊपर बतलाये हुए तरीकों से नाटक में प्रयुक्त करे ॥६०॥

(मूल) इस स्वसमुत्थ एवं परसमुत्थ हास्य रस को दो प्रकारों, तीन प्रकृतियों में रहने से तीन अवस्थाओं वाला समझना चाहिए ॥६१॥

नहीं होता है यह पहिले ही कह दिया है । उनमें वही विभाव एक साथ रहता है अथवा उस चित्तवृत्ति वाला पुरुष ही विभाव बन जाता है । न कि वे ही विभाव उसकी चित्तवृत्ति को प्रस्तुत करके दूसरे में संक्रान्त कर देते हैं । जैसे विकृत वेषादि को प्रस्तुत करने वाले पुरुष का हास अन्य में संक्रान्त हो जाता ह । आत्मस्थ एवं परस्थ रूप हास के ये भेद सभी रसों के विषय में उपलक्षण है । ऐसा अन्य कहते हैं । किन्तु यह असत् है । क्योंकि अनुभवसिद्ध यही है कि हास ही संक्रान्त होता है । अन्य लोग तो कहते हैं कि तीन प्रकृतियों में तीन अवस्था वाला यह हास विभाव की न्यूनाधिकता से दो रूप वाला है । फिर यह हास आत्मा अपने में रहने और दूसरे में रहने के कारण दो प्रकार का हुआ बारह प्रकार का है। ऐसा कारिका का तात्पर्य है । इसमें विभावन व्यापार भी अलग-अलग होता है । इसका उदाहरण हमने नहीं लिखा क्योंकि ग्रन्थ का बहुत विस्तार करने वाला अतिप्रसंगावह यह विषय है । इस प्रकार हास्यरस का प्रकरण समाप्त हुआ ॥६१॥

अथ करुणो नाम शोकस्थायिभावप्रभवः। स च शापक्लेश-

अभिनवभारती

अथ करुणरसप्रकरणम् ॥

इदानीमवसरायातं करुणं लक्षयति—अथ करुणो नामेति। अथेति क्रमे। तत्र चायं क्रमः—सम्भोगेन हास्योऽङ्गत्वेनापेक्षितः। विप्रलम्भेन च समानव्यभिचारिकत्वात्करुण इति टीकाकारः।

एतच्च पूर्वापरविरुद्धम्। अस्माभिस्तूद्देशविभाग एव क्रमो दर्शितः। तस्याभिनयः प्रयोज्यो यस्यास्वाद्यमानस्य करुण इति व्यपदेशः। सदयहृदयता हि करुणा लोके प्रसिद्धा। सा च लिङ्गैरनुकर्तरि शोकं प्रतियतां सामाजिकानामिति करुणव्यपदेश इति श्रीशङ्कुकः।

एतच्च पूर्वापरविस्मरणविजृम्भितमस्य। यतः शोकप्रतिकृतिस्ततः करुणा। दया च नाम परित्राणेच्छा। सा कथं शोकानुकरणम्। किं प्रति च तेषां दयेति न विद्मः।

तस्मात् करुण इति शोकस्य सर्वसाधारणत्वेन प्राग्युक्त्या आस्वाद्यमानस्य संज्ञा। तदर्थमेव नामशब्दः। तत्प्रभवत्वं शृङ्गारवद् व्याख्येयम्। अशक्यप्रतीकारहेतूपलक्षणं शापग्रहणम्। शापक्लेशे पतितस्येष्टजनस्य ये विप्रयोगादयः। तत्र

बालक्रीड़ा

(मूल) अब शोक रूप स्थायी से पैदा होने वाले करुण रस के लक्षण का निरूपण करते हैं। वह करुण शापजनित क्लेश में गिरे हुए प्रियजन के विप्रयोग, विभवनाश, वध

अब करुण रस का प्रकरण शुरू होता है। अब अवसर प्राप्त करुण का लक्षण कहते हैं। अथ करुणो नाम यह मूल की प्रतीक है। यहाँ अथ इसका अर्थ है क्रम। वह क्रम यह है कि हास्य रस संभोग शृंगार के लिए अपेक्षित है और करुण रस समान व्यभिचारी होने के कारण विप्रलम्भ के लिए अपेक्षित है ऐसा एक टीकाकार का मत है। किन्तु यह कथन पूर्वापर विरुद्ध है। हमने तो उद्देश के अनुसार विभाग करने के समय में ही क्रम दिखा दिया था। उसका अभिनय कर्त्तव्य है जिसका आस्वादन किये जाने पर करुण यह व्यपदेश होता है। सदय यानी दयावान के हृदय में करुणा होती है यह लोक में प्रसिद्ध है और वह दया लिंगो के द्वारा अनुकर्त्ता में शोक को समझने वाले सामाजिकों को होती है अतः दया का ही करुण यह व्यपदेश होता है। ऐसा श्रीशंकुक कहते हैं।

यह सब पूर्वापर के संदर्भ को भूल जाने का विजृम्भण है। क्योंकि शोक के प्रति जो उसकी कृति है। अर्थात् शोक के विषय में जो उसकी क्रिया है वह करुणा है। और परित्राण करने की इच्छा का नाम दया है। अतः वह कैसे शोक का अनुकरण हो सकती है। किसके प्रति उनकी दया है इसको हम समझ नही पाते हैं। इसलिए पूर्व युक्ति के अनुसार आस्वाद्यमान शोक की सर्वसाधारण रूप में करुण यह संज्ञा है इसी के वास्ते "करुणोनाम" इसमें नाम शब्द का उपन्यास किया है। शोकस्थायी से करुण की उत्पत्ति प्रभवत्व

विनिपतितेष्टजनविप्रयोगविभवनाशवबन्धविद्रवोपघातव्यसन - संयोगादिभिर्विभावैः समुपजायते। तस्याश्रुपातपरिदेवनतालु- मुखशोषणवैवर्ण्याश्रुस्रस्तगात्रतानिःश्वासस्मृतिलोपस्तम्भवेप - थुस्वरभेदादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः। व्यभिचारिण-

अभिनवभारती

विप्रयोगोऽसङ्गमः। विभवनाशादि प्रसिद्धम्। विद्रवो देशादुच्चाटनम्। तच्च विप्रयोगेऽपीति विवेकः। उपघातोऽग्न्यादिमरणम्। अग्न्यादिकृतो विद्रवः चोरादिकृत उपघात इति त्वसत्। विभवनाशेन गतत्वात्। व्यसनेन मृगयाद्यादिनाऽनर्थजनकेन संयोगः। विभवनाशादयोऽपि स्वात्मगता नोत्तमप्रकृतेः शोकं कुर्युः। मध्यमाधमप्रकृतीनां तु कुर्युरेवेत्यादिग्रहणम्। परिदेवनमात्मनो दैवस्यान्यस्य चोपालम्भः। निश्वासशब्देन तदनन्तरभावी उच्छ्वासोऽप्यूर्ध्वश्वसनरूपो लक्ष्यते। स्मृतिलोपेन प्रलयो लक्ष्यते। वैवर्ण्याश्रुस्वरभेदा अत्र बहिरुद्भिन्नस्वभावाश्चित्तवृत्त्यात्मानो गृह्यन्ते। तथा हि वक्तारो भवन्ति 'अश्रुणा पूर्णोऽस्य कण्ठो न च

बालक्रीड़ा

(मूल) एवं बन्व तथा लोक विद्रव भगदड, उपघात चोट लगने एवं दुर्व्यसनों में फँसने आदि विभावों से उत्पन्न होता है। उस करुण का अभिनय अश्रुपात, रोदन, तालुओं के सूखने, मुख के वैवर्ण्य, गात्र की स्रस्तता शिथिलता, नि.श्वास, स्मृतिलोप प्रलय, स्तब्धता वेपथु एवं स्वर भेद आदि अनुभावों से अभिनय करना चाहिए।,

का व्याख्यान शृंगार के सदृश करना चाहिए। जैसे रति ही आस्वाद्यमान हुई शृंगार है वैसे ही शोक ही आस्वाद्यमान हुआ करुण है। "स च शापक्लेश" इस मूल में शाप पद का उपादान उस हेतु का उपलक्षण है जिसका प्रतीकार किया नहीं जा सकता है। शाप से जनित क्लेश में पतित इष्ट जन के जो विप्रयोगादि है।" विप्रयोग का अर्थ है संगम नहीं हो सकना। विभवनाश आदि प्रसिद्ध हैं। विद्रव माने देशसे उच्चाटन अपने स्थान से उखड कर भागना। वह विप्रयोग में भी होता है यह विलक्षणता है। उपघात का अर्थ है अग्नि एवं जल —आदि से मरण अग्नि एवं जल आदि से विद्रव होता है चोर आदि से उपघात होता है यह तो ठीक नहीं है। क्योंकि यह अंश विभवनाश से गतार्थ है। व्यसन का अर्थ है अनर्थ के जनक मृगया शिकार खेलना अक्ष जुआ खेलना आदि। उससे संयोग अर्थात् उन में आसक्त होना। विभवनाश वगैरह उत्तम प्रकृति वाले व्यक्ति में अपने में होने पर उसको शोकाकुल नहीं करते हैं। मध्यम एवं अधम प्रकृति वालों को तो वे शोकाकुल करते ही हैं। परिदेवन का अर्थ है अपने आपको दैव को या अन्य किसी को उपालम्भ देना। निःश्वास शब्द से निःश्वास के बाद होने वाला ऊर्ध्व श्वसनरूप उच्छ्वास भी लक्षित होता है। स्मृति के लोप से प्रलय लक्षित होता है। वैवर्ण्य अश्रु एवं स्वर भेदो को यहाँ पर अन्तःकरण से बाहर शरीरपर उद्भिन्न प्रकट होनेवाली चित्तवृत्तियों को समझना चाहिए। ऐसे भी वक्ता होते हैं कि आँसुओं से गला भर गया आवाज गद्गद हो गई है किन्तु आखों में आसुओं

श्चास्य निर्वेदग्लानिचिन्तौत्सुक्यावेगभ्रममोहश्रमभयविषाददैन्यव्याधिजडतोन्मादापस्मारत्रासालस्यमरणदयः।

अत्रार्ये भवत :—

इष्टवधदर्शनाद्वा विप्रियवचनस्य संश्रवाद्वापि।
एभिर्भावविशेषैः करुणरसो नाम संभवति ॥६२॥
सस्वनरुदितैर्मोहागमैश्च परिदेवितैर्विलपितैश्च।
अभिनेयः करुणरसो देहायासाभिघातैश्च ॥६३॥

अभिनवभारती

नयनजलं दृष्टम्' इति। एते ह्यश्रुप्रभृतयो व्यभिचारित्वाभिनेयत्वोपजीवनायैव मध्ये निर्दिष्टा इत्यवोचाम वक्ष्यामश्च। तेन न पौनरुक्त्यम्। एवमन्यत्रापि। व्याधेरुन्मादापस्मारौ भेदेन वक्ष्यामः।

वधशब्दो बन्धादेरप्युपलक्षणम्। विप्रियमिष्टजनवधादि येन वाक्येनोच्यते तस्य श्रवणात्। तेन चेष्टजनस्य विभवनाशादि दृश्यमानं श्रूयमाणं वा कविभिः करुणविभावत्वेनोपनिबन्धनीयमिति तात्पर्यम्। एभिरित्येवंप्रकारैः। भावशब्दोऽत्रार्यायां विभाववाची ॥६२॥

अनुभावांस्तद्द्वारेण च व्यभिचारिणोऽप्युपलक्षयितुमार्यान्तरं सस्वनेत्यादि। बहुवचनं प्रकृतिदेशकालदशाहेत्वादिभेदेनानेकप्रकारत्वज्ञापनार्थम्। मोहो जडता।

बालक्रीड़ा

(मूल) इस के व्यभिचारी निर्वेद, ग्लानि, चिन्ता, औत्सुक्य, आवेग, भ्रम, मोह, श्रम, भय, विषाद, दैन्य, व्याधि, जडता, उन्माद, अपस्मार, त्रास, आलस्य, मरण आदि हैं। इस प्रसंग की दो आर्या हैं।

(मूल) इष्ट के वध के देखने से विप्रिय वचनों के सुनने से और ऊपर बतलाये हुए भाव विशेषों से करुण रस का संभव होता है ॥६२॥

(मूल) चिल्लाकर रोने, मूर्छा के आजाने, परिदेवित याने अपने या दैव को उपालम्भ देते हुए विलाप करने देह के तोड़ने एवं छाती के पीटने से करुणरस का अभिनय करना चाहिए ॥६३॥

की बूँद नहीं दिखाई देती है। इन अश्रु प्रभृतियों का "व्यभिचारी के रूप में ये अभिनेय हैं" इस तथ्य का उपजीवन करने के लिए ही मध्य में निर्देश किया है इस बात को कह भी चुके हैं और आगे भी कहेंगे। इसलिए पुनरुक्ति नहीं है। यही स्थिति अन्य विषयों में भी समझनी चाहिए। उन्माद और अपस्मार को व्याधिसे भेद करके कहेंगे। अर्थात् ये इससे भिन्न हैं। वध शब्द बन्ध आदि का उपलक्षण है। इष्ट जन के वध आदि विप्रिय श्रवणकटु जिस वाक्य से कहे जाँय उस वाक्य के श्रवण से। करुण रस का संभव उत्पादन होता है। इसका यह तात्पर्य है कि इष्ट जन के दिखाई पड़ने वाले और सुनाई पड़ने वाले

अथ रौद्रो नाम क्रोधस्थायिभावात्मको रक्षोदानवोद्धतमनुष्यप्रकृतिः संग्रामहेतुकः। स च क्रोधाधर्षणाधिक्षेपानृतवचनो-

अभिनवभारती

तेनान्ये व्यभिचारिण उपलक्ष्यन्ते। देहस्यायासनं पातनवेष्टनादि। अभिघात उरस्ताडनादिः। एते चानुभावाः प्रकृतिभेदेन यथायोगं विभजनीयाः। करुणो रौद्रादित्युक्तम्। स कीदृग्रौद्र इति क्रमं केचिदाहुः ॥६३॥

इति करुणरसप्रकरणम् ॥

अथ रौद्ररसप्रकरणम् ॥

अधुना रौद्ररसं लक्षयति—अथ रौद्रो नामेति। आत्मग्रहणस्यायमाशयः। अन्यायकारिता प्राधान्येन क्रोधस्य विषयः। तादृशि च जने सर्वेऽपि मनोरथैरपि रुधिरपानमपि नामाद्रियन्ते। तथा चाह लोकः—तादृशो यदि लभ्यते तत्तदीयं रुधिरमपि पीत्वा न तृप्यते। महाकविना भासेनापि स्वप्रबन्ध उक्तः—

बालक्रीड़ा

(मूल) अब क्रोध नामक स्थायीभाव के स्वरूप वाले रौद्र रस के लक्षण का निरूपण करते हैं। यह रस राक्षस दानव एवं उद्धत स्वभाव वाले मनुष्यों में रहता है और संग्राम इस का हेतु है। वह वध, आधर्षण (बहिन बेटी एवं औरत को बेइज्जत करना), अधिक्षेप (जाति कुल

विभवनाश आदि का करुण के विभाव के रूप में कवियों को उपनिबन्धन करना चाहिए। एभिः का अर्थ है इस प्रकार वाले। इस आर्या में भावशब्द विभाव का वाचक है ॥६२॥

अनुभावों और उसके द्वारा व्यभिचारियों को भी उपलक्षित करने के लिए दूसरी आर्या सस्वनेत्यादि को कहते हैं। यहाँ आर्या के सभी तृतीयान्त पदों में बहुवचन का निर्देश इस बात के ज्ञापन के लिए है कि प्रकृति, देश, काल दशा एवं हेतु आदि के भेद से अनुभावादि अनेक प्रकार के हैं। मोह जड़ता है। इससे अन्य व्यभिचारी उपलक्षित होते हैं। देह को आयास देना यानी गिराना एवं कपड़े में लपेटना आदि। अभिघात छाती पीटना आदि। इन अनुभावों का प्रकृति के भेद से योग्यता के अनुसार विभाग करना चाहिए। रौद्र से करुण पैदा होता है यह कहा जा चुका है। इस पर जिज्ञासा होती है कि वह रौद्र रस कैसा है इस से करुण के बाद रौद्र के निरूपण का क्रम है ऐसा कोई कहते हैं ॥६३॥

यह करुण रस का प्रकरण समाप्त हुआ।

अब रौद्र रस के प्रकरण को कहते हैं संप्रति रौद्र रस का लक्षण कहते हैं—अथ रौद्रो नाम इति। आत्मपद के उपादान का यह आशय है कि क्रोध तभी आता है जब कोई अन्याय करता है अतः अन्याय करना प्रधान रूप से क्रोध का विषय है। अन्याय करने वाले उस मनुष्य के खून के प्यासे सभी लोग हो जाते हैं अतः प्रत्यक्ष पान में अशक्त उसके खून के पीने का मनोरथ भी करते हैं। जैसा कि जनता कहा करती है कि यदि अन्यायकारी को

पघातवाक्पारुष्याभिद्रोहमात्सर्यादिभिर्विभावैरुत्पद्यते। तस्य च ताडनपाटनपीडनच्छेदनभेदनप्रहरणाहरणशस्त्रसम्पातसम्प्रहार-रुधिराकर्षणाद्यानि कर्माणि। पुनश्च रक्तनयनभ्रुकुटीकरणदन्तोष्ठ-

अभिनवभारती

'त्रेतायुगं तद्धि न मैथिली सा
रामस्य रागपदवी मृदु चास्य चेतः।
लब्धा जनस्तु यदि रावणमस्य कायं
प्रोत्कृत्य तन्न तिलशो न वितृप्तिगामी ॥' इति।

तेन हास्यवत्साधारणविभावत्वाच्चर्वणापि क्रोधमय्येवेति तद्रसनाचरणे रौद्रः क्रोधात्मक एव। उद्रिक्तं हन्तृत्वं येषां त उद्धताः। तद्वेषधारिणो ये नटास्ते। प्रकृतिश्चर्वणोदयहेतुरस्य। अत्र व्याचक्षते—युद्धहेतुक उद्धतमनुष्येषु भीमसेनादिषु रुधिरपानादिलक्षणः। रक्षोदानवास्तु स्वभावरौद्रा इति। तदसत्। भीमस्य रुधिरपानं न युद्धहेतुकम्। अपि तु विपर्ययेण। उद्धतस्वभावत्वादेव ह्यसौ क्रोधपरवशः सन्ननुचितमपि प्रतिज्ञातवान्। तन्निर्वाहायैव च राक्षसाधिष्ठानमस्य कविना वेणीसंहारे

बालक्रीड़ा

(मूल) की निन्दा करना), मिथ्या भाषण, उपघात, वाक्पारुष्य गाली गलौज करना, अभिद्रोह मारने की इच्छा करना, एवं मात्सर्य आदि विभावों से उत्पन्न होता है। इसके ताडन पीटना। पाटन चीर देना। पीडन मर्दन। छेदन काटना। भेदन विदारण करना। प्रहरणों का आयुधों का उठाना। शस्त्रों को गिराना। संप्रहार शस्त्र से मारदेना। रुधिर का खीच लेना एवं पी लेना आदि कर्म हैं। लालनेत्रों, भौंहों के टेढ़ी करने, दांतों से ओष्ठ के

हम पाजांय तो उसके खून को पीकर भी तृप्त नहीं होंगे। महाकवि भास ने भी अपने प्रबन्ध में कहा है कि—

न वह त्रेतायुग हैं, न राम के अनुराग की पदवी वह मैथिली है और न इसका चित्त मृदु है। यदि लोग किसी प्रकार रावण को पाजांय तो इसके काय को तिल २ भर काट कर भी तृप्ति को नहीं पायेंगे।

अतः हास्य की तरह साधारण विभाव होने से रौद्र की चर्वणा भी क्रोधमयी ही है। अतः क्रोधमयी रसना अर्थात् चर्वणा के आचरण होने पर रौद्र क्रोधात्मक ही है। जिनका हन्तृत्व यानी जिनकी हनन कारिणी मनोवृत्ति उद्रिक्त होती है वे उद्धत होते हैं। उस उद्धत पुरुष के वेष को धारण करने वाले जो नट हैं वे भी उद्धत होने चाहिए। इस नट की प्रकृति (स्वभाव) क्रोधमयी चर्वणा के उदय की हेतु है। इस पर कोई लोग व्याख्यान करते हैं कि भीमसेन वगैरह उद्धत मनुष्यों में जो दुःशासन के रुधिर का पान है वह युद्ध के कारण है। और राक्षस एवं दानव तो स्वभाव से रौद्र है। इस पर कहते हैं कि यह असत् हैं। क्योंकि भीम का रुधिरपान युद्ध हेतुक नहीं है। अपि तु विपर्य के कारण है अर्थात् द्रौपदी

पीडनगण्डस्फुरणहस्ताग्रनिष्पेषस्वेदवेपथुरोमाञ्चगद्गदिकादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः ।

भावाश्चास्यासम्मोहोत्साहावेगामर्षचपलतौग्र्यगर्वादयः

अभिनवभारती

वर्णितम् । तस्मात्सर्व एवैते स्वभावात् क्रोधनाः । तदनुसारिणि नटे रौद्र आस्वाद्यत इति मनुष्यप्रकृतिः । सङ्ग्रामहेतुक इति चायमर्थः– युद्धस्य कविनटप्रदर्श्यमानस्य हेतुकः कुत्सितहेतुधीरोहितः । तस्योचितो हेतुर्न क्रोधः । तथा च प्राधान्येन युद्धेन वीर एव व्यपदेक्ष्यते ।

नन्वेते स्वभावक्रोधना अपि किमुद्दीपनमपेक्षन्ते । ओमित्याह– स चेति । क्रोधादि परकर्तृकम् । आधर्षणं दारादिखलीकरणम् । अधिक्षेपो देशजात्यभिजनविद्याकर्मनिन्दा । अनृतस्य कस्याप्यपसत्यस्य वचनम् । उपघातो गृहभृत्याद्युपमर्दनम् । वाक्पारुष्यं वधाद्युपन्यासेन तर्जनम् । अभिद्रोहो जिघांसा । मात्सर्यं

बालक्रीडा

(मूल) दबाने, कपोल के थपथपाने एवं करतल के निष्पेष स्वेद, वेपथु रोमांच एवं गद्‌गदिका आदि अनुभावों से इसका अभिनय करना चाहिए । इस में व्यभिचारी भाव सम्मोह (बेवकूफी,) उत्साह, आवेग, अमर्ष, चपलता, उग्रता एवं गर्व आदि हैं ।

के लज्जावस्त्र के अपहरण से उत्पन्न क्रोध से हैं । क्योंकि भीमसेन उद्धत स्वभाव का व्यक्ति है अतः क्रोध के परवश होकर ऐसी अनुचित प्रतिज्ञा कर बैठा । तब उसके निर्वाह करने के लिए ही कवि ने वेणीसंहार नाटक में इस भीसन की राक्षसी अवस्था (अधिष्ठान) का वर्णन किया । इसलिए ये सभी स्वभाव से क्रोधी हैं और उसका अनुसरण करने वाले नट में रौद्र का आस्वादन करते हैं यह मनुष्यों की प्रकृति है ।

संग्रामहेतुकः इसका यह अर्थ है कि कवि के द्वारा वर्ण्यमान एवं नट के द्वारा प्रदर्श्यमान युद्ध का हेतुक । यहाँ हेतु शब्द से कुत्सित अर्थ में क प्रत्यय हुआ है । अतः इसका अर्थ है कुत्सित हेतु विषयक बुद्धि से रोहित उत्पन्न । अर्थात् क्रोध उस युद्ध का उचित हेतु नहीं है । युद्ध में तो वीर की विजयेच्छा हेतु है यही कारण है कि युद्ध से वीर ही का प्रधान रूप से व्यपदेश होता है ।

प्रश्न - क्या ये स्वभावतः क्रोधी भी उद्दीपन हेतुओं की अपेक्षा रखते हैं । उत्तर । हाँ ऐसा कहते हैं वह भी । कोध को करने वाला व्यक्ति पर है अन्य होता है । आधर्षण का अर्थ है दारा का अपमान करना । अधिक्षेप माने है देश, जाति, अभिजन, विद्या एवं कर्म की निन्दा । अनृत अर्थात् कोई भी अपसत्य । उसका वचन माने कहना । उपघात माने गृह का या भृत्य आदि का उपमर्दन । करुण रस के प्रसंग में उपघात पद का व्याख्यान अग्नि आदि से मरण किया है । वाक्पारुष्य का अर्थ है वध आदि का उपन्यास करके डाँटना । अभिद्रोह माने जिघाँसा गुणों में असूया का नाम मात्सर्य है । आदि ग्रहण से राज्य

अभिनवभारती

गुणेष्वसूया। आदिग्रहणाद्राज्यापहरणादि। एतैरुत्पद्यते कविना विभावत्वेन वर्ण्यमानैः।

अस्य ताडनादीनि कर्माणि रक्तनयनादयोऽनुभावा इति पृथङ्निरूपणं तुल्येऽप्यनुभावत्वे विशेषख्यापनार्थम्। विशेषस्तु पूर्वेषां वचनमात्रेण व्यावर्णनम्। रङ्गे प्रत्यक्षतोऽप्रदर्शनीयत्वात्। यद्वक्ष्यते—

'युद्धं राज्यभ्रंशो मरणं नगरोपरोधनं चैव।
अप्रत्यक्षकृतानि प्रवेशकैः संविधेयानि॥' इति॥ (ना, शा १८-३८)

रक्तनयनादि रङ्गे प्रत्यक्षेण कृतम्।

प्रहरणाहरणं तु पूर्वत्र प्रमादपठितमिति केचित्। इदं तु पृथगभिधाने तुच्छं प्रयोजनम्। अयं चात्राशयः—रक्षोदानवोद्धतमनुष्या उद्दीपनहेतुभिर्विनाऽपि चेष्टितमात्रं यदपि कुर्वते नर्मगोष्ठ्याद्यपि च तत्र ताडनादि प्रधानम्। तद्वक्ष्यति—'यच्च किञ्चिदारभन्ते' इति। उद्दीपनसम्भवे ताडनादिग्रस्त एव रक्तनयनाद्यधिकीभवति। अत एव पुनश्शब्दः। तत्र ताडनं तलाद्यभिघातः। पाटनं द्विधाकरणम्। पीडनं मर्दनम्। छेदनं कर्तनम्। भेदनं परस्परमित्रादिवियोजनम्। भावे ल्युडन्ताः। प्रहरणानामासमन्ताद्धरणम्।

बालक्रीड़ा

का अपहरण लेना चाहिए। कवि के द्वारा विभावरूप से वर्ण्यमान इन पदार्थों से रौद्र उत्पन्न होता है। इस रौद्र के कर्म ताडन आदि का और रक्तनयन आदि का अनुभाव के रूप में तुल्य होने पर पृथक् निरूपण किसी विशेष के ख्यापन के लिए किया है। वह विशेष तो यह है कि पहिले ताडन आदि कर्मों का केवल शब्द से नाटक में उपयोग है क्योंकि रंचमंच पर उनका प्रत्यक्ष प्रदर्शन करना नही चाहिए। जैसा कि कहेंगे—

युद्ध, राज्यभ्रंश, मरण, एवं नगर का उपरोध इनका विष्कम्भक एवं प्रवेशकों के द्वारा अप्रत्यक्षरूप से स्टेज पर अभिनय करना चाहिए।

हाँ रक्तनयन वगैरह अनुभावों का तो प्रत्यक्ष अभिनय किया जाता है। प्रहरण आयुधों के आहरण आननय का जो पूर्व में पाठ है वह प्रमाद से किया है ऐसा कोई कहते हैं। पथक् कथन के लिए इस प्रयोजन का उपन्यास करना तुच्छ है। यहाँ का आशय यह है कि राक्षस, दानव एवं उद्धत मनुष्य उद्दीपन हेतुओं के विना भी जो चेष्टाएँ और नर्मगोष्ठी करते हैं उनमें ताडन वगैरह प्रधान हैं। जैसा कि कहेंगे कि जो कुछ करते हैं। इत्यादि। उद्दीपन विभावों की संभवदशा ताडनादि कर्म में व्यस्त पुरुष में रक्तनयनादि का आधिक्य कर देती हैं। इसीलिए पुनः शब्द का उपादान किया। यहाँ ताडन पदार्थ है करतल से अभिघात अर्थात् थप्पड़ मारना। दो टुकड़े करना पाटन पद का अर्थ है। पीडन माने मर्दन। छेदन माने कर्त्तन कैंची से कतरना। भेदन मित्रों का परस्पर में वियोग करा देना। ये सब शब्द भाव में ल्युट् प्रत्यय करने पर निष्पन्न हुए है अतः ल्युडन्त हैं। प्रहरण आयुधों का आसमन्तात् चारों तरफ से हरण करना लाना है।

अत्राह-यदभिहितं रक्षोदानवादीनां रौद्रो रसः। किमन्येषां नास्ति। उच्यते—अस्त्यन्येषामपि रौद्रो रसः। किन्त्वधिकारोऽत्र

अभिनवभारती

शस्त्रस्य सम्पातनमविदारयतोऽपि। सम्प्रहरणं विदारयतः पातनम्। तेन रुधिरस्याकर्षणम्। रक्षःप्रभृतयो हि नर्मणाऽपि प्रहरन्ति। किन्तु रुधिरागमनमात्रफलं न त्वधिकम्। रक्ते च ते नयने। भ्रुवोर्मूलसमुत्क्षेपो भ्रुकुटी। दन्तोष्ठस्य यथायोगं पीडनम्। हस्ताग्रयोरन्योन्यनिष्पेषः सङ्घर्षणम्।

भावा इति व्यभिचारिणः। असंमोहः सम्मोहविपरीतः। विरोधे नञ् तत्रावृत्तिसङ्गृहीतः सम्यग्बोधः। उत्साहोऽत्र व्यभिचारी। क्रोधस्य प्राधान्येन रसनीयत्वात्। स्वेदादयो बाह्याः। आभ्यन्तराः सात्त्विकाभावेऽपि विषस्पर्शज्वरादिना भवन्ति। ततोऽनैकान्तिकाः। आन्तरा अनुद्रिक्ता व्यजनग्रहादिभिरुद्रिक्ताः। बाह्यैः स्वेदादिभिर्व्यक्ता व्यभिचारिरूपाः पठिताः।

एष्वेव रौद्ररस इत्यभिप्रायं गृहीत्वा चोदक आह—यदभिहितमिति। सिद्धान्ती त्वेषु रौद्रो भवत्येवेत्यभिप्रायेणाह—अस्त्यन्येषामिति। अन्येषां कविनटाभ्यां प्रयुज्य-

बालक्रीड़ा

(मूल) इस प्रसंग में प्रश्न करते हैं कि आपने जो कहा कि राक्षस दानव एवं उद्धत स्वभाव वाले मनुष्यों में रौद्र रस रहता है तो क्या वह औरों में नही रहता है। उत्तर। कहते हैं

शस्त्र का सम्पात वह कर्म है जिससे अंगों का विदारण नहीं होने पावे उस तरीके से शस्त्र का गिराना अतः अंगो का विदारण नहीं करने वाले शस्त्र का पातन शस्त्रसम्पात कहलाता है। और अंगों का विदारण करने वाले शस्त्रों का पातन सम्प्रहरण कहलाता है। इस संप्रहरण से रुधिर का आकर्षण आगमन संचारण होता है। राक्षस वगैरह तो मजाक में भी प्रहार करते हैं। किन्तु उस प्रहार का फल केवल रुधिर का आ जाना ही है अधिक पीडा नहीं पहुँचाना है। रक्त यह नयनों का विशेषण है अतः वे नेत्र लाल हैं ऐसा अर्थ हुआ। भ्रुकुटी का अर्थ है भौंहों के मूल में समुत्क्षेपण। दाँतों से ओठ का दबाना पीडन कहलाता है। हाथों के अग्रभाग करतलों का परस्पर में निष्पेषण संघर्षण कहलाता है।

भावा इसका अर्थ है व्यभिचारी। असंमोह माने सम्मोह के विपरीत। यहाँ विरोध अर्थ में नञ् है। उस सम्मोह में अवृत्ति यानी नहीं रहने वाला अतएव उससे संगृहीत असम्मोह सम्यग्बोध है यथार्थ ज्ञान है। यहाँ रौद्र रस में उत्साह व्यभिचारी है। क्योंकि रौद्र में क्रोध ही प्रधानरूप से रसनीय है। पसीना आदि बाह्य हैं। जो आभ्यन्तर सात्विक भाव के अभाव में भी विषस्पर्श एवं ज्वर आदि से होते हैं। अतः अनैकान्तिक है व्यभिचारी हैं। आन्तर उद्रेक जिनका नहीं हुआ है। व्यजनग्रहण से उद्रिक्त हैं। बाह्य शरीर में व्याप्त स्वेद आदि से व्यक्त भावों का व्यभिचारी रूप में पाठ किया है।

इन उद्धत मनुष्यों में राक्षसों एवं दानवों में रौद्र रस रहता है। इस अभिप्राय को ग्रहण करके प्राश्निक कहता है कि जो आपने कहा। सिद्धान्ती तो इनमें रौद्र होता ही है।

गृह्यते। ते हि स्वभावत एव रौद्राः। कस्मात्। बहुबाहवो बहुमुखाः

अभिनवभारती

मानानां सम्बन्धिजन्यत्वेन। अधिकारोऽनुवृत्तिः। अत्रेति—राक्षसादिषु। एतदेव व्यनक्ति–ते हीति। स्वभावतः शब्दानन्तरमेवकारेण अयोगव्यवच्छेद एव सूचितः। स्वयं तेषां भवनं तत इत्यर्थः। तेनाङ्गरौद्रोपन्यासोऽप्यविरुद्धः। अन्यथा स्वभावरौद्र एव रक्ताक्षादिभिरभिनेयः स्यात्। न तु बहुबाहुमुखादिभिः। तत्र राक्षसादयोऽपि न परिजने सदा क्रुद्धा इति प्रतीयन्त इत्याशयेनाह–कस्मादिति।

अत्रोत्तरं बहुबाहव इति। लोकप्रसिद्धाकारविपरीतो तेषामाकारः। तत्र च परविनाशनाभिसन्धिजनितं तपश्चर्यादिकं दृष्टं वा कर्म तेषां व्याप्रियते। अतस्तादृशेषु दृष्टेषु स एव क्रोधात्मकोऽभिसन्धिर्गम्यत इति सामाजिकानां दृश्यते रौद्रास्वादः। तेन च रागादिव यत्क्रोधकाले दृष्टं तत्सदैव तेषामुद्वृत्तं तारकयोः

बालक्रीड़ा

(मूल) कि यह रौद्र रस औरों में भी रहता है। किन्तु यहाँ अविकार का ग्रहण है। क्योंकि वे राक्षस वगैरह स्वभाव से ही रौद्र हैं। प्रश्न-क्यों रौद्र है। उत्तर। उनके बहुत मुख हैं, बहुत बाहु हैं, शिर के बाल हिलते रहते हैं और बिखरे हुए एवं पीले हैं, नेत्र लाल एवं उभर

इस अभिप्राय से कहता है कि औरों में भी यह रस है। अन्य यानी कवि एवं नट के द्वारा प्रयुज्यमान अन्य पात्रों के सम्बन्ध वालों से जन्य होने से। अधिकार पद का अर्थ है। अनुवृत्ति। अत्र यहाँ राक्षस आदि में। इसी को व्यक्त करते हैं कि वे ही। स्वभावतः के बाद प्रयुज्यमान एवकार से अयोगव्ववच्छेद अर्थ सूचित होता है। स्वयं ही उन उद्धत चेष्टाओं का उससे होना सिद्ध है। (भवन्त्येव की तरह क्रिया पदों के अन्त में लगे हुए एवकार का अर्थ अन्यन्तायोगव्यवच्छेद होता है। न कि अयौग व्यवच्छेद। दूसरी बात हैं कि यहाँ "स्वभावत एव रौद्राः" यही पाठ है भवन्ति पद नहीं है। अस्तु)

स्वभाव से ही उद्धतों में रौद्र चेष्टायें होती है। इससे अंगों में उन उद्धतों के अवयवों में रौद्र का उपन्यास विरुद्ध नहीं है। अन्यथा अंगों से रौद्र के अभिनेय को नहीं मानेंगे तो रक्ताक्ष आदि पदों से स्वभाव रौद्र ही अभिनेय होगा। बहुबाहु एवं बहुमुखादि नहीं।

राक्षस वगैरह भी परिजनों पर सदा क्रुद्ध नहीं रहते हैं यह प्रतीत होता है इस आशय से कहते हैं कि कस्मात्। ऐसा किस कारण से होता है। इस पर उत्तर देते हैं कि उनके बहुत बाहु है यानी लोकप्रसिद्ध आकार के विपरीत उनका आकार है। और उस आकार में दूसरों के विनाश की अभिसन्धि से किये गये उनके तपश्चर्यादिक अथवा दृष्ट कर्म व्याप्त दिखाई पड़ते हैं। अतः उस तरह के दृष्ट कर्मों में उनकी वह अभिसन्धि व्यक्त होती है। इसलिए सामाजिकों को रौद्र रस का आस्वाद होता है। इसमें राग के सदृश जो क्रोध के समय में देखा था वह स्वरूप उनका सदा ही दिखाई पड़ता है। जैसे तारक आंख की पुतलियां उद्वृत्त उभरी हुई है और बिलोचन लाल २ हैं। अत एव सदा ही जिनका रूप भयंकर

प्रोद्धूतविकीर्णपिङ्गलशिरोजाः रक्तोद्वृत्तविलोचना भीमासित-रूपिणश्चैव। यच्च किञ्चित्समारभन्ते स्वभावचेष्टितं वागङ्गादिकं तत्सर्वं रौद्रमेवैषाम्। शृङ्गारश्च तैः प्रायशः प्रसभं सेव्यते।

अभिनवभारती

रक्तं विलोचनम्। अत एव भीममसितं कृष्णं सदैव रूपं येषाम्। नित्ययोग इनिः। अत एव बहुवचनबहुव्रीहिरत्र न कृतः।

न केवलं कायस्तदीय इत्थं यावच्चेष्टितमपि तदीयं दृश्यमानं रौद्रास्वादजनकमेवेति दर्शयति—यच्चेति। स्वभावजेति। चित्तस्याविकारेऽपि यच्चेष्टितं वाचिकं कायिकं वा तदेषां ताडनादिप्रधानमिति काव्ये प्रयोगे च दृश्यमानं रौद्रास्वादहेतुः। वागङ्गे आदिनी कारणे यस्य। मानसं तु चेष्टितमप्रत्यक्षत्वान्नोक्तम्।

सर्वमिति यदुक्तं तत्स्फुटयति—शृङ्गारश्चेति। शृङ्गारशब्देनात्र तद्विभावः प्रमदोद्यानादिः। सोऽपि तैः प्रसभमिति क्रूराकारतया सेव्यते। यत्रौग्र्यस्य वर्जनमुक्तं किं पुनरन्यदिति चशब्दस्यार्थः। तथा 'आः सीते पतिगर्वविभ्रमभरभ्राम्यद्भ्रु' इत्यादि रौद्ररसत्वेन उदाहरणम्। तथा नाना त्वादेव 'गाढाम्रेडं मलयमरुतः शृङ्खलादाम दत्त' (बाल. रामा. ४-५१) इति कदाचिदनुनयेनापीति दर्शयति प्रायश इति।

बालक्रीड़ा

(मूल) हुए हैं और उनका रंग भयंकर काला है। वे जो कुछ भी वाणी एवं अंगादि की चेष्टाएँ करते हैं वे सब उनके स्वभाव से ही रौद्र होती हैं। शृंगार का भी वे लोग प्रायः जबर्दस्ती

और काला दिखाई पड़ता है। रूपिणः में नित्य योग अर्थ में इनि प्रत्यय है। अतएव येषां ते, येषां इत्यादि बहुवचनों वाला बहुव्रीहि समास नहीं किया है। उनका शरीर ही केवल इस तरह के रौद्र स्वाद का जनक नहीं है अपितु दृश्यमान उनकी चेष्टायें भी रौद्रास्वाद की ही जनक हैं इस बात को दिखाते हैं जो भी स्वभाव से जन्य। चित्त में किसी तरह के विकारों के नहीं होने पर भी उनकी जो कायिक एवं वाचिक चेष्टाएँ हैं वे सब ताडनादि प्रधान हैं अतः काव्य में वर्ण्यमान और प्रयोग में दृश्यमान वे रौद्र के आस्वाद की हेतु हैं। वाणी और अंग आदि हैं कारण हैं जिसकी। यहाँ आदि पद कारण का वाचक है। मानस चेष्टायें अप्रत्यक्ष होती हैं अतः उनको नहीं कहा। "तत्सर्व रौद्रम्" में जो सर्व शब्द को कहा उसको स्फुट करते हैं—"शृंगारश्च" इति। यहाँ शृंगार शब्द से शृंगार के विभाव प्रमदा एवं उद्यान आदि हैं। उनका सेवन भी वे प्रसभ जबरन करते हैं क्योंकि उनका व्यवहार क्रूर है। जहाँ उग्रता का वर्जन किया है वहाँ फिर औरों का भी वर्जन किया है इसको क्या कहना है। यह च शब्द का अर्थ है। जैसे "आः सीते" पति के गर्व में होने वाले विभ्रम भर से जिसकी भौहें घूम रही है ऐसी आः सीते इत्यादि रौद्ररस के रूप में उदाहरण है नानत्व होने से।

"मलयानिल के गाढ आम्रेडन के साथ शृंखलारूप माला दे दी" इत्यादि। कभी अनुनय से भी शृंगार का सेवन वे करते हैं इस बात को दिखाते हैं कि प्रायशः।

तेषां चानुकारिणो ये पुरुषास्तेषामपि सङ्ग्रामसम्प्रहारकृतो रौद्रो रसोऽनुमन्तव्यः ।

अत्रानुवंश्ये आर्ये भवतः—

अभिनवभारती

ननूद्धतममुष्येषु तर्हि कथं रौद्रादिविकारः । न हि ते बहुबाहुत्वादियुक्ता इत्याशङ्क्याह—तेषां चेति । राक्षसादीनाम् । अनुकारिण इति । तामसप्रकृतितया तत्सदृशा अनुगामित्वेन मन्तव्या इत्यर्थः । कथमित्याह—सङ्ग्रामसम्प्रहारग्रहणेन पूर्वोक्तं ताडनपाटनादि गृह्यते । तेन बहुबाहुत्वाद्यभावेऽप्युद्धतमनुष्या वागङ्गचेष्टितेन क्रोधोचितेन रौद्रप्रकृतय इति लक्ष्यन्ते । एवं रक्षोदानवेत्यादावयोगव्यवच्छेदो निश्चितः । अन्येऽपि तु वीरप्रधाना अश्वत्थामजामदग्न्यादयः । तेषु कारणमहिम्ना भवत्येव क्रोधो रौद्रास्वादयोग्यः । राक्षसादीनामपि च हासशोकादिः स्वकारणोदितोऽभिभूतक्रोधः । हास्यकरुणादेश्चेह योगो भवत्येव । तेनैषां न रौद्र एव रसः । ननु सामाजिकानां तथाभूतराक्षसादिदर्शने कथं क्रोधात्मक आस्वादः; उच्यते—हृदयसंवाद आस्वादः । क्रोधे च हृदयसंवादस्तामसप्रकृतीनामेव सामाजिकानामिति दानवादिसदृशास्तन्मयीभूता एवान्यायकारिविषयं क्रोधमास्वादयन्तीति न किञ्चिदवद्यम् ।

बालक्रीड़ा

(मूल) से सेवन करते हैं । और उनका जो अनुकरण करने वाले पुरुष हैं उनके लिए भी युद्ध एवं संप्रहार के कारण रौद्र रस की ही अनुमति है ।

(मूल) इस विषय में गुरुशिष्यसम्प्रदाय में प्रसिद्ध दो आर्याएँ हैं ।

प्रश्न—उद्धत मनुष्य में रौद्रादि विकार कैसे होते हैं । क्योंकि वे तो बहुबाहुत्व बहुमुखत्वादि से युक्त नहीं होते हैं । इस आशंका पर कहते हैं कि वे उन राक्षसों के अनुकारी हैं अतः एव अनुगामी हैं ऐसा समझना चाहिए । इस पर कहते हैं कि संग्राम एवं सम्प्रहरण शब्दों के उपादान से पूर्वोक्त ताडन एवं पाटन आदि का ग्रहण होता है । जिससे बहुबाहुत्वादि के अभाव में भी उद्धत मनुष्य क्रोध के योग्य वाणी एवं अंगों की चेष्टाओं से रौद्र स्वभाव के मालूम पड़ते हैं । इस प्रकार राक्षस एवं दानवों में अयोगव्यवच्छेद निश्चित है । और भी वीरों में प्रधान पुरुष अश्वत्थामा एवं जामदग्न्य आदि हैं । उनमें कारण की महिमा से रौद्र रस के आस्वाद के योग्य क्रोध होता ही है । राक्षस वगैरह में भी अपने कारणों से क्रोध को दबाकर हास एवं शोक वगैरह उदित होते हैं । इन राक्षसों में हास एवं करुण आदि का योग होता ही है । इसलिए उनका रौद्र ही रस है यह कोई बात निश्चित नहीं है । प्रश्न—उस प्रकार के राक्षस वगैरह के देखने पर सामाजिकों को क्रोधात्मक आस्वाद क्यों होता है । उत्तर । कहते हैं कि क्रोध में हृदय के साथ संवाद होने पर रौद्र रस का आस्वाद होता है । क्रोध में हृदय का संवाद भी तामस प्रकृति सामाजिकों को ही होता है इसलिए वे दानवों के सदृश हैं अतएव तन्मयीभूत होकर अन्याय

युद्धप्रहारघातनविकृतच्छेदनविदारणैश्चैव ।
सङ्ग्रामसम्भ्रमाद्यैरेभिः सञ्जायते रौद्रः ॥६४॥
नानाप्रहरणमोक्षैः शिरःकबन्धभुजकर्तनैश्चैव ।
एभिश्चार्थविशेषैरस्याभिनयः प्रयोक्तव्यः ॥६५॥
इति रौद्ररसो दृष्टो रौद्रवागङ्गचेष्टितः ।
शस्त्रप्रहारभूयिष्ठ उग्रकर्मक्रियात्मकः ॥६६॥

अभिनवभारती

विकृतं यच्छेदनं व्यङ्गादिकरणं युद्धेति परेण क्रियमाणौचित्यम् । तेन युद्धाद्यनुमितस्य परक्रोधादेर्विभावत्वमुक्तम् । सङ्ग्रामाय सम्भ्रमः शस्त्राहरणे त्वरा ।

अनुभावानाह—नानेति मारणप्राधान्यं नानाप्रहरणेन दर्शयति । शिरःकर्तनादिहतशरीरस्यापि क्रोधातिशयं सूचयन्वीराद्भेदमाह । युद्धवीरेऽपि हि तन्नास्ति । इह तु वक्ष्यते—उग्रकर्मेति । उग्राण्यौग्र्यप्रधानानि यानि शिरःकर्तनादीनि तेषां या क्रिया अभिनीतिः सा आत्मा प्रधानं यस्येति । भरतमुनिस्त्वेकेन श्लोकेनोपसंहरति—इति रौद्ररस इति ॥ । ६६ ।

इति रौद्ररसप्रकरणं समाप्तम् ।

बालक्रीड़ा

(मूल) युद्ध में किये गये प्रहारों के द्वारा घातन, बुरीतरह छेदन, विदारण एवं संग्राम कालिक घबराहट या युद्ध करने के लिए जल्दबाजी से रौद्र रस पैदा होता है ॥६४॥

(मूल) नाना प्रकार के प्रहारों यानी अस्त्रों के द्वारा छेदने, शिर कबन्ध एवं भुजाओं के काट देने एवं उपरि कथित अर्थ विशेषों से रौद्र रस का अभिनय करना चाहिए ॥६५॥

(मूल) जिस में वाणी एवं अंगादिकी रौद्र चेष्टायें हैं, अधिकतर शस्त्रों का प्रहार है और उग्रकर्मों का अभिनय हो वह रौद्र रस है ऐसा देखा गया है ॥६६॥

करने वाले के ऊपर क्रोध का आस्वादन करते हैं इसलिए कोई दोष नहीं है । विकृत छेदन एवं विदारण जिससे मनुष्य अंग विकल हो जाते हैं उसमें करण साधकतम कारण युद्ध आदि हैं । इसलिए दूसरों के द्वारा किये जाने वाले विकृत छेदनादि में औचित्य हैं ।

इससे युद्ध के द्वारा अनुमान किए गए परक्रोध को विभाव कहा । संग्राम के लिए सम्भ्रम अर्थात् शस्त्रों के आदान में त्वरा ।

अनुभावों को कहते हैं—नाना इति । नाना प्रहरणों से किये गये, इससे मारण की प्रधानता को दिखाते हैं । हृतशरीर यानी मृतक के शिरः कर्त्तनादि से क्रोधातिशय को सूचित करते हुए वीर रस से क्रोध का भेद बतलाते हैं । युद्ध वीर में मृतक के शिरः कर्त्तनादिकी क्रियायें नहीं होती हैं । क्रुद्ध में तो कहेंगे कि वह उग्र कर्म करने वाला होता है । उग्र माने उग्रता प्रधान जो शिरः कर्त्तनादि कार्य उनकी जो क्रिया अभिनय वह है आत्मा प्रधान जिसका ऐसा । भरत मुनि तो एक श्लोक से रौद्ररस के प्रकरण का उपसंहार करते है कि इस प्रकार रौद्र रस है ।६६।

अथ वीरो नामोत्तमप्रकृतिरुत्साहात्मकः । स चासंमोहा-

अथ वीररसप्रकरणम् ।

अभिनवभारती

क्रमप्राप्तं वीरं लक्षयति—अथ वीर इति आनन्तर्यमथशब्देनाह । युद्धवीरे हि संग्रामसम्प्रहारयोगो रौद्रेऽपीति किन्तु वीरे न जिघांसेति । उत्तमानां प्रकृतिः स्वभावो यत उत्साहोऽतो वीररसोऽपि तथा । यदि वा काव्ये नाट्ये च प्रयुज्यमान उत्तमः प्रकृतिर्हेतुर्यस्य । उत्तमवर्णानां हि सर्वत्रोत्साह आस्वाद्यो भवति । अत एव चतुर्ष्वपि नायकेषु धीरत्वमनुयायित्वेन वक्ष्यते धीरोदात्त इत्यादि । तत्र सर्वो जन उत्साहवानेव । किन्त्वविषय इत्यनुपदेश्यचरितता । यदीयं तु चरितमुपदेशार्हं तेषामुचित एवावसरे उत्साहाभिव्यक्तिः । उचितत्वं चावसरस्यासंमोहादिसम्पत्ति-रिति सैव विभावत्वेनोपदिष्टा । असंमोहेनाध्यवसायो हि वस्तुतत्त्वनिश्चय इति मन्त्रशक्तिर्दर्शिता । असद्वस्त्वभिनिवेशोऽसंमोहो रावणादिगत उत्साहकारीत्यसत् । अशब्दार्थत्वात् । तत्रापि च पराक्रमनयादिरेव विभावः । सन्ध्यादिगुणानां सम्यक्

बालक्रीड़ा

(मूल) अब वीर रस का लक्षण लिखते हैं । वीररस उत्साहात्मा है और उत्तम स्वभाव वाले पुरुषों में रहता है । वह असम्भोहाध्यवसाय, विनय, बल, पराक्रम, शक्ति, प्रताप

इस प्रकार रौद्र रस का प्रकरण समाप्त हुआ । अब वीररस का प्रकरण शुरु होता है क्रम प्राप्त वीर का लक्षण करते हैं—अथ वीर इति । अथ शब्द से आनन्तर्य को कहते हैं। अतः रौद्र के अनन्तर वीर को कहते हैं । (संग्राम सम्प्रहार कृतो रौद्रो रसोऽनुमन्तव्यः) संग्राम एवं संप्रहारों से रौद्र रस का अनुमान करना चाहिए । इस तरह जो रौद्ररस में संग्राम एवं संप्रहार का सम्बन्ध बतलाया है वह युद्ध वीर में भी होता है । किन्तु वीर में मारने की इच्छा से नहीं । क्यों कि मारने की प्रधानता रौद्र रस में होतीं है जैसा कि अभिनव गुप्ताचार्य का उल्लेख है । "अनुभावानाह-नानेति । मारणप्राधान्यं नानाप्रहरणेन दर्शयति इति ।" वीर में विजय की इच्छा प्रधान है क्यों कि उत्तम पुरुषों कीं प्रकृति स्वभाव उत्साह स्वरूप है अतः वीररस भी वैसे ही उत्तम प्रकृति वाले पुरुषों में होता है । अथवा काव्य और नाट्य में प्रयुज्यमान अभिनीयमान उत्ताम पुरुष प्रकृति हेतु है जिसका वह वीर है । उत्तम वर्णो का उत्तम पुरुषों का उत्साह सर्वत्र आस्वाद्य होता है । इसी लिए चारो नायकों में धीरत्व को अनुयायी अनुगत रूप से कहेंगे जैसे धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित एवं धीरप्रशान्त । विषय यह है कि सभी मनुष्य उत्साहवान् है किन्तु अविषय में अनवसर में वह उत्साहवान् है इसलिए उसका चरित उपदेश्य नहीं है । जिनका तो चरित उपदेश्य है उपदेशार्ह है उनकी उत्साहाभिव्यक्ति उचित अवसर में ही होती है । अवसर सम्बन्धी उचितत्व, असंमोह यथार्थ ज्ञान आदि की सम्पत्ति पूर्णता है अतः उसी असम्मोहसम्पत्ति का विभाव रूप से उपदेश किया । असम्मोह से अध्यवसाय ही वस्तुतत्व का निश्चय है इससे मंत्रणा शक्ति वीर की दिखला दी । रावण वगैरह में असद्वस्तुविषयक अभिनिवेशरूप असंमोह उत्साह का करने

ध्यवसायनयविनयबलपराक्रमशक्तिप्रतापप्रभावादिभिर्विभावैरु-त्पद्यते। तस्य स्थैर्यधैर्यत्यागवैशारद्यरोमाञ्चादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः । भावाश्चास्य धृतिमतिगर्वावेगौग्र्यामर्षस्मृतिचिन्तादयः ।

अत्रार्ये रसविचारमुखे—

अभिनवभारती

प्रयोगो नयः । इन्द्रियजयो विनयः । बलं हस्त्यश्वरथपादातम् । पराक्रमः परकीयमण्डलाद्याक्रमेणावस्कन्दः । युद्धादिके सामर्थ्यं शक्तिः । प्रतापः शत्रुविषये सन्तापकारिणी प्रसिद्धिः । प्रभावोऽभिजनधनमन्त्रिसम्पत् । आदिग्रहणेन यशःप्रभृति । एते च सम्पूर्णस्वभावा एव विभावा भवति । उत्तमस्य कदाचित्कश्चिदधिक इति पृथक्पृथगुदाहरणम् । वस्तुतो ह्यत्रोदाहरणं सर्वमेव रामादिचरितम् । सचिवायत्तसिद्धौ च वत्सराजप्राये नायके यथायोगं सचिवगता अप्येते मन्तव्याः । प्रतिनायकगता अपि च ते उत्साहव्यञ्जका इति यथायोगं व्यस्तसमस्तभेदकल्पनं कविना कार्यम् ।

स्थैर्यमचलनम् । गाम्भीर्यकृतं संवरणं धैर्यम् । शौर्यं युद्धादिक्रिया । त्यागो दानम् । वैशारद्यं सामाद्युपायचतुष्कस्यैकद्वित्रिचतुरादिभेदैर्यथाविषयं नियोजनम् ।

बालक्रीड़ा

(मूल) एवं प्रभाव आदि विभावों से उत्पन्न होता है । इसका अभिनय स्थैर्य, धैर्य, शौर्य, त्याग, वैशारद्य एवं रोमांच आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए । इसके व्यभिचारी भाव धृति मीति गर्व आवेग औग्र्य अमर्ष स्मृति एवं चिन्ता आदि हैं ।

इस प्रसंग में रस के विचार के विषय में दो आर्या हैं ।

वाला था यह कथन ठीक नहीं। क्योंकि ऐसा असंमोह शब्द का अर्थ नहीं है । पराक्रम एवं नय आदि ही असम्मोहाध्यवसाय स्थल में भी विभाव है । सन्धि एवं विग्रह आदि गुणों का सम्यक् यथास्थान प्रयोग नय है । इन्द्रियों को जीतना विनय है । हाथी घोड़े रथ एवं पैदल सेना बल है । दूसरे के मण्डल घेरे को आक्रमण से अवस्कन्दन कर लेना दवा लेना पराक्रम कहलाता है । युद्धादि के सामर्थ्य को शक्ति कहते हैं । शत्रुओं के मण्डल में सन्तापकारिणी प्रसिद्धि प्रताप है । अभिजन खानदानियत, धन एवं मंत्रिमण्डल की पूर्णता प्रभाव है । आदि शब्द के ग्रहण से यशः प्रभृति को लेना चाहिए । ये सब पूर्ण स्वभाव वाले ही विभाव होते हैं । उत्तम पुरुष में कभी कोई अधिक होता है इसलिए अलग २ उदाहरण हैं । वस्तुतः इसविषय में सम्पूर्ण रामचरित ही उदाहरण है । सचिव के अधीन जिसकी सिद्धि है ऐसे वत्सराज नायक के सचिव यौगन्धरायण में भी योग्यता के अनुसार नयादि को मानना चाहिए । प्रतिनायक में भी वे पराक्रम नयादि उत्साह के व्यंजक होते हैं अतः युक्ति के अनुसार व्यस्त अथवा समस्त भेदों की कल्पना कवि को करनी चाहिए ।

स्थैर्य पद का अर्थ अचलन है । गम्भीरता से किया गया संवरण आकार गोपन धैर्य है । युद्धादि क्रिया शौर्य है । त्याग दान है । सामादि चार उपायों में से किसी एक,

असम्मोहाध्यवसायादविषादित्वादविस्मयामोहात् ।
विविधादर्थविशेषाद्वीररसो नाम सम्भवति ॥६७॥
स्थितिधैर्यवीर्यगर्वैरुत्साहपराक्रमप्रभावैश्च ।
वाक्यैश्चाक्षेपकृतैर्वीररसः सम्यगभिनेयः ॥६८॥

अभिनवभारती

विविधधर्मादिलक्षणमर्थनीयं विशेषमभिसन्धाय अविषादित्वादविस्मयादमोहाच्च योऽध्यवसायो निश्चयः स चोत्साहयतीत्युत्साहः ।

एतदुक्तं भवति—आपद्यङ्गकनिमग्नतां, स्वल्पे सन्तोषं, मिथ्याज्ञानं चापास्य यस्तत्त्वनिश्चयः स एवोत्साहहेतुः प्रधानतया । रौद्रे तु तमःप्राधान्यादशास्त्रीयानुचितबन्धाद्यपीति मोहविस्मयप्राधान्यम् ॥६७॥

स्थितिः स्थैर्यम् । वीर्यं शौर्यम् । गर्वपदेन तदनुभावो लक्ष्यते । उत्साहनमुत्साहोऽवलस्य विषण्णप्रायस्योत्तेजनं यथा सेतुबन्धकाव्ये । पराक्रमः पराक्रमणा । इत्थमत्र भवद्भिरासितव्यं योद्धव्यमिति बलस्य व्यापारणादितिकर्तव्यानां भृत्यानां प्रभावना प्रभावसम्पादनम् । आक्षेपो वस्त्वन्तरस्य सूचनं तेन कृतानि तत्प्रधानानि यानि वाक्यानीति गम्भीरदुरवगाहार्थत्वं वाक्यानामित्युक्तम् ।। ६८ ।

इति वीररसप्रकरणं समाप्तम् ।

बालक्रीड़ा

(मूल) असंमोहाध्यवसाय, अविषाद, अविस्मय, अमोह एवं प्रागुक्त विविध अर्थ विशेष से वीर रस पैदा होता है ।६७।

(मूल) स्थिति, धैर्य, वीर्य, गर्व, तथा उत्साहन पराक्रमण, प्रभावन एवं आक्षेप प्रधान वाक्यों से वीर रस का अभिनय करना चाहिए ॥६८॥

दो, तीन या चारों का विषय के अनुसार नियोजन करना वैशारद्य है । विविध धर्मादि रूप अर्थनीय विशेष का अभिसन्धान करके अविषाद अविस्मय एवं अमोह से जो अध्यवसाय निश्चय है वह व्यक्ति को उत्साहित कर देता है अतः उत्साह है । इसका यह अभिप्राय है कि आपत्ति एवं उसके अंग कारणों में निमग्नता यानी उनसे ग्रस्तता, थोड़े में सन्तोष एवं मिथ्याज्ञान इनको छोड़कर जो तत्त्व निश्चय है वही प्रधान रूप से उत्साह का हेतु है अतः वहाँ वीर रस है । किन्तु रौद्ररस में तमोगुण की प्रधानता से अशास्त्रीय अनुचित वध एवं बन्ध आदि भी होते हैं अतः मोह विस्मय एवं विषाद प्रधान हैं । स्थिति का अविचलन स्थैर्य है । युद्धादि क्रिया रूप शौर्य वीर्य है । गर्वपद से वीर्य का अनुभाव लक्षित होता है । उत्साहित कर देने वाला उत्साह अबल एवं विषण्ण प्राय का उत्तेजक होता है जैसे सेतु बन्धकाव्य में । पराक्रम शत्रुओं के मण्डल पर पराक्रमण । इस तरह आप लोगों को यहाँ रहना चाहिए और युद्ध करना चाहिए इस प्रकार से सेना को प्रेरणा देकर इतिकर्त्तव्य के सम्बन्ध में भृत्यों को प्रभावित करना प्रभाव सम्पत्ति है । आक्षेप का अर्थ है वस्त्वन्तर की सूचना । इससे आक्षेपकृत यानी आक्षेप प्रधान जो वाक्य । इससे यह कहा कि आक्षेप प्रधान वाक्यों का अर्थ गम्भीर एवं दुरवगाह है ॥६८॥ ———

अथ भयानको नाम भयस्थायिभावात्मकः । स च विकृतरवश्रवसत्त्वदर्शनशिवोलूकत्रासोद्वेगशून्यागारारण्यगमनस्वजनवधबन्धदर्शनश्रुतिकथादिभिर्विभावैरुत्पद्यते । तस्य प्रवेपितकरचरणनयनचपलपुलकमुखवैवर्ण्यस्वरभेदस्तम्भस्वेदगद्गदिकादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः ।

अथ भयानकरसप्रकरणम् ।

अभिनवभारती

वीरस्य भीताभय प्रदान प्रधानत्वाद्भयानकं लक्षयति—अथेति । विकृतो रवोऽट्टहासादिस्तस्य श्रवः श्रुतिः । सत्त्वानां पिशाचानां दर्शनम् । त्रासोद्वेगौ परगतौ । शून्यागारस्यारण्यस्य च गमनं प्राप्तिः । स्वजनस्य यौ वधबन्धौ तयोर्दर्शनं प्रत्यक्षेण । श्रवणमागमेन । कथादि अतिक्रान्तानामपि पुनरनुसन्धानेन स्मरणम् ।

वेपितुं प्रवृत्तं यत्करचरणं आदि कर्मैव भयव्यञ्जकं व्याध्यादिवैलक्षण्यसूचनात् । पुलको रोमकूपोन्नतिः । स्वरस्य भेदः स्वभावविपर्ययः ।

बालक्रीड़ा

(मूल) अब भयानक का लक्षण लिखते हैं । भय स्थायी वाला भयानक होता है । वह भयंकर शब्द के सुनने, भयंकर प्राणी के देखने, गीदड, और उल्लू के त्रास, उद्वेग, शून्यागार अरण्यगमन, स्वजन के वध एवं बन्ध के सुनने, देखने एवं कहने रूप विभावों से उत्पन्न होता है । उसका अभिनय हाथ पैर के काँपने, नयनों की चपलता, पुलक, मुखवैवर्ण्य, स्वर भेद,

इस तरह वीररस का प्रकरण समाप्त हुआ । अथ भयानक रस का प्रकरण शुरू किया जाता है ।

भय से आकुल व्यक्तियों को अभय प्रदान करना वीर का प्रधान कर्त्तव्य है अतः वीर के बाद भयानक रस के लक्षण को लिखते हैं ।' 'अथ" इति । विकृत रव अट्टहास आदि को सुनना । सत्व माने पिशाच उनको देखना । त्रास एवं उद्वेग भय के जनक है अतः ये दूसरे में रहने वाले माने गये हैं । शून्य जंगल में गमन अकस्मात् पहुँच जाना स्वतः गमन नहीं करना । अपने प्रियजन के वध एवं बन्ध को प्रत्यक्ष देखना । या आगम शब्द से सुनना । कथा आदि अर्थात् श्रवण एवं दर्शन से अतिक्रान्त पुरुषों का पुनः अनुसन्धान करके स्मरण करना ।

हाथ पैर का काँपना आदि कर्म क्रिया भय की व्यंजक है । क्योंकि उससे व्याध्यादि के भयंकरता की सूचना मिलती ह । पुलक माने रोमाञ्च का उद्गम । स्वर का भेद याने स्वभाव का विपर्यय होना ।

भावाश्चास्य शंकामोहदैन्यावेगचापलजडतात्रासापस्मारमरणादयः ।

अत्रार्याः—

विकृतरवसत्त्वदर्शनग्रामारण्यशून्यगृहगमनात् ।
गुरुनृपयोरपराधात्कृतकश्च भयानको ज्ञेयः ॥६९॥

अभिनवभारती

गुरुनृपयोरिति । अयमाशयः—भयं तावत् स्त्रीनीचबालादिषु वक्ष्यते । नोत्तममध्यमप्रकृतिषु । तेऽपि तु गुरुभ्यो राज्ञश्च भयं दर्शयेयुः । तदभावेऽप्येवं सुतरामुत्तमत्वं भवति । अप्रभुत्वं चामात्यानाम् । यथाह–'स्वेच्छाचारी भीत एवास्मि भर्तुः' इति । (रत्ना. १.७) । अनुभावाश्च तथा श्लिष्टास्तत्र क्रियन्ते लोके येन सत्यत एव भीतोऽयमिति गुर्वादीनां प्रतीतिर्भवति । अस्वाभाविकत्वाच्च कृतकम् । बहुतरकालानुवर्तनेनास्वाद्यत्वाच्च रसत्वम् । न च व्यभिचारित्वम् । तद्धि तदा स्याद्यदि स्वभावत एव न किञ्चित्काललवमुत्पाद्यते ॥ ६९ ॥

बालक्रीड़ा

(मूल) स्तम्भ, स्वेद एवं गद्‌गदिका आदि से करना चाहिए। इसके व्यभिचारी भाव शंका, मोह, दीनता, आवेग, चपलता, जड़ता, त्रास, अपस्मार एवं मरण आदि है।

(मूल) इस विषय में भयंकर शब्द को सुनने एवं भयंकर प्राणी के देखने, संग्राम, अरण्यगमन, शून्यगृह गमन, से भयानक रस को समझना चाहिए किन्तु उत्तम पुरुषों में गुरु एवं राजा के अपराध से कृतक भयानक रस को समझना चाहिए ॥६९॥

गुरु एवं नृप का भी। यहाँ का यह आशय है कि स्त्रियों, नीच पुरुषों एवं बच्चों में भय स्वभावतः होता है उत्तम एवं मध्यम जनों में नहीं होता है इस बात को आगे कहेंगे। वे उत्तम और मध्यम पुरुष भी गुरुओं एवं राजा से कृतक भय का प्रदर्शन करें। क्योंकि भय के अभाव में भय का प्रदर्शन करना अत्यन्त उत्तमत्व का द्योतक होता है। अमात्यों का अप्रभुत्व उत्तम है। जैसा कि यौगन्धारायण का वाक्य है अपनी मनमानी करने में भर्ता से मैं भीत ही हूँ। अनुभावों को ऐसा सुश्लिष्ट सुसंगत करना चाहिए जिससे लोक में गुरु वगैरह को मालूम पड़े कि यह अमुक व्यक्ति सत्य ही डरता है। मूल के कृतकश्च भयानको ज्ञेयः के कृतक शब्द की व्याख्या करते हैं कि अस्वाभाविक बनावटी होने से कृतक है। इस पर प्रश्न होता है फिर यदि ये विभाव कृतक हैं तब इनसे भय स्थायी भाव कैसे उत्पन्न होगा। और भय के अभाव में भयस्थायिभावात्मक भयानक रस भी कैसे होगा। उत्तर। बहुत काल तक भय के अनुवर्तन करने से वह स्वाभाविक मालूम पड़ने लगता है जिसके फलस्वरूप उसमें आस्वाद आने लगता है अतः वह भय रस होता है न कि व्यभिचारी। व्यभिचारी वह तब हो सकता है जब वह स्वाभाविक नहीं हो अर्थात् कृत्रिम हो। कृत्रिम होने में कारण है वह कुछ काल तक निरन्तर नही रहता है।

गात्रमुखदृष्टिभेदैरूरुस्तम्भाभिवीक्षणोद्वेगैः ।
सन्नमुखशोषहृदयस्पन्दनरोमोद्गमैश्च भयम् ॥७०॥
एतत्स्वभावजं स्यात्सत्त्वसमुत्थं तथैव कर्तव्यम् ।
पुनरेभिरेव भावैः कृतकं मृदुचेष्टितैः कार्यम् ॥७१॥

अभिनवभारती

गात्रादीनां भेदो वर्णकर्मसंस्थानादिविपर्ययः । वीक्ष्यमतिक्रम्य अभिवीक्षणं कान्दिशीकत्वेन निर्लक्षचक्षुःकृतम् । उद्वेगः चलनम् । सादो गात्राणां स्रस्तता । मुखस्य तालुनि शेषः । हृदयस्पन्दनमतिवेगेन । इह भयमित्यभिनेयमिति भयानको नित्यमभिनेय इत्यार्यातः सम्बध्यते ।

ता एता ह्यार्या एकप्रघट्टकतया पूर्वाचार्यैर्लक्षणत्वेन पठिताः । मुनिना तु सुखसङ्ग्रहाय यथास्थानं निवेशिताः ।

सत्त्वसमुत्थमिति । सत्त्वं मनस्समाधानं तज्जन्मकमिति । नटस्येयं शिक्षा ।

सा च सर्वविषयेति टीकाकारः । तदिदमसत् । कविनटशिक्षार्थमेव सर्वमिदं प्रकरणम् । लोके विभावानुभावाभिनयादिव्यवहाराभावात् । तस्मादयमत्रार्थः—

बालक्रीड़ा

(मूल) गात्र के टूटने, मुख की सन्नता एवं दृष्टि के भेद से ऊरुओं के स्तम्भ, चारों तरफ देखने, उद्वेग, मुख की सन्नता विवर्णता, तालु के शोष, हृदय के स्पन्दन रोमों के उद्गम से भय का अभिनय करना चाहिए ॥७०॥

(मूल) यह जिस प्रकार स्वाभाविक भय का अभिनय कर्त्तव्य है तथैव सत्वसमुत्थ भय का अभिनय कर्त्तव्य होगा । इस तरह फिर इन्हीं भावों एवं मृदु चेष्टाओं से उत्तम पुरुष निष्ठ कृतक भय का अभिनय करना चाहिए ॥७१॥

गात्र का भेद अवयवसंस्थान का विपर्यय है । मुख का भेद वर्ण का विपर्यय है । दृष्टि का भेद आँखों की क्रियाओं में विपर्यय है । अभिवीक्षण माने वीक्षणीय वस्तु को अतिक्रमण करके कान्दिशीक होना अर्थात् भय से पागल होकर उद्देश्य हीन इधर-उधर देखना । उद्वेग का अर्थ है भय से चलन । साद का अर्थ हैं गात्रों का गिरने जैसा । मुख के तालु में सूखना । अतिवेग से हृदय का स्पन्दन । यहाँ "स्पन्दन रोमोद्गमैश्च भयम्" इस कारिकामें उपात्त भय पद का भयानको नित्यमभिनेयः इस अगली कारिका के अभिनेयः पद से लिंग विपर्यय करके सम्बन्ध है । अतः भयमभिनेयम् इस रूप से अन्वय विवक्षित है उसका अर्थ है कि उक्त कार्यों से भय का अभिनय करना चाहिए । एक प्रघट्टक के रूप में निर्दिष्ट ये वे आर्या हैं जिनको पूर्व आचार्यों ने लक्षण के रूप में पाठ किया था । मुनि ने तो शिष्यों को सुखपूर्वक संग्रह करने के लिए इनका उचित स्थान में निवेश कर दिया । सत्त्व समुत्थं में सत्व का अर्थ मनस्समाधान है । समुत्थं का अर्थ है उस मनः समाधान से जिसका जन्म हो इस प्रकार यह नट की शिक्षा है । वह शिक्षा भय के विषय में ही सीमित नहीं है किन्तु सभी

करचरणवेपथुस्तम्भगात्रहृदयप्रकम्पेन ।
शुष्कौष्ठतालुकण्ठैर्भयानको नित्यमभिनेयः ॥७२॥

अभिनवभारती

एतत्तावद्भयं स्वभावजं रजस्तमःप्रकृतीनां नीचानामित्यर्थः । येऽपि च सत्त्वप्रधानास्तेषां सत्त्वसमुत्थं प्रयत्नकृतमेभिरेवानुभावैः कार्यम् । किन्तु मृदुचेष्टितैः यतस्तत्कृतकम् । पुनः शब्दो विशेषद्योतकः । ननु च किमिति राजादिगुर्वादिभ्यो भयं कृतकं दर्शयति । दर्शयित्वा किमिति मृदून् गात्रकम्पनादीन्प्रदर्शयति । किमिति च भयानक एव कृतकत्त्वमुक्तम् । सर्वस्य हि कृतकत्वमुक्तं भवति । यथा वेश्या धनार्थिनीति कृतकां रतिमादर्शयति—इत्याशङ्क्य साधारणमुत्तरमाह—तथैव कार्यमिति । भये हि प्रदर्शिते गुरुर्विनीतं जानाति । मृदुचेष्टिततया नाधमप्रकृतिमेनं गणयति । कृतकशृङ्गाराद् वेश्योपदिष्टानां न काचित्पुरुषार्थसिद्धिः । तेनैव ह्युक्तेन प्रकारेण कार्यः पुरुषार्थविशेषो लभ्यते । यत्र तु राजा कृतकं परानुग्रहाय क्रोधविस्मयादीन्दर्शयति तत्र व्यभिचारितैव तेषां न स्थायितेत्येतदर्थसूचिकामेव गुरुवंशान्तर प्रसिद्धामार्यां पठति—करचरणेति । नित्यमिति । कृतकत्वेऽकृतकत्वे च ॥ ७२॥

इति भयानकरसप्रकरणम् ॥

बालक्रीड़ा

(मूल) हाथ एवं पैर के कम्पन, स्तब्धता, गात्र के टूटने, हृदय के प्रकम्पन, ओठ तालु एवं कण्ठों के सूखने से भयानक का नित्य अभिनय करना चाहिए ॥७२॥

विषयों के लिए है । ऐसा किसी टीकाकार का मत है । उसके लिए आचार्य कहते हैं कि यह सब प्रकरण कवि और नट की शिक्षा के लिए है । लोक में विभाव अनुभाव एवं अभिनय प्रभृति शब्दों का व्यवहार नहीं है । इसलिए यहाँ यह अर्थ है कि यह भय स्वभाव से रजोगुणी एवं तमोगुणी नीच प्रकृतियों में पैदा होता है । और जो सत्वगुण प्रधान हैं उनमें यह सत्व समुत्थ है यानी समाहित मन के द्वारा प्रयत्न से सम्पन्न किया जाता है अतः इन अनुभावों से इसका अभिनय करना चाहिए । किन्तु मृदु चेष्टाओं से । क्योंकि यह कृतक है। पुनःशब्द विशेष का द्योतक है ।

प्रश्न—राजा गुरु आदि से बनावटी भय को (रंग मंचपर) क्यों दिखाया जाता है कृत्रिम भय का प्रदर्शन करके फिर मृदु चेष्टाओं गात्र कम्पन आदि को क्यों प्रदर्शित करता है । और भयानक को ही कृत्रिम क्यों कहते हैं शृंगार आदि सभी रस कृत्रिम हो सकते हैं । जैसे वेश्या धन को चाहती है अतः कृत्रिम रति का प्रदर्शन करती है । ऐसी आशंका करके साधारण उत्तर कहते हैं कि वैसे ही करना चाहिए । भय के दिखाने पर गुरु विनीत समझता है । मृदु चेष्टाओं के कारण गुरु इसकी अधम प्रकृतियों में गणना नहीं करता है । कृत्रिम शृंगार करने वाली वेश्या को उपदिष्ट पुरुषार्थों में से किसी पुरुषार्थ की सिद्धि नहीं होती है । इसलिए जो प्रकार बतला दिया है उसी शैली से पुरुषार्थ विशेष को करना चाहिए । यह शिक्षा मिलती है । जहाँ तो राजा दूसरों को विनय सिखाने के लिए (यद्यदा-

अथ बीभत्सो नाम जुगुप्सास्थायिभावात्मकः। स चाहृद्याप्रियाचोष्यानिष्टश्रवणदर्शनकीर्तनादिभिर्विभावैरुत्पद्यते। तस्य सर्वाङ्गसंहारमुखविकूणनोल्लेखननिष्ठीवनोद्वेजनादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः। भावाश्चास्यापस्मारोद्वेगावेगमोहव्याधिमरणादयः। अत्रानुवंश्ये आर्ये भवतः—

अभिनवभारती

अथ बीभत्सरसप्रकरणम् ॥

अवसरप्राप्तं बीभत्सरसं लक्षयति—अथेति। हृदयस्यापि किञ्चित्कस्यचिन्निसर्गतोऽप्रयतं लशुनमिव द्विजानाम्। यथा श्लेष्मोपहतस्य क्षीरम्। अप्रियं पित्तादिदोषात्। अचोष्यं स्वरूपेणादुष्टमपि तु मलाद्युपहतम्। अनिष्टं यत्रानिशमुपभुक्तत्वेनेच्छा निवृत्ता। संहारः पिण्डीकरणम्। मुखस्येति तदङ्गानां सङ्कोचनम्।

बालक्रीड़ा

(मूल) अब बीभत्स रस का लक्षण लिखते हैं। बीभक्त रस जुगुप्सा स्थायी भाव स्वरूप है। वह अहृदय, अप्रिय, अचोद्य (अकथनीय) और अवाञ्छित वस्तु के सुनने देखने एवं कीर्त्तन आदि विभावों से उत्पन्न होता है। इसका अभिनय सर्वांग के संहार सिकुड़न, मुख एवं नासिका के विकूणन, उल्लेखन, अंगों की शीर्णता, थूकना एवं उद्वेजन आदि अनुभावों से करना चाहिए। इसके व्यभिचारी भाव अपस्मार, आवेग, मोह, व्याधि, एवं मरण आदि हैं।

यहाँ अनुवंश्य आर्या हैं—

चरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः के अनुसार) क्रोध एवं विस्मय आदि को (कृतकं यथा स्यात्तथा) कृत्रिमरूप में दिखाता है वहाँ वे क्रोध आदि व्यभिचारी ही हैं स्थायी नहीं है। इस बात की सूचना देनेवाली गुरु कुल के अन्तर मध्य में यानी गुरु कुल में (यहाँ अन्तरशब्द मध्य अर्थ का वाचक है जैसा कि कोष में मिलता है—अन्तरमवकाशावधिपरिधानान्तर्द्धि भेदतादर्थ्ये। अवसरमध्यान्तरात्मनि छिद्रात्मीयविना बहिः सदृशे) प्रसिद्ध आर्या को पढ़ते हैं। करचरणेति। नित्यम् इससे कृतकत्व एवं अकृतकत्व दोनों अवस्थायें ग्राह्य हैं ॥७२॥

इस तरह भयानक रस का प्रकरण समाप्त हुआ। अथ बीभत्स रस के प्रकरण का आरम्भ करते हैं।

अब अवसर प्राप्त बीभत्स रस का लक्षण कहते हैं। "अथ" इति। कुछ वस्तुएँ ऐसी हैं जो सभी के हृदय को स्वभाव से ही अप्रयत प्रयत्न से वर्जनीय होते हैं जैसे ब्राह्मणों के लिए लहशुन। कफ से पीडित को दूध कफवर्द्धक होने से अग्राह्य है। पित्तादि दोष से कुछ वस्तु अप्रिय होती हैं पित्त से बिगड़ी हुई जिह्वा के लिए मिश्री कड़वी मालूम देती है। अचोष्य का अर्थ है जो स्वरूप से दुष्ट नही है अपितु मल अमेध्य पदार्थ से दूषित होने से चूषने के योग्य नहीं है। अनिष्ट वह वस्तु है जिसका बराबर उपभोग करते रहने से जिस पर से

अनभिमतदर्शनेन च गन्धरसस्पर्शशब्ददोषैश्च ।
उद्वेजनैश्च बहुभिर्बीभत्सरसः समुद्भवति ॥७३॥
मुखनेत्रविकूणनया नासाप्रच्छादनावनमितास्यैः ।
अव्यक्तपादपतनैर्बीभत्सः सम्यगभिनेयः ॥७४॥

अथाद्‌भूतो नाम विस्मयस्थायिभावात्मकः । स च दिव्यजनदर्शनेप्सितमनोरथावाप्त्युपवनदेवकुलादिगमनसभाविमान -

अभिनवभारती

उल्लेखनं शीर्णत्वम् । निष्ठीवनं कफनिरासनम् । उद्वेजनं गात्रोद्‌धूननम् । नासाप्रच्छादनं दुर्गन्धप्राये दृष्टम् । प्रतिघाताद्व्यक्तानि पादयोः पतनानि । यदि वाऽस्थिकङ्कालाद्याकुले पितृवने सञ्चरतोऽस्फुटितानि पादपतनानि क्वचिद्दीर्घाणि अन्यत्र ह्रस्वानि इति ॥७४॥

इति बीभत्सरसप्रकरणम् ॥

अथाद्भुतरसप्रकरणम् ।

पर्यन्तेऽद्भुत इत्युक्तमतः सर्वान्तेऽद्भुतं लक्षयितुमाह—अथेति । दिव्या गन्धर्वादयः । ईप्सितः शक्यप्राप्तिरर्थः । अन्यो मनोरथः । तयोः प्राप्तिरुपचयनम् ।

बालक्रीड़ा

(मूल) अनभिमत पदार्थ के देखने, दुष्ट गन्ध, दुष्ट रस, दुष्ट स्पर्श, दुष्ट शब्द एवं बहुत प्रकार के उद्वेजक पदार्थों से बीभत्स रस पैदा होता है ॥७३॥

(मूल) मुख एवं नेत्रों के विकूणन टेढ़े करते हुए सिकोड़ने, नासिका के ढ़क लेने, शिर को झुकाने और ऊबड खाबड ऊँचे नीचे पैरों के गिरने से बीभत्स रस का सम्यक् अभिनय करना चाहिए ॥७४॥

(मूल) अब अद्‌भुत रस का लक्षण लिखते हैं। विस्मयस्थायीभाव स्वरूप अद्‌भुत रस होता है। वह अद्‌भुत दिव्यजनों के दर्शन, ईप्सित (जिसको प्राप्त करना असंभव नहीं

इच्छा ही हट गई है निवृत्त हो गई है। मुख का विकूणन मुँह आँख नाक भौंह वगैरह अंगों के सिकोड़ने का उपलक्षण हैं। उल्लेखन यानी घाव। सर्वांग संहार माने अंगों का पिण्डीकरण। निष्ठीवन कफ को थूकना। उद्वेजनं गात्र को कँपाना। नासिका का ढँक लेना जो कि दुर्गंधित वस्तु के अनुभव में आने पर प्रायः देखा गया है या जाता है। आघात प्रतिघात होने पर ठोकर लगने पर पैरों का अव्यक्त पतन। अथवा हड्डी एवं कंकाल से व्याप्त श्मशान में घूमने वाले का अस्फुरित पादपतन अर्थात् कहीं पर डाक-डाक कर लम्बे-लम्बे पैरों को रखना।१७४। इस प्रकार बीभत्सरस का प्रकरण समाप्त हुआ।

अथ अद्‌भुत रस का प्रकरण शुरु किया जाता है। पर्यन्तेऽद्‌भुतः इस प्रकार कहा था अतः सर्व के अन्त में अद्‌भुत का लक्षण करने के लिए कहते हैं। "अथ" इति। दिव्य पद से

मायेन्द्रजालसम्भावनादिभिर्विभावैरुत्पद्यते। तस्य नयनविस्तारानिमिषप्रेक्षणरोमाञ्चाश्रुस्वेदहर्षसाधुवाददानप्रबन्धहाहाकारबाहुवदनचेलाङ्गुलिभ्रमणादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः। भावाश्चास्य आवेगसम्भ्रमजडताचलतादयः। अत्रानुवंश्ये आर्ये भवतः—

यत्त्वतिशयार्थयुक्तं वाक्यं शिल्पं च कर्मरूपं वा।
तत्सर्वमद्भुतरसे विभावरूपं हि विज्ञेयम् ॥७५॥

अभिनवभारती

देवकुले च गमनम्। तस्याद्भुतविभावो येन तत्रत्यं सरसनिवेशादि न क्वचित् दृष्टम्। सभा गृहविशेषः। विमानादीनि दिव्यरथाः। माया रूपपरिवर्तनादिका। इन्द्रजालं मन्त्रद्रव्यवस्तुयुक्त्यादिना असम्भवद्वस्तुप्रदर्शनम्। तस्येत्यद्भुतस्य। हर्षशब्देनात्र तदनुभावाः। साध्विति वदनं साधुवादः। दानं धनादेः प्रबन्धं सततं कृत्वा। हाहाशब्दस्य करणम् चेलस्याङ्गुलेश्च भ्रमणम्।

अतिशेत इत्यतिशयः। अन्यापेक्षया योऽर्थ उत्कृष्टः। तेन वाच्यभूतेन युक्तं यद्वाक्यं यच्च शिल्पं कर्मरूपं कर्मात्मकं, 'प्रशंसायां रूपप्'। सर्वमित्येवंप्रकारमिति

बालक्रीड़ा

(मूल) है) एवं मनोरथ (ईप्सित से भिन्न इष्ट वस्तु) की आप्ति, उपवन एवं देवकुल में गमन, सभा, विमान, माया इन्द्रजाल एवं सम्भावना आदि विभावों से उत्पन्न होता है। इसका अभिनय नयनों के फाड़ने विना पलक झपकाये देखने। रोमोद्गम, स्तम्भ, गद्गदिका, प्रलय अश्रु, स्वेद, हर्ष, साधुवाद, दान के प्रबन्ध करने, हाहाकरके हँसने, बाहु वदन चेल (वस्त्र) एवं अंगुलियों के भ्रमण आदि अनुभावों से करना चाहिए। इसमें व्यभिचारी भाव आवेग, संभ्रम, जड़ता एवं चपलता आदि हैं। इस प्रसंग में अनुवंश्य आर्या है—

(मूल) अतिशय से युक्त जो भी वाक्य, शिल्प एवं प्रशंसित कर्म है (कर्मरूपं पद में प्रशंसा में रूपप् प्रत्यय है) उन सबको अद्भुत रस में विभाव समझना चाहिए ॥७५॥

गन्धर्व आदि का ग्रहण है। ईप्सित वह अर्थ है जिसको प्राप्त करने की इच्छा की जा सकती है। ईप्सित से अन्य इच्छा का नाम मनोरथ है। ईप्सित और मनोरथ की प्राप्ति का नाम उपचयन है। देवकुल में जाना। जिसने देवकुल का आकर्षक निवेश नहीं देखा है उसके लिए देवकुल में जाना अद्भुत रस का विभाव है। सभा एक गृह विशेष है। विमानादि दिव्यरथ हैं। माया का अर्थ है रूप का परिवर्तन आदि। इन्द्रजाल उसे कहते हैं जिसके द्वारा मन्त्र द्रव्य वस्तु एवं युक्ति आदि से असंभव वस्तु को दिखा देना। तस्य का अर्थ है अद्भुत का। हर्ष शब्द से यहाँ हर्ष के अनुभावों का ग्रहण है। साधु-साधु ऐसा कहना साधुवाद है। धन आदि का दान एवं उसका सन्तत प्रबन्ध करना। वदन बाहु चेल (वस्त्र) एवं अंगुली का घुमाना आदि। हाहाशब्द करना अर्थात् ठहाका मारकर हँसना। अतिक्रम

स्पर्शग्रहोल्लुकसनैर्हाहाकारैश्च साधुवादैश्च ।
वेपथुगद्गदवचनैः स्वेदाद्यैरभिनयस्तस्य ॥७६॥

शृङ्गारं त्रिविधं विद्याद्वाङ्नेपथ्यक्रियात्मकम् ।
अङ्गनेपथ्यवाक्यैश्च हास्यरौद्रौ त्रिधा स्मृतौ ॥७७॥

अभिनवभारती

यावत् । स्पर्शग्रहशब्देन तद्विभावादयः । अभिनयो वक्ष्यमाणो लक्ष्यते ।

'किञ्चिदाकुञ्चिते नेत्रे कृत्वा भ्रूक्षेपमेव च ।
तथांसगण्डयोः स्पर्शात्स्पर्शमेवं विनिक्षिपेत् ॥'

(ना. शा. २२-७७) इति ।

गात्रस्योर्ध्वं साह्लादं धूननमुल्लुकसनम् । बहुवचनं प्रकृतिभेदेन प्रकारवैचित्र्यं सूचयति ॥७६॥

इत्यद्भुतरसप्रकरणं समाप्तम् ।

अथ रसेषु भेदप्रदर्शनम्

अथ प्रधानभूतविभावानुगुणभावप्रतिपादनं भेदप्रदर्शनव्याजेन करोति— शृङ्गारमित्यादिना । वाक्यरौद्रो हि तत्र स्वभावरौद्र इति व्यवहरिष्यते । स्वभावानुसारित्वाद्वाक्यस्य । धर्मोपघातज उत्तमानामपि शोचनहेतुत्वात् । शोकशब्देन

बालक्रीड़ा

(मूल) स्पर्शग्रह यानी अद्‌भुतरस के विभावों, उल्लुकसन बड़े आनन्द के साथ गात्र का ऊपर की तरफ कँपाने, हाहा करके हँसने, साधु-साधु कहने, वेपथु, गद्‌गद बचनों एवं स्वेद आदि से अद्‌भुत रस का अभिनय करना चाहिए ॥७६॥

(मूल) वाणी, नेपथ्य एवं क्रिया रूप तीन प्रकार से युक्त शृंगार हास्य एवं रौद्र को समझना चाहिए ॥७७॥

कर जाना अतिशय है। अन्य की अपेक्षा जो अर्थ उत्कृष्ट है। उस वाच्यभूत अर्थ से युक्त जो वाक्य जो शिल्प एवं प्रशंसनीय कर्म अर्थात् इस तरह का जो कुछ भी है वह सब स्पर्श ग्रह शब्द से उसके विभावादि को लेना । अभिनय जिसको आगे कहेंगे ।

नेत्रों कों कुछ आकुंचित एवं भ्रूका क्षेप करके अंस कन्धे और कपोल के स्पर्श से स्पर्श का अभिनय करे ।

गात्रको बड़े आनन्द के साथ कँपाना उल्लुकसन कहलाता है। स्पर्शग्रह इत्यादि श्लोक के पांच पदों में उपात्त बहुवचन प्रकृति भेद से प्रकार वैचित्र्य को सूचित करता है। इस प्रकार अद्‌भुत रसका प्रकरण समाप्त हुआ ।

अब रसौं में भेदों का प्रदर्शन करते हैं। अब प्रधानभूत विभावों के अनुगुण भावों का प्रतिपादन उनके भेदों के प्रदर्शन के बहाने करते हैं। शृंगारमित्यादि से। वाक्यरौद्र को

धर्मोपघातजश्चैव तथार्थापचयोद्भवः ।
तथायोगकृतश्चैव करुणस्त्रिविधःस्मृतः ॥७८॥
दानवीरं धर्मवीरं युद्धवीरं तथैव च ।
रसं वीरमपि प्राह ब्रह्मा त्रिविधमेव हि ॥७९॥

अभिनवभारती

स्वजनादिनाशश्च । एते त्रयो विभावाः । धर्मशब्देनाग्निष्टोमादिक्रिया । अत एतद्य जनादि नियमानुभावात्मकम् । प्रतिनायकगतं तु विभावरूपमपि । व्याजादिति । कृतक इत्यर्थः । अनेनानुभावमार्दवं दर्शितम् । अपराध्यन्तीत्यपराधाश्चोरादयः । यत्तु स्वभावत्रस्तहृदयानां स्त्रीबालादीनां तृणेऽपि कम्पमाने भयं तद्वित्रासितकम् । विशेषेण त्रास्यत इति वित्रासितो बालादिः । तत्प्रकृतित्वाद्भयानकं तथोक्तम् । ततः संज्ञायां कन् ।

गुर्वाद्यपराधात्परमार्थतोऽप्युत्तमानां भयावेग इति त्वसत् । भयं हि विनाश-शङ्कात्मकं नोत्तमेषु संभवति । यथा च भयं नाम स्त्रीनीचप्रकृतिकमिति सामान्येन लक्ष्यते ।

बालक्रीड़ा

(मूल) धर्म के उपघात, अर्थ के विनाश तथा अयोग के कारण करुण तीन प्रकार का है ॥७८॥

(मूल) ब्रह्मा जी ने वीर रस को दानबीर धर्म वीर एवं युद्धवीर भेद से तीन प्रकार का कहा है ॥७९॥

यहाँ स्वभावरौद्र कहेंगे । क्योंकि वाक्य का प्रयोग व्यक्ति अपने स्वभाव के अनुसार करता है । धर्म के उपघात से करुण उत्पन्न होता है । जो कि वह उत्तमपुरुषों के शोक का कारण होता है । शोक शब्द से स्वजनादि का नाश कहा है । ये तीन विभाव है । धर्म शब्द से अग्निष्टोमादि क्रियाओं का ग्रहण है । इन का यजन नियम से अनुभाव स्वरूप है । प्रतिनायक निष्ठ विभाव भी अनुभाव है । व्याज से कहने का आशय है कि भय कृतक हैं । इससे कृतक भय के अनुभावों में चेष्टाओं में मृदुता दिखलाई । जो अपराध करते हैं वे चोर यहाँ अपराध शब्द से गृहीत हैं । स्वभाव से ही जिनका हृदय डरपोक है ऐसी स्त्री बालक एवं नीच प्रकृति पुरुष उनको जो तिनके के हिलने पर भय होता है उसे वित्रासितक कहते हैं । विशेष रूप से डराये जाते हैं इसलिए वित्रासित बाल आदि हैं । उनकी प्रकृति ही वैसी है इसलिए भयानक को वैसा कहा । यहाँ भी धातु से संज्ञा में अनेक प्रत्यय होते हैं । और भी के ईकार को गुण एवं अयादेश होता है । अथवा वित्रासित शब्द से संज्ञा में कन् प्रत्यय करने पर वित्रासितक बना है ।

गुरु एवं राजा आदि के साथ अपराध करने पर उत्तम पुरुषों को भी परमार्थतः भय का आवेग होता है । यह कहना असत् है । क्योंकि भयका अर्थ है विनाश की शंका ।

व्याजाच्चैवापराधाच्च वित्रासितकमेव च।
पुनर्भयानकश्चैव विद्यात् त्रिविधमेव हि ॥८०॥
बीभत्सः क्षोभजः शुद्ध उद्वेगी स्यात् द्वितीयकः।
विष्ठाकृमिभिरुद्वेगी क्षोभजो रुधिरादिजः ॥८१॥
दिव्यश्चानन्दजश्चैव द्विधा ख्यातोऽद्भुतो रसः।
दिव्यदर्शनजो दिव्यो हर्षादानन्दजः स्मृतः ॥८२॥

अभिनवभारती

रुधिरान्त्रादिदर्शनाद्यो बीभत्सः क्षोभणत्वाच्छुद्धः। यस्तु विष्ठादिभ्यः स उद्वेगी हृदयं चलयति सोऽशुद्धः। अशुद्धविभावकत्वात्। उपाध्यायस्त्वाह—बीभत्सस्तावद्विभावविशेषात्। यत्र तु संसारनाट्यनायकरागप्रतिपक्षतया मोक्षसाधनत्वाच्छुद्धः। यदाहुः—'शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा' इति। तथा 'वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्।' (योगसू. २.४०,३३) इति। तेन सोऽपि परमार्थतस्त्रिविध एव। द्वितीयक इत्यनेन तस्य दुर्लभत्वेनाप्राचुर्यं सूचयति।

दिव्य इति। यत्र सभाविमानादयोऽनुभावाः। आनन्दयतीत्यानन्दो मनोरथावाप्त्यादिः। स एव हर्षयतीति हर्षः।

बालक्रीड़ा

(मूल) व्याज यानी किसी बहाने से (कृत्रिम) अपराध एवं डरादेने वाली वस्तुओं से त्रिविध भयानक को जानना चाहिए।।८०।।

(मूल) बीभत्स दो प्रकार का है एक क्षोभज जो कि शुद्ध है द्वितीय उद्वेगी। उनमें विष्ठा एवं उसके कृमियों से उत्पन्न होने वाला उद्वेगी है और रुधिर आदि को देखकर होने वाला क्षोभज है ॥८१॥

(मूल) अद्भुत रस दो प्रकार का है। एक दिव्य दूसरा आनन्द जन्य। दिव्य के दर्शन से दिव्य और हर्षोद्रेक से आनन्दज होता है ॥८२॥

वह शंका उत्तम पुरुषों को नहीं होती है। जैसा कि भय वह पदार्थ है जो स्त्री, बाल एवं नीचों में स्वभावतः रहता है ऐसा सामान्यरूप से लक्षण किया है। रुधिर एवं अन्त्र आदि के दर्शन से जो बीभत्स होता है वह क्षोभकारी है वह शुद्ध है। और जो तो विष्ठा आदि के द्वारा होता है वह उद्वेगी है। जो हृदय को चंचल कर देता है वह अशुद्ध है। क्योंकि वह अशुद्ध विभावों से पैदा हुआ है। उसपर उपाध्याय जी तो कहते हैं कि जो बीभत्स विभाव विशेष के कारण संसार रूपी नाटक के नायक में रहने वाले राग के प्रतिपक्ष विरोधी रूप होने से मोक्ष का साधन है वह शुद्ध है। जैसा कि कहा है शौच से अपने अंगों में जुगुप्सा होने लगती हैं। वितर्कों के द्वारा बाधा उपस्थित होने पर उन वितर्कों में प्रतिपक्ष की भावना करनी चाहिए। इसलिए वस्तुतः वह बीभत्स भी तीन प्रकार का ही है

अथ शान्तो नाम शमस्थायिभावात्मको मोक्षप्रवर्तकः। स तु तत्त्वज्ञानवैराग्याशयशुद्ध्यादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते। तस्य यमनियमाध्यात्मध्यानधारणोपासनसर्वभूतदयालिङ्गग्रहणस्तम्भ रोमाञ्चादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः। व्यभिचारिणश्चास्य

अभिनवभारती

एषु च 'शृङ्गारम्' इत्यादिषु श्लोकेषु चकारा विभावानुभावान्तरनिरासशङ्कां पराकर्तुम्। एवकाराः इयन्त एव तेषां मुख्यत्वेन सङ्गता इति दर्शनार्थाः। तथाशब्दा अनुक्तविभावाद्यूहनार्था इति यथायोगं योज्यम्। (८२)

इति रसानां भेदप्रदर्शनम्

अथ शान्तरसप्रकरणम्

ये पुनर्नव रसा इति पठन्ति तन्मते शान्तस्वरूपमभिधीयते। तत्र केचिदाहुः— शान्तः शमस्थायिभावात्मकस्तपस्यायोगसम्पर्कादिभिः विभावैरुत्पद्यते। तस्य कामक्रोधाद्यभावरूपैरनुभावैरभिनयः। व्यभिचारी धृतिमतिप्रभृतिः। इति।

एतदपरे न सहन्ते। शमशान्तयोः पर्यायत्वात्। एकान्नपञ्चाशद्भावा इति सङ्ख्यात्यागात्। किञ्च विभावा ऋतुमाल्यादयस्तत्समनन्तरभाविनि शृङ्गारादावनुसन्धीयन्ते इति युक्तम्। तपोऽध्ययनादयस्तु न शान्तस्य, शमस्य [ये] हेतवः।

बालक्रीड़ा

(मूल) अब शान्त रस का लक्षण लिखते हैं। मोक्ष में प्रवृत्त करने वाला निर्वेद स्थायी स्वरूप शान्त रस है। वह तत्त्वज्ञान वैराग्य एवं आशय (चित्त) की शुद्धि आदि विभावों से उत्पन्न होता है।

(मूल) इसका अभिनय यम, नियम एवं आत्मविषयक ध्यान धारण और उपासन तथा सब भूतों पर दया, लिंगों माने व्रत या संन्यास आदि के चिह्नों का ग्रहण कर स्तब्धता एवं रोमाञ्च आदि अनुभवों से करना चाहिए।

इसके व्यभिचारी भाव है शम, स्मृति धृति एवं सर्वाश्रम सम्बन्धी शौच आदि हैं।

द्वितीयक कहने का आशय है कि वह कथा दुर्लभ होने से उसकी अप्रचुरता को सूचित करता है। दिव्य वह है जहाँ देव सभा एवं देव विमान आदि विभाव हैं। जो आनन्दित करते हैं वे मनोरथावाप्ति आदि आनन्द हैं। वही हृष्ट कर देता है अतः हर्ष है। इन शृंगारम् आदि ६ श्लोकों में चकारों का उपन्यास उक्त विभाव एवं अनुभावों से अतिरिक्त विभाव एवं अनुभावों के निरास करने की शंका को हटाने के लिए किया है। एवकार से यह दिखलाते हैं कि उतने ही उनमें मुख्य रूप से संगत हैं। और तथा शब्द अनुक्त विभावों की ऊहा करने के लिए कहे हैं ऐसी युक्ति के अनुसार व्यवस्था करनी चाहिए।

अब शान्तरस के प्रकरण का आरम्भ करते हैं। जो तो नो रस मानते हैं उनके मत में शान्त के स्वरूप को कहते हैं। उसके विषय में कोई कहते हैं शान्त का स्थायी भाव

निर्वेदस्मृतिधृतिसर्वाश्रमशौचादयः । अत्रार्याः श्लोकाश्च भवन्ति—

अभिनवभारती

तत्त्वज्ञानस्यानन्तरहेतव इति चेत्पूर्वोदिततत्त्वज्ञानेऽपि तर्हि एषां प्रयोज्यतेति तपोऽध्ययनादीनां विभावता त्यक्ता स्यात्। कामाद्यभावोऽपि नानुभावः। अशान्ताद्विपक्षादव्यावृत्तेः। अगमकत्वात्प्रयोगासमवायित्वाच्च। न हि चेष्टाव्युपरमः प्रयोगयोग्यः। सुप्तमोहादयोऽपि हि निःश्वासोच्छ्वासपतनभूषिततादिभिश्चेष्टाभिरेवानुभाव्यन्ते। धृतिप्रभृतिरपि प्राप्तविषयोपभोगः कथं शान्ते स्यात्। न चाकिञ्चित्करत्वमात्रेण तत्त्वज्ञानोपाये व्युत्पाद्यन्ते विनेयाः; परदुःखदुःखितमनसो दृश्यन्ते सम्यग्दर्शनसमावस्थां प्राप्ताः। अपि तु संसारे। तन्न शान्तो रस इति।

अत्रोच्यते—इह तावद्धर्मादित्रितयमिव मोक्षोऽपि पुरुषार्थः। शास्त्रेषु स्मृतीतिहासादिषु च प्राधान्येनोपायतो व्युत्पाद्यत इति सुप्रसिद्धम्। यथा च कामा-

बालक्रीड़ा

शम है उसकी उत्पत्ति तपस्या एवं योगिसम्पर्क आदि से होती है। और उसका अभिनय काम क्रोध एवं भय आदि के अभाव रूप अनुभावों एवं धृति मति व्यभिचारियों से किया जाता है। इति। इसका अपर लोग सहन नहीं करते हैं। वे कहते हैं कि शम और शान्त पर्याय हैं। इसके सिवाय यह बात भी है कि यदि शम को स्थायी भाव मानोगे तो ४९ भाव होते हैं ऐसी मुनि के द्वारा गणना की गई भावों की संख्या का त्याग करना पड़ेगा। किंच ऋतु एवं माला आदि उद्दीपन विभावों का उनके समनन्तरभावी शृंगार आदि में अनुसन्धान किया जाता है यह युक्त है। तप एवं अध्ययन आदि जो अंतःकरण के शम के हेतु हैं वे शान्त के हेतु नहीं है।

अगर कहे कि ये तप और अध्ययन आदि तत्वज्ञान के अन्तर अवकाश से रहित अर्थात् साक्षात् हेतु है तो पहिले बतलाये हुए तत्त्वज्ञान में भी इनका प्रयोग होना चाहिए। इसतरह तो तप एवं अध्ययन आदि शम के विभाव नहीं बन पायेंगे। और विपक्ष अशान्त से व्यावृत्ति नहीं होने के कारण और शान्त के गमक नही होने तथा प्रयोग में समवायी नहीं होने से काम क्रोध एवं भय आदि का अभाव अनुभाव नहीं बनेगा। क्योंकि चेष्टाओं के उपराम का प्रयोग अभिनय तत्वज्ञान की अवस्था मे नही हो सकता है। जिन में चेष्टा का विराम है उन सुप्तत्व मोह आदि का भी निःश्वास उच्छ्वास एवं भूमि में पतन और उषितत्त्व निवास (भूषितनिःशेष परिजनं देव की तरह उषित शब्द यहाँ है) आदि से अनुभव किया जाता है। विषयों का उपभोग जिस में प्राप्त हो चुका है ऐसे धृतिप्रभृति भी शान्त में व्यभिचारी कैसे हो सकेंगे। यदि कहें कि केवल अकिंचित्करता से तत्त्वज्ञान के उपाय के विषय में इन विनेयों को व्युत्पन्न नहीं किया जाता है। अपितु संसार में ये विनेय दूसरों के दुःख से दुखित मन वाले अतएव सम्यक् ज्ञान से सम अवस्था को प्राप्त हुए दिखाई देते हैं। अतः शान्त रस नहीं हैं।

अभिनवभारती

दिषु समुचिताश्चित्तवृत्तयो रत्यादिशब्दवाच्याः कविनटव्यापारेणास्वादयोग्यताप्रापणद्वारेण तथाविधहृदयसंवादवतः सामाजिकान्प्रति रसत्वं शृङ्गारादितया नीयन्ते तथा मोक्षाभिधानपरमपुरुषार्थोचिता चित्तवृत्तिः किमिति रसत्वं नानीयत इति वक्तव्यम्। या चासौ तथाभूता चित्तवृत्तिः सैवात्र स्थायिभावः। एतत्तु चिन्त्यम्। किं नामासौ—तत्त्वज्ञानोत्थितो निर्वेद इति केचित्। तथा हि—दारिद्र्यादिप्रभवो यो निर्वेदः स ततोऽन्य एव। हेतोस्तत्त्वज्ञानस्य वैलक्षण्यात्। स्थायिसञ्चारिमध्ये चैतदर्थमेवायं पठितः। अन्यथा माङ्गलिको मुनिस्तथा न पठेत्। जुगुप्सां च व्यभिचारित्वेन शृङ्गारे निषेधन्मुनिर्भावानां सर्वेषामेव स्थायित्वसञ्चारित्वचिन्तनात्तावन्ति अनुभावत्वानि योग्यतोपनिपातितानि शब्दार्थबलाकृष्टान्यनुजानाति।

तत्त्वज्ञानजश्च निर्वेदः स्थाय्यन्तरोपमर्दकः। भाववैचित्र्यसहिष्णुभ्यो रत्यादिभ्यो यः परमः स्थायिशीलः स एव हि स्थाय्यन्तराणामुपमर्दकः। इदमपि पर्यनुयुञ्जते—तत्त्वज्ञानजो निर्वेदोऽस्य च स्थायीति वदता तत्त्वज्ञानमेवात्र विभावत्वेनोक्तं स्यात्। वैराग्यबीजादीषु कथं विभावत्वम्। तदुपायत्वादिति चेत्कारणकारणेऽयं विभावताव्यवहारः। स चातिप्रसङ्गावहः।

बालक्रीड़ा

इस पर उत्तर देते हैं कि यहाँ धर्म आदि अर्थात् धर्म (अर्थ एवं काम) तीन पुरुषार्थो की तरह मोक्ष भी चतुर्थ पुरुषार्थ है। स्मृति एवं इतिहासादि में तथा और शास्त्रों में धर्मादि को प्रधानता के साथ उपाय के रूप में सिखाया जाता है। यह सुप्रसिद्ध है। और जैसे कामादि पुरुषार्थों के समुचित और रत्यादि शब्दों से वाच्य चित्तवृत्तियाँ कवि और नट के व्यापार से आस्वाद की योग्यता को पहुँचादेने पर उस तरह के हृदय के संवाद वाले सामाजिकों के प्रति शृंगार आदि रूप से रस बनजाती हैं वैसे ही मोक्ष नामक परम पुरुषार्थ के उचित चित्तवृत्ति भी क्यों नहीं रस बनजायगी। इसका उत्तर दीजिए। इस लिए जो इस तरह की चित्तवृत्ति है वही यहाँ पर स्थायी भाव है। यह तो विचारणीय है कि इस का नाम क्या है। उत्तर। तत्त्व ज्ञान से उत्पन्न निर्वेद है। ऐसा कोई कहते हैं। जैसे कि दारिद्रच से उत्पन्न होने वाला निर्वेद इस तत्त्वज्ञानोत्थ निर्वेद से अन्य ही है। क्योंकि इन के हेतु तत्त्वज्ञान एवं दारिद्रच में वैलक्षण्य हैं। इसी विलक्षणता के बदौलत ही इस निर्वेद का स्थायी एवं संचारी भावों के मध्य में पाठ किया है। अन्यथा यदि विलक्षणता नहीं होती तो मांगलिक मुनि वैसे नहीं पढ़ते। और जुगुप्सा का व्यभिचारी के रूप से शृंगार में निषेध करने वाले मुनि ने सभी भावों में स्थायित्व और संचारित्व का चिन्तन किया है अतः योग्यता से प्राप्त और शब्द और अर्थ के बल से आकृष्ट उतने ही अनुभावों की अनुज्ञा करी है।

तत्वज्ञान से जन्य निर्वेद अन्य 'स्थायी भावो का उपमर्दक है। अन्य स्थायी भावों का उपमर्दक वही भाव हो सकता है जो भावों के वैचित्र्य को सहने वाले रत्यादि की अपेक्षा से परम स्थायी स्वभाव वाला है। यह भी प्रश्न होता है कि तत्त्वज्ञान जनित निर्वेद शांत का स्थायी होता है। ऐसी स्थिति में मुनि को कहना पड़ेगा कि तत्वज्ञान ही

अभिनवभारती

किञ्च निर्वेदो नाम सर्वत्रानुपादेयताप्रत्ययः। वैराग्यलक्षणः। स च तत्त्वज्ञानस्य प्रत्युतोपयोगी। विरक्तो हि तथा प्रयतते यथाऽस्य तत्त्वज्ञानमुत्पद्यते। तत्त्वज्ञानाद्धि मोक्षः। न तु तत्त्वं ज्ञात्वा निर्विद्यते निर्वेदाच्च मोक्ष इति। 'वैराग्यात्प्रकृतिलयः।' इति हि तत्र भवन्तः (ई. कृ. सांख्यकारिका. ४५.)।

ननु तत्त्वज्ञानिनः सर्वत्र दृढतरं वैराग्यं दृष्टम्। तत्र भवद्भिरप्युक्तं—तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्' इति (योगसूत्र-१-१६)। भवत्येवम्। तादृशं तु 'वैराग्यं ज्ञानस्यैव परा काष्ठा।' इति (व्यासभाष्य-१-१६) भुजङ्गविभुनैव भगवताऽभ्यधायि। ततश्च तत्त्वज्ञानमेवेदं वैराग्यमालयं परिपोष्यमाणमिति न निर्वेदः स्थायी। किन्तु तत्त्वज्ञानमेव स्थायीति भवेत्। यत्तु व्यभिचारिव्याख्यानावसरे वक्ष्यते तच्चिरकालविभ्रमविप्रलब्धस्योपादेयत्वनिवृत्तये। यत्सम्यग्ज्ञानम्—

यथा—

'वृथा दुग्धोऽनड्वांस्तनभरनता गौरिति परं
परिष्वक्तः षण्डो युवतिरिति लावण्यरहितः।

बालक्रीड़ा

शान्त में विभाव होता है। तब पुनः प्रश्न होता है कि वैराग्य के बीज तत्त्वज्ञान में विभावत्व कैसा। क्योंकि वहतो उसका उपाय है। यदि कारण के कारण में विभावत्व का व्यवहार होगा तो अतिप्रसंग हो जायगा।

सभी विषयों में अनुपादेयता का प्रत्यय निर्वेद पद का अर्थ है। जो वैराग्य स्वरूप है। वह अनुपयोगी न होकर प्रत्युत तत्त्वज्ञान का उपयोगी है। विरक्त पुरुष ऐसा प्रयत्न करता है जैसे इसको तत्त्वज्ञान उत्पन्न हो जाय। और तत्त्वज्ञान से मोक्ष होता है। न कि तत्व को समझने से पुरुष को निर्वेद होता है फिर निर्वेद से मोक्ष होता है। जैसा कि ईश्वर कृष्णजी महामुनि ने कहा है कि वैराग्य से प्रकृति का लय होता है। यह सांख्यकारिका की ४५वीं कारिका है।

प्रश्न—तत्त्व ज्ञानी को सभी वस्तुओं पर दृढ़तर वैराग्य देखा गया है। महामुनि पतञ्जलि ने भी योगसूत्र में कहा है कि पुरुष की ख्याति यानी आत्मा का ज्ञान हो जाने और गुणों के विषय में वैतृष्ण्य इच्छा का अभाव होना पर वैराग्य है। ठीक है। ऐसा ही सही। किन्तु उस तरह का वैराग्य ज्ञान की परा काष्ठा है उत्तम दशा है स्थिति है ऐसा भी तो भुजंगविभु शेषावतार भगवान् ने ही कहा। प्रकृति में लीन होने तक पुष्ट होने वाला यह वैराग्य तत्त्वज्ञान ही है अतः निर्वेद स्थायी भाव नहीं है। किन्तु तत्त्वज्ञान ही स्थायी हो सकता है। जो तो व्यभिचारी की व्याख्या करने के अवसर में कहेंगे वह बहुकालीन भ्रान्ति से ठगे हुए व्यक्ति की सांसारिक वस्तुओं में उपादेयत्व बुद्धि थी उसको निवृत्त करने के लिए। जो सम्यक् ज्ञान कहा है—जैसे

गुणों को नही समझने वाले कृपण तुझको अपनी मूर्खता वश प्रणाम करने वाले मैंने स्तन के भार से झुकी हुई धेनु समझकर वृथा बैल का दोहन किया। युवती समझकर

अभिनवभारती

कृता वैडूर्याशा विकचकिरणे काचशकले
मया मूढेन त्वां कृपणमगुणज्ञं प्रणमता ॥' इति

तन्निर्वेदस्य खेदरूपस्य भावत्वेन। एतच्च तत्रैव वक्ष्यामः।

ननु मिथ्याज्ञानमूलो विषयगन्धस्तत्त्वज्ञानात्प्रशाम्यतीति दुःखजन्मसूत्रेणाक्षपादैर्वदद्भिर्मिथ्याज्ञानापचयकारणं तत्त्वज्ञानं वैराग्यस्य दोषापायलक्षणस्य कारणमुक्तम्। ननु ततः किम्। ननु वैराग्यं निर्वेदः। क एवमाह। निर्वेदो हि शोकप्रवाहप्रसररूपश्चित्तवृत्ति विशेषः। वैराग्यं तु रागादीनां प्रध्वंसः।

भवतु वा वैराग्यमेव निर्वेदः। तथापि तस्य स्वकारणवशान्मध्यभाविनोऽपि न मोक्षसाध्ये सूत्र स्थानीयताक्षपादैरचारीव। किञ्च तत्त्वज्ञानोस्थितो निर्वेद

बालक्रीड़ा

लावण्यरहित नपुंसक का वृथा आलिंगन किया। और किरणें जिसमें फैल जाती है ऐसे काँच के टुकड़े में व्यर्थ वैडूर्य मणि की आशा की।

वह खेदरूप निर्वेद का भावरूप से ज्ञान है। यह कैसे है इस बात को उसी समय कहेंगे। प्रश्न—मिथ्याज्ञान मूलक विषयों का गन्ध सम्बन्ध तत्त्वज्ञान से शान्त हो जाता है हट जाता है इस तथ्य को कहते हुए अक्षपाद गौतम आचार्य ने न्याय शास्त्र के द्वितीय सूत्र में मिथ्याज्ञान के अपाय के हेतु तत्त्वज्ञान को दोष के अपाय स्वरूप वैराग्य का कारण कहा है। उत्तर। उससे क्या हुआ पुनः। समझौवल कि वैराग्य ही तो निर्वेद है। पुनः प्रश्न—किसने ऐसा कहा कि वैराग्य ही निर्वेद है। क्योंकि निर्वेद तो शोक के प्रवाह का प्रसर रूप चित्तवृत्ति विशेष है और वैराग्य राग आदि का प्रध्वंस रूप है। अथवा यही सही कि वैराग्य ही निर्वेद है। तब भी जिस "दुःखजन्मप्रवृत्तिदोष मिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः" सूत्र में मोक्ष अपवर्ग साध्य है और अपवर्ग की सिद्धि के कारणों का निरूपण किया है उस सूत्र में अपने (वैराग्य के) कारण मिथ्याज्ञानापाय के अधीन मध्यभावी तत्वज्ञान के कारणों के मध्य में रहने वाले वैराग्य की स्थानीयता प्रसंगीयता अर्थात् प्राप्यता को अक्षपाद ने ज्ञापित नहीं किया। यहाँ का भाव यह है कि नैयायिकों के यहाँ त्रिविध दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति अपवर्ग है। अपवर्ग, निश्रेयस, मोक्ष, त्रिविध दुःखात्यन्तनिवृत्ति, ये सब पर्याय शब्द हैं। अपवर्ग की प्राप्ति तत्त्वज्ञान से कैसे होती है इसके लिए मुनि ने दूसरे सूत्र "दुःखजन्म" को लिखा। इसका अर्थ है कि तत्त्व ज्ञान से मिथ्याज्ञान (अशुचि में शुचिज्ञान, दुःख में सुखज्ञान अनात्मभूत वस्तुओं शरीरादि में आत्मज्ञान) का अपाय नाश होता है। मिथ्याज्ञान के नाश से दोष (राग एवं द्वेष) का नाश होता है। दोष के नाश से प्रवृत्ति नही होगी। प्रवृत्ति के नही होने से जन्म नही होगा। जन्म के अभाव में किसी भी प्रकार के दुःख नही होंगे। इन दुःखों का अभाव ही मोक्ष है। अतः वैराग्य को शान्त के स्थायीभाव मानने में कोई बाधक नही है प्रत्युत साधक ही है। यहाँ स्थानीयता के स्थान पद का अर्थ है प्रसंग। षष्ठी स्थान योगा। स्थानेऽ

अभिनवभारती

इति शमस्यैवेदं निर्वेदनाम कृतं स्यात्। शमशान्तयोः पर्यायत्वं तु हासहास्याभ्यां व्याख्यातम्। सिद्धसाध्यते यदलौकिकालौकिकत्वेन साधारणासाधारणतया च वैलक्षण्यं शमशान्तयोरपि सुलभमेव। तस्मान्न निर्वेदः स्थायीति।

अन्ये मन्यन्ते रत्यादय एवाष्टौ चित्तवृत्तिविशेषा उक्ताः। त एव लोकदृष्ट श्रुतानुमितकथितविभावविविक्ता लौकिकविभावविशेषसंश्रया विचित्रा एव तावत्। ततश्च तन्मध्यादेवान्यतमोऽत्र स्थायी। तत्रानाहतनादव्यक्ताद्वयानन्दमय स्वात्म-विषया रतिरेव मोक्षसाधनमिति सैव शान्ते स्थायिनीति। यथोक्तम्—

'यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥' इति॥ (गीता ३-१७)।

बालक्रीड़ा

न्तरतमः। इन सूत्रों में स्थान का अर्थ प्रसंग लिखा है। स्थानं च प्रसंगः। प्रसंगे सति सदृशतम आदेशः स्यात्। प्रसंग माने प्राप्ति होने पर सदृशतम आदेश होना चाहिए। जैसे यण् की प्राप्ति होने पर इक् के सदृशतम यण् रूप आदेश किया जाता है। इस तरह यहाँ की व्याख्या साफ हो गई।

और भी बात है कि तत्त्वज्ञान से उत्पन्न होने वाला निर्वेद है ऐसा कहने का आशय है कि शम का ही यह निर्वेद नाम किया है। अगर कहें कि शम और शान्त तो पर्याय हैं तब तो उसकी व्याख्या हास एवं हास्य से कर दी गई हैं। जैसे हास स्थायी है हास्य रस है वैसे शम स्थायी है शान्त रस है।

बीच में समझौता करते हैं कि इस तरह की व्याख्या से आप सिद्ध ही का साधन करते हैं क्योंकि रत्यादि स्थायी भाव लौकिक होता है और साधारण होता है अर्थात् सर्वलोक को साधारण रूप से रत्यादि की जानकारी प्रसिद्ध है रस अलौकिक एवं असाधारण होता हैं क्योंकि सिद्धान्त है कि (पुण्यवन्तः प्रमिण्वन्ति योगिवद् रससन्ततिम्) जैसे आत्मा का साक्षा-त्कार कोई योगी ही कर सकता है उसी तरह कोई भाग्यशाली पुण्यवान् प्रमाता ही रस धारा का आस्वादन कर सकता है इस तरह लौकिक एवं अलौकिक, सावारण एवं असाधारण रूप से होने वाला वैलक्षण्य शम एवं शान्त में भी सुलभ है। इसलिए शम ही शान्त का स्थायी है, निर्वेद नहीं है। और लोग मानते हैं कि रत्यादि आठ ही चित्तवृत्तियों को कहा है। वे चित्तवृत्तियां ही लोक में श्रुत, दृष्ट, अनुमित एवं कथित नायक एवं नायिका रूप विभावों से विविक्त पृथक् अतएव अलौकिक मनोमय विभावविशेष का संश्रयण करने वाली विचित्र ही हैं। फलतः उन्ही के बीच में से कोई एक यहाँ शान्त में स्थायी है। उन आठों में अनाहत नाद "ओम्" स्वरूप अद्वय आनन्दमय स्वात्मा में होने वाली रति ही मोक्ष का साधन है अतः वही शान्त में स्थायी है। जैसा कि कहा है—

जो तो आत्मा में ही रति प्रम करता है। आत्मा में तृप्त है। और आत्मा में ही सन्तुष्ट है उसको कुछ भी कर्त्तव्य नहीं है। यहाँ रति तृप्ति एवं सन्तुष्टि में मोद प्रमोद

अभिनवभारती

एवं समस्तविषयं वैकृतं पश्यतो विश्वं च शोच्यं विलोकयतः सांसारिकं च वृत्तान्तमपकारित्वेन पश्यतः सातिशयमसम्भोहप्रधानं वीर्यमाश्रितवतः सर्वस्माद्विषयसार्थाद्बिभ्यतः सर्वलोकस्पृहणीयादपि प्रमदादेर्जुगुप्समानस्यस्यांपूर्वस्वात्मातिशयलाभाद्विस्मयमानस्य मोक्षसिद्धिरिति ।

हासादीनां विस्मयान्तानामन्यतमस्य स्थायित्वं निरूपणीयम्। न चैतन्मुनेर्न सम्मतम्। यावदेव हि 'विशिष्टान्विभावान्परिगणयति आदिशब्देन च तत्प्रकारानेवान्यान्संगृह्णीते तावदेव तद्व्यतिरिक्तालौकिकहेतूपनतानां रत्यादीनामनुजानात्येवापवर्गविषयत्वम्। एवंवादिनान्तु परस्परमेव विचारयतामेकस्य स्थायित्वं विशीर्यत एव। तदुपायभेदात्तस्य तस्य स्थायित्वमित्यप्युच्यमानमगुणमेव प्रत्युक्तमेव। स्थायिभेदेन प्रतिपुरुषं रसस्याप्यानन्त्यापत्तेः। मोक्षैकफलत्वादेको रस इति चेत्, क्षमैकफलत्वे

बालक्रीड़ा

एवं आनन्द की तरह अवान्तर भेद है। या कहिए रति विषयों में आसक्ति है। तृप्ति विषय विशेष के सम्पर्क से होने वाला सुख विशेष है सन्तुष्टि केवल तात्कालिक विषय के लाभ से होने वाला सामान्य सुख है।

इस प्रकार समस्त विषयों को विकृत देखने वाले के लिए हास से, विश्व को शोचनीय समझने वाले के लिए शोक से, सांसारिक व्यवहार को अपकार मानन वाले के लिए क्रोध से, असम्मोहप्रधान ज्ञानप्रमुख वीर्य का आश्रयण करने वाले के लिए उत्साह से, अखिल विषय समूह से डरने वाल के लिए भय से, सर्वलोक की भी स्पृहणीय प्रमदा आदि से जुगुप्सा करने वाले के लिए जुगुप्सा से, अपूर्व सातिशय विषयों के लाभ से विस्मित होने वाले के लिए विस्मय से मोक्ष की सिद्धि होती है अतः क्रमशः हास, या शोक, या क्रोध, या उत्साह या भय या जुगुप्सा या विस्मय शान्त रस का स्थायी भाव है। ऐसा निरूपण करना चाहिए। यह मुनि को सम्मत नहीं हैं यह बात नहीं है। क्योंकि वे जितने विशिष्ट विभावों की परिगणना करते हैं। और क्रीड़ा लीलादिभिर्विभावैः, दोषोदाहरणादिभिर्विभावैः इस प्रकार श्रृंगारादि अद्भुतपर्यन्त रसों के विभावों की गणना करते समय आदि पद के उपन्यास से विभावों के अन्य प्रकारों का भी संग्रह करते हैं उतने ही परिगणितों से व्यतिरिक्त अलौकिक हेतु विभावों से उपनत अर्थात् उपनयन से भात रत्यादि की अनुज्ञा अपवर्ग के अनुकुल विषय के रूप में करते हैं। यहाँ तक अन्यों के मत का उपन्यास किया अब उसका खण्डन करते हैं कि ऐसा कहने वाले जब परस्पर में विचार करते हैं तब किसी एक का स्थायित्व समाप्त हो जाता है। अगर कहें कि उपाय के भेद से उपेय का भेद होता है अतः तदनुसार रति भी स्थायी है, हास भी स्थायी है, ऐसा कहना भी अगुण ही है निष्फल ही है। क्योंकि ऐसी स्थिति में प्रतिपुरुष निष्ठ स्थायी के भेद से रस भी अनन्त हो जायेंगे। यदि कहें कि उपेय मोक्ष रूप एक फल के कारण शान्त रूप एक ही रस होगा।

तब तो क्षमा भूमि रूप (क्षितिक्षान्त्योः क्षमा, युक्ते क्षमे शक्ते हिते त्रिष्वित्यमरः) एक फल की प्राप्ति के साधन वीर एवं रौद्र इन दोनों की भी एकता हो जायगी।

अभिनवभारती

वीररौद्रयोरप्येकत्वं स्यात्। अन्ये तु पानकरसवदविभागं प्राप्ताः सर्व एव रत्यादयोऽत्र स्थायिन इत्याहुः। चित्तवृत्तीनामयुगपद्भावादन्योन्यं च विरोधादेतदपि न मनोज्ञम्।

कस्तर्ह्यत्र स्थायी। उच्यते—इह तत्त्वज्ञानमेव तावन्मोक्षसाधनमिति तस्यैव मोक्षे स्थायिता युक्ता। तत्त्वज्ञानं च नामात्मज्ञानमेव। आत्मनश्च व्यतिरिक्तमनिंद्रियं ज्ञानम्। परो ह्येवमात्माऽनात्मैव स्यात्। विपञ्चितं चैतदस्मद्गुरुभिः। अस्माभिश्चान्यत्र वितन्यत इतीह नातिनिर्बन्धः कृतः।

तेनात्मैव ज्ञानानन्दादिविशुद्धधर्मयोगी परिकल्पितविषयोपरागरहितोऽत्र स्थायी। न चास्य स्थायितयाऽन्येषां स्थायित्वं वचनीयम्। रत्यादयो हि तत्तत्कारणान्तरोदयप्रलयोत्पद्यमाननिरुध्यमानवृत्तयः कञ्चित्कालमापेक्षिकतया स्थायिरूपात्मभित्तिसंश्रयाः सन्तः स्थायिन इत्युच्यन्ते। तत्त्वज्ञानं तु सकलभावान्तरभित्तिस्थानीयं सर्वस्थायिभ्यः स्थायितमं सर्वाः रत्यादिका स्थायिचित्तवृत्तीर्व्यभिचारीभावयत् निसर्गत एव सिद्धस्थायिभावमिति तन्नवचनं, न। अत एव पृथगस्य गणना न युक्ता। न हि खण्डमुण्डयोर्मध्ये तृतीयं गोत्वमिति गण्यते। तेनैकान्नपञ्चाशद्भावा इत्यव्याहतमेव।

बालक्रीड़ा

अन्य तो कहते हैं कि पानक रस की तरह अविभक्त होकर एक रूप में मालूम पड़ने वाले रत्यादि सभी यहाँ शान्त में स्थायी हैं। इस पर कहते हैं कि यह मत भी मनोज्ञ नहीं है। क्योंकि सभी चित्त वृत्तियों का एक साथ भान नहीं हो सकता है क्योंकि मन अणु है तथा विभु के योग्य विशेष गुणों का स्वोत्तरवर्त्ती गुण से नाश होने का नियम भी है। इसके सिवाय भान होने वाली चित्तवृत्तियों का परस्पर में विरोध भी है।

अब प्रश्न होता है कि तब फिर यहाँ कौन स्थायी है। उत्तर। कहते हैं कि तत्त्वज्ञान ही मोक्ष का साधन है। अतः उसीको मोक्ष का स्थायी मानना उचित है क्योंकि तत्त्वज्ञान मानें आत्मज्ञान ही है : और आत्मा का ज्ञान इन्द्रियादि के ज्ञान से व्यतिरिक्त ही है अनिन्द्रिय है और रत्यादि का ज्ञान इन्द्रियों का ज्ञान हैं यदि आत्म ज्ञान को भी इन्द्रिय जन्य मानेंगे तो परमात्मा भी अनात्मा होगा। अतः इन्द्रिय से जन्य आत्मज्ञान नहीं है। (ज्ञानान्मुक्तिः) ज्ञान से मुक्ति है इस सिद्धान्त के अनुसार तत्त्वज्ञान ही शान्त में स्थायी है फलतः व्यस्त या समस्त रत्यादि स्थायी नहीं है।

इस विषय को हमारे गुरु जी ने विपञ्चित किया है। हम भी अन्यत्र भगवद्गीता की व्याख्या में वितनन करते हैं। इसलिए यहाँ अभिनव भारती में लिखने का अति निर्बन्ध नहीं किया है। इसलिए परिकल्पना प्रसूत सांसारिक विषयों के उपराग सम्बन्ध से रहित ज्ञान एवं आनन्द आदि विशुद्ध धर्मों से युक्त आत्मा ही स्थायी है। उत्तर। यह नहीं कह सकते हैं। प्रश्न—इस आत्मा को स्थायी मान लेंगे तो अन्य रत्यादिकों का स्थायित्व वचनीय यानी निन्दनीय हो जायगा। अर्थात् वे रत्यादि स्थायी नहीं होंगे। क्योंकि

अभिनवभारती

अस्यापि कथं पृथग्गणनेति चेत्-पृथगास्वादयोगादिति ब्रूमहे। न हि रत्यादय इवेतरासम्पृक्तेन वपुषा तथाविधमात्मरूपं लौकिकप्रतीतिगोचररम्। स्वगतमप्यविकलरूपं व्युत्थानावसरेऽनुसन्धीयमानं चित्तवृत्त्यन्तरकलुषमेवावभाति।

भासतां वा लोके तथा। तथापि न सम्भवन्मात्रं स्थायिनां गणनम्। रसेषूक्तेष्वनुपयोगात्। अपि तु व्यभिचारित्वाल्लक्षणीयत्वं विज्ञायते नेतरथा। तथाह्येकान्नपञ्चाशता भावैरित्येतत्प्रघट्टकोपपत्तिः। शम आत्मस्वभावः न चास्यात्मस्वभावस्य व्यभिचारित्वमसम्भवादवैचित्र्यावहत्वादनौचित्याच्च स शमशब्दो न मुनित्र्यपदिष्टः। यदि तु स एव शमशब्देन व्यपदिश्यते निर्वेदशब्देन वा तन्न कश्चिद्बाधः। केवलं शमश्चित्तवृत्त्यन्तरम्। निर्वेदोऽपि दारिद्र्यादिविभावान्तरोत्थितनिर्वेदतुल्यजातीयो न भवति तज्जातीय एव। हेतुभेदेऽपि तद्व्यपदेश्यो रतिभयादिभिरिव।

बालक्रीड़ा

भिन्न भिन्न कारणों के उदय एवं प्रलय से उत्पद्यमान एवं निरुध्यमान स्थिति वाले रत्यादि, नित्य स्थायी आत्मरूप भित्ति के संश्रय से अपेक्षित रूप से यानी अपेक्षा कृत कुछ काल तक स्थायी हैं इसलिए स्थायी कहलाते हैं। तत्त्व ज्ञान तो सकल अन्य भावों का भित्ति स्थानीय, सब स्थायियों की अपेक्षा अतिशय स्थायी और रत्यादिक स्थायियों को व्यभिचारी बनाता हुआ निसर्ग सिद्ध स्थायी भाव है अतः (तंत्र), नाट्य शास्त्र में इसका वचन कथन नहीं किया और ४९ भावों से अलग इसकी गणना करना उचित नहीं समझा। क्या भला दो मुंडकट्टों के बीच में तीसरे गोत्व की कोई गणना करता है। आत्मा शुद्ध बुद्ध नित्य अद्वय आनन्द चिद्घन की अनात्माओं जड़ों अशुद्धों अनित्यों अनानन्दनों में गणना करना उचित होगा। इस लिए ४९ भाव है यह तथ्य अव्याहत ही है।

प्रश्न—इस शान्त की पृथक् गणना क्यों की। उत्तर। इसका औरों से पृथक् आस्वाद प्राप्त होता है। जैसे रत्यादि औरों से असंपृक्त होकर अलग मालूम पड़ते हैं उस तरह उस प्रकार का आत्मरूप सांसारिक वस्तुओं से असम्पृक्त शरीर वाला लौकिक प्रतीति का गोचर विषय नही होता है। उसका अपना भी अविकल अखण्ड रूप समाधि से उठने की अवस्था में अनुसन्धान करने पर अन्य चितवृत्तियों से कलुष ही सम्पृक्त ही मालूम पड़ता है। असम्पृक्त नही मालूम पड़ता है। अथवा असम्पृक्त मालूम पड़ता है तो मालूम पड़े। तब भी केवल संभव है इसलिए स्थायियों की गणना नही की जाती है। क्योंकि परिगणित रसों में उसका उपयोग नही है। अपि तु व्यभिचारी के रूप से लक्षणीय मालूम पड़ते हैं। और कोई प्रकार नही है। इसी तरह गणना करने से ४९ भावों वाले प्रघट्टक की उपपत्ति हो जाती है। एक बात और भी है कि शम आत्मस्वभाव है अतः आत्मा के स्वरूप वाले इस शम को व्यभिचारी कहना असंभव है, कोई विचित्रता नही है और अनुचित भी है। इसके सिवाय यह बात भी है कि मुनि ने शम शब्द को कहा भी तो नही है। यदि शम शब्द से या निर्वेद शब्द से मुनि कहते तो कोई बाधा नही होती। केवल यही होता कि

अभिनवभारती

तदिदमात्मस्वरूपमेव तत्त्वज्ञानं शमः। तथा च यत्कालुष्योपरागविशेषात्मान एव रत्यादयः। तदनुगमेऽपि विशुद्धमस्य रूपमव्यवधानसमाधिबलादधिगम्य व्युत्थानेऽपि प्रशा(न्तता) भवति। यथोक्तं—'तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात्' (योगसू. ३-१०) इति। तत्त्वज्ञानलक्षणस्य च स्थायिनः समस्तोऽयं लौकिकालौकिकचित्तवृत्तिकलापो व्यभिचारितामभ्येति। अतः तदनुभावा एव च यमनियमाद्युपकृता अनुभावाः। आङ्गिकाध्यायत्रये (९।१०।११) च ये स्वभावाभिनया वक्ष्यन्ते एते तद्विषया एव। अयमेव हि स्वभावः। विभावा अपि कथम्। ईश्वरानुग्रहप्रभृतयः। प्रत्ययाश्च रत्यादयोऽत्रास्वाद्याः। यथा विप्रलम्भे औत्सुक्यं संभोगेऽपि वा 'प्रेमासमाप्तोत्सवम्' केवलम् (तापसवत्सराज. १-१७) इति। यथा रौद्रे औग्र्यं यथा च करुणवीरभयानकाद्भुतेषु निर्वेदधृतित्रासहर्षा व्यभिचारिणोऽपि प्राधान्येनावभासन्ते तथा न जुगुप्सायाम्। सर्वथैव रागप्रतिपक्षत्वात्।

बालक्रीड़ा

शम एक चित्तवृत्ति है निर्वेद भी दारिद्रय आदि अन्य विभावों से उत्पन्न निर्वेद के तुल्य जातीय नही है अथवा तुल्य जातीय ही है। तत्वज्ञान एवं दारिद्रय रूप हेतुओं के भेद होने पर भी उन्ही से वह व्यपदेश्य होता है जैसे भिन्न २ हेतुओं से होने वाले रति एवं भय आदि कोई रति अमुक स्त्री से उत्पन्न है कोई रति इस स्त्री से। कोई भय सांप से कोई व्याघ्र से या सिंह से इत्यादि। इसलिए यह आतमस्वरूप ही तत्त्वज्ञान शम है। और उस आत्मस्वरूप में जो कालुष्य का उपरागविशेष सम्वन्धविशेष है तदात्मा तत्स्वरूप ही रत्यादि चित्तवृतियाँ है। इसी बात को पहिले भी कह आये हैं कि स्वगतमपि अविकलरूपं···चित्तवृत्त्यन्तरकलुषमेवावभाति। उसकालुष्य के अनुगम सम्बन्ध होने पर भी समाधि के बल से इसको (अव्यवधान) व्यवधान कालुष्य रहित अत एव विशुद्ध रूप को जानकर व्युत्थान काल में भी प्रशान्त स्वरूप का अनुभव होता है। जैसा कि योगदर्शन कार ने कहा है कि संस्कारों के अनुस्यूत रहने से उस चित्त की प्रशान्तवाहिता रहती है तत्वज्ञान रूप स्थायी की अपेक्षा यह समस्त लौकिक एवं अलौकिक चित्तवृत्ति कलाप व्यभिचारी के रूप को प्राप्त होते हैं। अतः यम एवं नियम आदि से उपकृत संस्कृत उसके अनुभव ही अनुभाव हैं। और आंगिक अभिनय के प्रतिपादक तीन अध्यायों में जिस स्वभाव के अभिनयों को कहेंगे वे तद्विषयक ही हैं। यह शान्त रस ही स्वभाव है प्रकृति है। अन्य सब रस विकार हैं। प्रश्न—जब शान्तरस स्वभाव है प्रकृति अर्थात् अजन्य है तब उसके विभाव कैसे। क्योंकि स्थायी विभावों से उत्पन्न होते हैं अत एव सभी रसों के प्रकरणों में लिखा है कि स च विभावैरुत्पद्यते। उत्तर। शान्त अन्य रसों का प्रकृति है अर्थात् अन्य रसों से अजन्य है। किन्तु ईश्वरानुग्रह प्रभृति विभाव है। अतएव रत्यादि जो अन्यत्र आस्वाद्य हैं वे यहाँ प्रक्षय हैं व्यभिचारी हैं। जैसे विप्रलम्भ में केवल औत्सुक्य, सम्भोग में जिसका उत्सव समाप्त नहीं हुआ है अर्थात् अपुष्ट है वह केवल प्रेम, जैसे रौद्र में केवल उग्रता और जैसे करुण में निर्वेद वीर में धृति, भयानक में त्रास, एवं अद्भुत में हर्ष व्यभिचारी भी प्रधान रूप से मालूम पड़ते हैं। वैसे जुगुप्सा में नहीं। क्योंकि जुगुप्सा सर्वथा राग का प्रतिपक्षी है।

अभिनवभारती

यथा हि—महाव्रते नरकपालादिधारणम् सुराभार्यादिसम्मदादिविस्तार-संक्षेपादिकर्मीकृतिर्हि धर्मे जुगुप्साहेतुत्वेनैव। निजाङ्गाभ्यञ्जनेन च देवरात्पुत्र-जन्माद्युपदिष्टम्।

स्वात्मनि च कृतकृत्यस्य परार्थघटनायामेवोद्यम इत्युत्साहोऽस्य परोपकारविष-येच्छाप्रयत्नरूपो दयापारपर्यायोऽभ्यधिकोऽन्तरङ्गः। अत एव तत्केचिद्दयावीरत्वेन व्यपदिशन्ति। अन्ये धर्मवीरत्वेन।

ननूत्साहोऽहङ्कारप्राणः। शान्तस्त्वहङ्कारशैथिल्यात् तद्विरुद्धात्मकः। व्यभि-चारित्वं हि विरुद्धस्यापि न नोचितं रताविव निर्वेदादेः।

'शय्या शाद्वलमासनं शुचि शिला सद्म द्रुमाणामधः
शीतं निर्झरवारि पानमशनं कन्दाः सहाया मृगाः।
इत्यप्रार्थितसर्वलभ्यविभवे दोषोऽयमेको वने
दुष्प्रापार्थिनि यत्परार्थघटनावन्ध्यैर्वृथा स्थीयते॥ (नागानन्द ४-२)

इत्यादौ हि परोपकारकरणे ह्युत्साहस्यैव प्रकर्षो लक्ष्यते। न तूत्साहशून्या काचिदप्य-वस्था। इच्छाप्रयत्नव्यतिरेकेण पाषाणतापत्तेः। यत एव परिदृष्टपरापरत्वेन स्वात्मो-

बालक्रीड़ा

जैसे अघोर पन्थियों के महाव्रत में नर के जो कपाल अस्थि एवं अंत्र आदि का धारण, एवं सुरा मदिरा तथा भार्या आदि सम्मद जनक पदार्थों का विस्तार या संक्षेप से (कर्मीकृति) उपयोग है वह श्रौत एवं स्मार्त धर्म में जुगुप्सा के हेतु ही हैं। विधवा स्त्री के लिए निज अपने को घृत से अभ्यक्त करके देवर से पुत्रोत्पादन का उपदेश भी घृणा का हेतु है।

जो अपने कृत्य कर्त्तव्यों कों (कृत) करचुका है उस महापुरुष का पदार्थ की घटना सम्पादन में ही उद्यम होता है इस लिए इस परोपकारी का दूसरों के हित में इच्छा से प्रयत्न करना जो दया का अपर पर्याय है अधिक अन्तरंग है। अतएव उस शान्त का कोई दयावीर नाम करते हैं तो कोई धर्मवीर के नाम से उसका उपदेश करते हैं। प्रश्न—उत्साह में अहंकार प्राण है प्रधान है और शान्त में अहंकार शिथिल है। अतः अहंकार प्राण वीर से विरुद्ध स्वभाव शान्त है। किन्तु वीरता शान्त में व्यभिचारी हो सकती है। विरुद्ध का भी व्यभिचारी होना उचित है जैसे रति में निर्वेद आदि है।

शाद्वल घास शय्या है। शुद्ध पाषाण शिला आसन है। पेड़ों का अधस्तल गृह है। ठंढा झरने का जल पेय है। कन्दमूल फल भोजन है। मृग साथी हैं। इस प्रकार बन में सभी विभव विना माँगे ही सुलभ हैं अतः गुण बहुत है किन्तु एक दोष है कि अर्थियों का मिलना दुर्लभ है अतः परोपकार के सम्पादन के विना वन्ध्य निष्फल होकर व्यर्थ पड़े रहते हैं।

इत्यादि उदाहरणों में परोपकार करने के लिए उत्साह का ही प्रकर्ष दिखलाई पड़ता है। किन्तु उत्साह शून्य कोई भी अवस्था नही दिखलाई पड़ती है। क्योंकि इच्छापूर्वक

अभिनवभारती

द्देशेन कर्तव्यान्तरं नावशिष्यते अत एव शान्तहृदयानां परोपकाराय शरीरसर्वस्वादिदानं न शान्तविरोधि। 'आत्मानं गोपायेत्' (गौतमधर्मसूत्र ९-३५) इत्यादिना ह्यकृतकृत्यविषयं शरीररक्षणमुपदिश्यते। सन्न्यासिनां तद्रक्षादितात्पर्याभावात्। तथा हि—

'धर्मार्थकाममोक्षाणां प्राणाः संस्थितिहेतवः।
तान्निघ्नता किन्न हतं रक्षता किं न रक्षितम्॥' (हितोपदेश-१.८३) इति

सुप्रसिद्धचतुर्वर्गसाधकत्वमेव देहरक्षायाः निदानं दर्शितम्। कृतकृत्यस्य 'जलेऽग्नौ श्वभ्रे वा पतेत्' इति सन्यासित्वे श्रवणात्। तद्यथाकथञ्चित्त्याज्यं शरीरं यदि परार्थं त्यज्यते तत्किमिव न सम्पादितं भवति। ननु जीमूतवाहनादीनां न यतित्वमिति चेत् किं तेन नः। तत्त्वज्ञानित्वं तावदवश्यमस्ति। अन्यथा देहात्ममानिनां देह एव सर्वस्वभूतः। धर्माद्यनुद्देशेन परार्थे त्यागस्यासम्भवात्। युद्धेऽपि हि न शरीरस्य त्यागायोद्यमः। परापजयोद्देशेनैव प्रवृत्तेः। भृगुपतनादावपि शुभतरदेहान्तरसम्पिपादयिषैवाधिकं विजृम्भते। तत्स्वार्थानुद्देशेन परार्थसम्पत्त्यै यद्यच्चेष्टितं देहत्यागपर्यन्तमुपदेशदानादि तत्तदलब्धात्मतत्त्वज्ञानानामसम्भाव्यमेवेति तेऽपि तत्त्वज्ञानिनः। ज्ञानिनां सर्वेष्वाश्रमेषु मुक्तिः' इति स्मार्तेषु श्रुतौ च। यथोक्तम्—

बालक्रीड़ा

किये गये प्रयत्न के अतिरिक्त अवस्था पाषाण स्वरूपता ही है। इसी लिए जिस ने पर एवं अपर के स्वरूप को समझ लिया है उस को अपने लिए कोई कर्त्तव्य अवशिष्ट नही है। फलतः शान्तहृदय व्यक्ति का दूसरे के हित के लिए शरीर एवं अन्य सर्वस्व आदि का दान शान्तरस का विरोधी नही है। अपनी रक्षा करनी चाहिए इत्यादि जो धर्म सूत्रों में शरीर की रक्षा का उपदेश है वह उस व्यक्ति के लिए है जिसने अपने कर्मो कर्त्तव्यों का सम्पादन नहीं किया है। संन्यासियों का उसकी रक्षा में तात्पर्य नहीं है। जैसा कि एक पद्य है

धर्म अर्थ काम एवं मोक्ष की संस्थिति के हेतु प्राण है। अतः जिसने उन प्राणों का हनन कर दिया है उसने किसका हनन नहीं किया और जिसने उसकी रक्षा की है उसने क्या नहीं सुरक्षित किया।

इस तरह सुप्रसिद्ध चतुर्वर्ग के साधन को ही देह रक्षा का कारण दिखाया। कृत कृत्य के लिए तो सन्यासी के रूप में जल, अग्नि अथवा गर्त्त में पतन ही सुनाई पड़ता है। इस लिए जब शरीर अवश्य ही जिस किसी प्रकार से त्याज्य है तब उस शरीर को यदि दूसरों के उपकार के लिए छोड़ते हैं तो क्या नहीं किया अर्थात् जीवन का फल मिल गया।

प्रश्न—संन्यासी कृतकृत्य के लिए देह त्याग का उपदेश है। जीमूतवाहन तो संन्यासी नहीं हैं। तब क्यों उसे परोपकार के लिए देह त्याग करना चाहिए। उत्तर। इससे हमारा क्या बिगड़ता है। हमारे लिए तो तत्त्व ज्ञानी होना आवश्यक है। अन्यथा तत्त्व ज्ञानी हुए विना देहाभिमानी का देह ही सर्वस्व है अतः धर्मादि को उद्देश्य लक्ष्य बनाये विना दूसरे के लिए देह का त्याग असम्भव ही है। युद्ध में भी शरीर के त्याग के लिए उद्यम

अभिनवभारती

'देवार्चनरतस्तत्त्वज्ञाननिष्ठोऽतिथिप्रियः ।
श्राद्धं कृत्वा ददद् द्रव्यं गृहस्थोऽपि हि मुच्यते ॥' इति

केवलं परार्थाभिसन्धिजाद्धर्मात्परोपकारात्मकफलत्वेनैवाभिसंहितात् पुनरपि देहस्य तदुचितस्यैव प्रादुर्भावो बोधिसत्त्वादीनाम्। तत्त्वज्ञानिनामपि विश्रान्तिलाभस्वभावौचित्यात्। यथा रामस्य वीरोऽङ्गं पितुराज्ञां पालयितुः। एवं शृङ्गाराद्यङ्गेष्वपि मन्तव्यम्। अत एव शान्तस्य स्थायित्वेऽप्यप्राधान्यम्।

जीमूतवाहने त्रिवर्गसम्पत्तेरेव परोपकृतिप्रधानायाः फलत्वात्। अनेनैवाशयेन नाटकलक्षणे वक्ष्यते 'ऋद्धिविलासादिभिर्गुणैः' (ना. शा. १८-११) इति। अनेन हि ऋद्धिविलासप्रधानमर्थकामोत्तरं सर्वं चरितं सकललोकहृदयसंवादसुन्दरप्रयोजनं नाटके निवेशयितव्यमित्युक्तम्। एतच्च तत्रैव वर्णयिष्यामः।

अनेनैव चाशयेन न शान्ते कश्चन (क्वचन) मुनिना ऋद्ध्यङ्को विनियोक्ष्यते। तेन ऋद्ध्यङ्कविनियोगाभावात्तदसत्त्वमिति प्रत्युक्तम्।

बालक्रीड़ा

नहीं है। किन्तु दुश्मन को परास्त करने के लिए ही प्रवृत्ति है। भृगुपतन यानी मनुष्य निर्मित तटादि का सहारा लिए विना अतट प्रपात आदि में भी अतीव शुभ अन्य देह के प्राप्त करने की इच्छा ही उत्कृष्ट होकर विजृम्भित हो रही है। इस लिए अपने प्रयोजन को लक्ष्य में नही रख कर पदार्थ के सम्पादन के लिए जो जो देह त्याग पर्यन्त उपदेश दानादि चेष्टाए हैं वे सब तत्त्वज्ञान को प्राप्त किए विना असम्भव ही है अतः उन चेष्टाओं को करने वाले भी तत्त्वज्ञानी ही हैं। ज्ञानियों की सभी आश्रमों में मुक्ति होती है यह तथ्य स्मृति एवं श्रुति में भी प्रसिद्ध है।

देवताओं की पूजा में निरत रहता है। तत्त्व ज्ञान में निष्ठ है। अतिथि जिसको प्रिय है अर्थात् उनका सत्कार करता है और जो श्राद्ध करता है तथा दान देता है वह घर में रहता हुआ भी मुक्त है।

दूसरे के हित करने की जो अभिसन्धि बदले की भावना उससे जन्य धर्म अर्थात् परोपकारात्मक फल के रूप में अभिसंहित बदले में संकेतित धर्म के कारण उस धर्म के योग्य देह का फिर भी प्रादुर्भाव बोधि सत्वों को होता है। अमुक फल मुझे मिल जाय इस कामना की पूर्ति के लिए किये गये परोपकार रूप धर्म के फल का भोग करने के लिए पुनः शरीरान्तर की प्राप्ति महात्मा संन्यासियों को होती है। और तत्त्वज्ञानियों को भी विश्रान्ति का लाभ होता है यह स्वभाव के उचित है। जैसे पिता की आज्ञा का पालन करने वाले राम का वीर अंग है। पिता की आज्ञा का पालन करना राम का मुख्य कार्य है। उसका पालन करते समय रावणादि राक्षसों के ऊपर विजय प्राप्त करना प्रसंग प्राप्त कार्य हो गया। यही प्रकार शृंगारादि अंगों में भी मानना चाहिए। अत एव जीमूतवाहन में स्थिरता होने पर भी शान्त का प्राधान्य नहीं है क्योंकि परोपकार जिसमें प्रधान है ऐसे धर्म अर्थ काम रूप त्रिवर्ग

अभिनवभारती

अन्ये तु जीमूतवाहनः 'कस्ते पुत्र ! त्राता भविष्यति' (नागानन्द. ४-९) इति शरणार्थिनीं वृद्धामेव त्रातवान्। शक्तिश्चास्य न काचित्। परहिंसा च न काचिदित्येवमाहुः। तच्चानुमतमेव। न हि बोधिसत्त्वानां पुनरप्युत्थानात्मकजीवितमभिसन्धानानुप्रविष्टं शक्तिश्चेति। न च काकतालीयवृत्त्या शास्त्रमुपदिशति। तत्सिद्धं दयालक्षणो ह्युत्साहोऽत्र प्रधानम्।

अन्ये तु व्यभिचारिणो यथायोगं भवन्ति। यथोक्तं 'तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः।' (योगसूत्र ४-२७) इति। अत एव निश्चेष्टत्वादनुभावाभाव इति प्रत्युक्तम्। यदा तु पर्यन्तभूमिकालाभहेतुभावाभाव स्तदास्याप्रयोज्यत्वम्। रतिशोकादावपि पर्यन्तदशायामप्रयोगस्यैव युक्तत्वात्। हृदयसंवादोऽपि तथाविधतत्त्वज्ञानबीजसंस्कारभावितानां भवत्येव। यद्वक्ष्यति 'मोक्षे चापि विरागिणः' (ना. शा. २७-५८) इति। 'सर्वस्य' (ना. शा. १-१०७) इत्यत्र हृदयसंवादे भयानके वीरप्रकृतेरभावात्।

बालक्रीड़ा

का सम्पादन ही फल है। इसी आशय से नाटक के लक्षण करते समय "ऋद्धि विलासादि गुणों से युक्त नायक को होना चाहिए" कहेंगे। इससे यह सिद्ध हुआ कि ऋद्धि एवं विलास जिसमें प्रधान हों अर्थ और काम जिसके उत्तर फल हों ऐसे सकल लोक के हृदयों के संवाद से सुन्दर प्रयोजन वाले सम्पूर्ण चरित का निवेश नाटक में करना चाहिए। इन सब का वर्णन वहीं पर आगे कहेंगे। किसी ने इस पर कहा कि ऋद्धिविलासादि गुणप्रधान अर्थकामोत्तर चरित का नाटक में निवेश करना चाहिए इसी आशय से मुनि शान्त में किसी ऋद्धि विलासादि अंगों का विनियोग नहीं करेंगे। और ऋद्धि विलासादि अंगों के विनियोग के अभाव में नाटक के लक्षण के पूर्ण नहीं होने से नाटक में शान्त की सत्ता नहीं है इसका प्रत्याख्यान हो गया।

अन्य लोगों ने कहा कि "हे पुत्र ? कौन तुम्हारा रक्षक होगा" इस प्रकार वृद्धा के पुकारने पर जीमूतवाहन ने उस शरणार्थिनी वृद्धा की रक्षा की। इसमें न उसकी कोई शक्ति है और न कोई किसी दूसरे की हिंसा है। वह अनुमत ही है। ठीक ही है क्योंकि बोधिसत्त्वों का उत्थानात्मक पुनर्जीवन न अभिसन्धि में प्रविष्ट है न कोई शक्ति उनकी है। और न काकतालीय न्याय से शास्त्र उपदेश देता है। इसलिए सिद्ध है कि यहाँ पर दया लक्षण उत्साह प्रधान है।

अन्य तो योग्यता के अनुसार व्यभिचारी भाव होते हैं। जैसा कहा कि—उसके छिद्रों में अर्थात् समाधि की व्युत्थान दशा में प्राक्तन संस्कारों के अनुसार ज्ञानान्तर होते हैं। अतएव निश्चेष्ट होने से निर्व्यापार होने से शान्त में अनुभावों का अभाव है ऐसा जो कहते हैं वह प्रत्युक्त हो गया। क्योंकि व्यभिचारी व्यंग्य ही होते हैं वाच्य नहीं होते हैं और व्यंग्य होते है वे अनुभावों से। यदि निश्चेष्ट होने से अनुभाव नहीं होंगे तो अनुभावव्यंग्य व्यभिचारी कैसे होंगे। जब तो पर्यन्त भूमिका के मिलने के हेतुओं के अभाव में शान्त अप्रयोज्य

अभिनवभारती

ननु तादृशि प्रयोगे वीरस्य क आस्वादः। उच्यते—यत्र यायं निबध्यते तत्रावश्यं पुरुषार्थोपयोगिशृङ्गारवीराद्यन्यतममस्त्येव। तन्निष्ठस्तेषामास्वादः। यत्रापि प्रहसनदौ हास्यादेः प्रधानता तत्राप्यनुनिष्पादिरसान्तरनिष्ठ एवास्वादो भिन्नभिन्नाधिकारिणः। एतदुद्देश एव रूपक भेदचिन्तननिमित्तमिति केचित्।

तस्मादस्ति शान्तो रसः। तथा च चिरन्तनपुस्तकेषु 'स्थायिभावान् रसत्वमुपनेष्यामः' (ना. शा. पु. २९९) इत्यनन्तरं 'शान्तो नाम शमस्थायिभावात्मकः' (ना. शा. पु. ३३२) इत्यादिशान्तलक्षणं पठ्यते। तत्र सर्वरसानां शान्तप्राय एवास्वादो विषयेभ्यो विपरिवृत्त्या तन्मुख्यतालाभात्केवलं वासनान्तरोपहित इत्यस्य सर्वप्रकृतित्वाभिधानाय पूर्वमभिधानम्। लोके च पृथक्पृथक्सामान्यस्य न गणनमिति स्थाय्यस्य पृथङ्नोक्तः। सामान्यमपि तु विवेचकेन पृथगेव गणनीयमिति विवेचकाभिमतसामाजिकास्वादलक्षणप्रतीतिविषयतया स पृथग्भूत एव। इतिहासपुराणाभिधानकोशादौ च नवरसाः श्रूयन्ते श्रीमत्सिद्धान्तशास्त्रेष्वपि। तथा चोक्तम्—

बालक्रीड़ा

हो जायगा। अर्थात् जब कोई ऐसे हेतु नहीं रहेंगें जिनसे नाटक की पर्यन्त भूमिका का निर्वाह नहीं हो सकता है तब शान्त रस का प्रयोग नहीं करना चाहिए। किन्तु यह स्थिति शान्त में ही केवल नहीं है रति एवं शोक आदि का भी पर्यन्त दशा के लाभ के हेतुओं के अभाव में प्रयोग नहीं करना युक्त ही है। उस प्रकार तत्त्वज्ञान के बीजभूत संस्कारों से भावित व्यक्तियों का हृदय संवाद भी होता है। जैसा कि कहेंगे मोक्ष में भी विराग करने वाले (विलासी लोग) होते हैं। यह नाट्य सम्पूर्ण त्रिलोकी के भावों का अनुकीर्तन है इस कथित हृदय संवाद के विषय में कहते है कि तथाविध संस्कारों के अभाव में भयानक में वीरप्रकृति का अभाव है।

प्रश्न—उस तरह के प्रयोग में वीर रस का क्या आस्वाद है। उत्तर। जहाँ ऐसी शान्त रस की भूमिका का निबन्धन रहेगा वहाँ अवश्य ही शृंगार एवं वीर आदि में से कोई एक रस रहेगा। और उस तरह की प्रकृति वालों में उनका आस्वाद होगा। यह बात यहाँ ही नहीं है अन्यत्र भी जहाँ कहीं प्रहसन आदि में हास्यादि की प्रधानता है वहां भी अनुनिष्पादी अनुप्राणन करने वाले अन्य रसों का भी यानी भिन्न-भिन्न अधिकारी के लिए भिन्न-भिन्न रसों का आस्वाद होता ही है। यह उद्देश ही रूपक के भेदों के चिन्तन का निमित्त है। ऐसा कोई कहते हैं।

इसलिए शान्त रस है। यही कारण है कि चिरन्तन पुस्तकों में "स्थायिभावान् रसत्वमुपनेष्यामः" इस पंक्ति के बाद "शान्तो नाम शम स्थायिभावात्मकः" ऐसे शान्त के लक्षण का पाठ करते है। अतः सभी रसों में शान्त का ही प्रायः आस्वाद होता है। क्योंकि पर्यन्त दशा में उन रसों में भी सब व्यापारों का उपराम हो जाता है। भेद केवल इतना ही है कि विषयों के अधिष्ठान के विपरिवर्त्तन से उन रसों की मुख्यता का लाभ होता है

अध्यात्मध्यानसमुत्थस्तत्त्वज्ञानार्थहेतुसंयुक्तः ।
नैःश्रेयसोपदिष्टः शान्तरसो नाम सम्भवति ॥८३॥

अभिनवभारती

'अष्टानामिह देवानां शृङ्गारादीन् प्रदर्शयेत् ।
मध्ये च देवदेवस्य शान्तं रूपं प्रकल्पयेत् ॥' इति ।

तस्य च वैराग्यसंसारभीरुतादयो विभावाः । स हि तैरुपनिबद्धैर्विज्ञायते । मोक्षशास्त्रचिन्तादयोऽनुभावाः । निर्वेदमतिस्मृतिधृत्यादयो व्यभिचारिणः । अत एवेश्वरप्रणिधानविषये भक्तिश्रद्धे स्मृतिमतिधृत्युत्साहाद्यनुप्रविष्टे अङ्गमिति न तयोः पृथग्रसत्वेन गणनम् । अत्र सङ्ग्रहकारिका—

बालक्रीड़ा

(मूल) अध्यात्म शब्द का अर्थ है (आत्मनि इति अध्यात्मम्) आत्मा के विषय में । अतः आत्मा के विषय में किये गये ध्यान आदि से उत्पन्न, तत्त्वज्ञान के विषयीभूत अर्थों के हेतुओं से संयुक्त और मोक्ष के विषय में प्रवृत्त करने के लिए उपदिष्ट शान्त रस होता है । निःश्रेयस ही नैःश्रयस है स्वार्थ में अण् हुआ है । निःश्रेयस शब्द का अर्थ है अपवर्ग मोक्ष कैवल्य अतः मोक्षाध्यात्मसमुत्थः में मोक्ष पद के उपन्यास एवं नैःश्रेयसोपदिष्टः में नैःश्रेयस पद के उपन्यास करने से पुनरुक्ति हो जाती है जिससे मोक्षाध्यात्म यह अशुद्ध है । अतः अध्यात्मध्यानसमुत्थः पाठ शुद्ध है ।

अतः अन्य वासनाओं का उपधान रहता है यही कारण है कि वह शान्त सब रसों की प्रकृति है । और इसी को बतलाने के लिए सब रसों के पहले उसका कथन किया है । लोक में भी देखा गया है सामान्य पदार्थ का पृथक् पृथक् परिगणन नहीं होता है । यही बात है कि इसके स्थायी का पृथक् अभिधान नहीं किया किन्तु विवेचकों के लिए यह आवश्यक है कि सामान्य की भी पृथक् गणना उनको करनी चाहिए । इसलिए विवेचकों की अभिमत सामाजिकगत आस्वाद लक्षण प्रतीति के विषय होने से वह शान्त अलग ही है । इतिहास, पुराण एवं नाम कोश आदि में नो रस सुनाई पड़ते हैं । श्रीमतसिद्धान्त शास्त्र उत्पलाचार्य के प्रत्यभिज्ञादर्शन में भी । जैसा कि कहा है ।

यहाँ आठों देवताओं के श्रृंगारादि का प्रदर्शन करे किन्तु बीच बीच में देवाधिदेव महादेव के शान्त रूप का भी प्रदर्शन करे ।

उस शान्त के वैराग्य एवं संसार भीरुता आदि विभाव है । उनके उपनिबन्धन से उसका ज्ञान होता है । मोक्ष सम्बन्धी शास्त्रों की चिन्ता आदि उसके अनुभाव हैं । निर्वेद मति स्मृति एवं धृति आदि व्यभिचारी हैं । अतएव ईश्वरप्रणिधान विषयिणी स्मृति मति धृति एवं उत्साह आदि के अनुप्रवेश वाली भक्ति एवं श्रद्धा भी इसी शान्त के अंग है । यही कारण है कि उन दोनों का पृथक् रस रूप से परिगणन नहीं किया है । इस विषय में यह संग्रह कारिका है ।

बुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियसंरोधाध्यात्मसंस्थितोपेतः ।
सर्वप्राणिसुखहितः शान्तरसो नाम विज्ञेयः ॥८४॥
न यत्र दुःखं न सुखं न द्वेषो नापि मत्सरः ।
समः सर्वेषु भूतेषु स शान्तः प्रथितो रसः ॥८५॥
भावा विकारा रत्याद्याः शान्तस्तु प्रकृतिर्मतः ।
विकारः प्रकृतेर्जातः पुनस्तत्रैव लीयते ॥८६॥
स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद्भावः प्रवर्तते ।
पुनर्निमित्तापाये च शान्त एवोपलीयते ॥८७॥

अभिनवभारती

अध्यात्मध्याननिमित्तस्तत्त्वज्ञानार्थहेतुसंयुक्तः ।
निःश्रेयसधर्मयुतः शान्तरसो नाम विज्ञेयः ॥
अनुभावविभावस्थायियोगः क्रमाद्विशेषणत्रयेण दर्शितः ।

बालक्रीड़ा

(मूल) बुद्धीन्द्रियों (ज्ञानेन्द्रियों) एवं कर्मेन्द्रियों के व्यापारों के संरोध से आत्मविषयक स्थिति से उपेत करने वाला और सर्वप्राणियों के सुख के हित यानी जनक शान्त रस को समझना चाहिए ॥८४॥

(मूल) न जहाँ दुःख है, न सुख है. न द्वेष है, न मात्सर्य है, अपितु सभी भावों में एक रूप है वह प्रसिद्ध शान्त रस है। भूत पद का अर्थ यहाँ भाव है। क्योंकि भू धातु से भाव में घञ् होने पर भाव बनता है और क्त होने पर भूत बनता है। सुख दुःख द्वेष मात्सर्य एवं चिन्ता ग्लानि आदि सभी भावों का ही ऊपर में पूर्वार्द्ध में निर्देश है अतः भूत पद का भाव अर्थ है ॥८५॥

(मूल) रत्यादि भाव विकार हैं। और शान्त सबका प्रकृति है। विकार प्रकृति से पैदा होते हैं फिर उसी में लीन हो जाते हैं ॥८६॥

(मूल) इसलिए अपने २ निमित्तों कारणों को पाकर शान्त से सभी भाव पैदा होते हैं और निमित्त के अपाय से पुनः शान्त में लीन हो जाते हैं ॥८७॥

अध्यात्म विषयक ध्यान आदि जिसमें अभिनय के निमित्त हैं कारणीभूत अनुभाव है। जैसाकि मूल लेख है···अध्यात्मध्यान···आदिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः इति। तत्त्वज्ञान के विषयी भूत अर्थ रूप हेतु विभाव से संयुक्त है। निःश्रेय मोक्ष के प्रवर्तक धर्म शम से युत शान्त रस को जानना चाहिए।

यहाँ अध्यात्मध्यान अनुभाव तत्त्वज्ञान विभाव है। जैसाकि कहा है (तत्त्वज्ञान वैराग्याशयशुद्ध्यादिभिर्वि भावैरुत्पद्यते)। निःश्रेयस मोक्ष के प्रवर्तक धर्म शमयुत स्थायी है।

अभिनवभारती

स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद्भावः प्रवर्तते ।
पुनर्निमित्तापाये तु शान्त एव प्रलीयते ॥
इत्यादिना रसान्तरप्रकृतित्वमुपसंहृतम् ।

यत्तु डिमे हास्यशृङ्गारपरिहारेण षड्रसत्वं च वक्ष्यते तत्रायं भावः । 'दीप्तरसकाव्ययोनिः' (ना. शा. १८-८५) इति भाविना लक्षणेन रौद्रप्रधाने तावड्डिमे तद्विरुद्धस्य शान्तस्य सम्भावनैव न । किं निषेधेन । शान्तासम्भवे तु दीप्तरसकाव्ययोनिरित्येतेन किं व्यवच्छेद्यम् । 'शृङ्गारहास्यवर्जं षड्रसयुक्तः' (ना. शा. १८-८४) इति ह्युक्ते कस्तत्र प्रसङ्गः ।

ननु करुणबीभत्सभयानकप्राधान्यमनेन पादेन व्यवच्छेद्यते । नैतत् । 'सात्त्वत्यारभटीवृत्तिसम्पन्नः' (१८-८८)इत्यनेनैव तन्निरासात् । शान्ते तु सात्त्वत्येव वृत्तिरिति तद्व्यवच्छेदकमेवैतत् । तेन डिमलक्षणं प्रत्युत शान्तरसस्य सद्भावे लिङ्गम् । शृङ्गारस्तु प्रसभं सेव्यमानः सम्भाव्य एव । तदङ्गं च हास्य इति तयोरेव प्रतिषेधः कृतः प्राप्तत्वात्सर्वसाम्याच्च । विशेषतो वर्णदेवताभिधानमनुचितमप्यस्य तत्कल्पितमिति ज्ञेयम् । उत्पत्तिस्तु शान्तस्यापि दर्शितैव । तस्याभावो हि हास्यः । सहविभावत्वेन चास्य वीरबीभत्सौ । अत एवास्य रसस्य यमनियमेश्वरप्रणिधानाद्युपदेशः उपयोगितया, महाफलत्वं सर्वप्राधान्यमितिवृत्तव्यापकत्वं चोपपन्नमित्यलमतिप्रसङ्गेन ।

बालक्रीड़ा

इस क्रम से तीन विशेषणों के द्वारा अनुभाव विभाव एवं स्थायी का योग दिखला दिया है ।

सभी भाव अपने २ निमित्त को प्राप्तकर शान्त से प्रवृत्त होते हैं । और फिर निमित्त के अपाय होने पर शान्त में ही वे भाव प्रलीन हो जाते हैं ।

इत्यादि से शान्त अन्य सब रसों का प्रकृति है यह उपसंहार कर दिया है ।

जो तो डिम में शृंगार एवं हास्य को छोड़ छ रसों को कहेंगे । वहाँ का भाव यह है । दीप्त रस वाला काव्य डिम का योनि है । इस भावी लक्षण से रौद्ररस प्रधान डिम में डिम के विरुद्ध शान्तरस की संभावना ही है प्राप्ति होना तो और भी दूर है । अतः जब प्राप्ति नहीं है तब निषेध किसका होगा । क्योंकि (प्राप्तौ सत्यां निषेधः) प्राप्त होने पर निषेध होता है । अतः निषेध करने से क्या लाभ है । जब शान्त रस का होना डिम में असंभव है तब "दीप्तरस काव्ययोनिः" इस असाधारणधर्म रूप लक्षण से व्यवच्छेद्य शान्तरस कैसे हो सकता है । अतः शृंगार हास्य रहित छ रसों से युक्त डिम होता है ऐसा कहने पर शान्त का वहाँ कौन प्रसंग है ।

प्रश्न—यदि कहेंकि उक्त पाद से करुण बीभत्स एवं भयानक का प्राधान्य व्यवच्छेद्य है उत्तर । तब भी यह ठीक नहीं है । क्योंकि सात्वती एवं आरभट्टी वृत्तियों से सम्पन्न यह डिम है इसी से उनके प्राधान्य का निरास हो गया । शान्त में तो सात्त्वती ही वृत्ति

एवं नव रसा दृष्टा नाट्यज्ञैर्लक्षणान्विताः ।

एवमेते रसा ज्ञेयानव लक्षणलक्षिताः ।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि भावानामपि लक्षणम् ॥८८॥

अभिनवभारती

तत्त्वास्यादोऽस्य कीदृशः । उच्यते उपरागदायिभिरुत्साहरत्यादिभिरुपरक्तं यदात्मस्वरूपं तदेव विरलोम्भितरत्नान्तरालनिर्भासमानसिततरसूत्रवदाभातस्वरूपं सकलेषु रत्यादिषूपरञ्जकेषु तथाभावेनापि सकृद्विभातोऽयमात्मेति न्यायेन भासमानं परोन्मुखतात्मसकलदुःखजालहीनपरमानन्दलाभसंविदेकत्वेन काव्यप्रयोगप्रबन्धाभ्यां साधारणतया निर्भासमानमन्तर्मुखावस्थाभेदेन लोकोत्तरानन्दानयनं तथाविधहृदयं विधत्त इति ।

बालक्रीड़ा

(मूल) इस प्रकार नाट्य के जानकारों ने लक्षणों से समन्वित नव रसों को देखा है अतः लक्षणों से लक्षित इन नौ रसों को जानना चाहिए। अब इसके बाद भावों के भी लक्षणों को कहूँगा।

होती है अतः करुणादि की प्रधानता का व्यवच्छेदक ही यह विशेषण है या पद है। बल्कि इस कथन से तो यह सिद्ध होता है कि डिम का लक्षण शान्तरस के सद्भाव में लिंग है। वलात्कार से सेव्यमान शृंगार तो कथंचित् सम्भाव्य भी है। उसका अंग हास्य है। अतः प्राप्त होने से (एवं सब रूपकों में समान रूप से अभिनेय होने से) उन दोनों का ही प्रतिषेध किया है। शान्त रस के विषय में वर्ण एवं देवता का अभिधान यद्यपि अनुचित है तद्यपि (अन्य रसों की तुलना करने के लिए) विशेष रूप से कल्पना कर के कहा गया है ऐसा समझना चाहिए। उत्पत्ति तो शान्त की भी दिखा ही दी है। उस का अभाव हास्य है वीर एवं बीभत्स दोनों इसके समान विभाव वाले हैं। इसीलिए इस शान्त रस में उपयोगी होने से यम नियम एवं ईश्वर प्रणिधान आदि का उपदेश महाफलशालिता, सर्व प्राधान्य एवं इतिवृत्त व्यापकत्व की उपपत्ति हो गयी अतः अतिप्रसंग करना ठीक नहीं है।

प्रश्न—इस शान्तरस का आस्वाद कैसा है। उत्तर। कहते हैं कि अपने स्वरूप से उपरक्त कर देने वाले उत्साह एवं रति आदि से उपरक्त और थोड़ी २ जगह छोड़कर जड़े हुए रत्नों के बीच में चमकते हुए सूत्र की तरह चमकीले स्वरूप वाला जो आत्मस्वरूप है वही रत्यादि सकल उपरंजकों में उक्त सूत्र की भावभंगी से भी एक वार प्रकाशित हुआ यह आत्मा सकल विश्व को अन्धकाररहित कर के आनन्द विभोर कर देता है के न्याय से पराङ्मुखता लक्षण सकल दुःखों से हीन तथा परमानन्द का लाभ करा देने से चिदेक रूप से काव्य प्रबन्ध एवं प्रयोग प्रबन्ध के द्वारा साधारणतया भास मान आत्मा, अन्तर्मुखी अवस्था को उत्पन्न कर के लोकोत्तर आनन्द को प्राप्त करने वाले अत एव सकल दुःखों से हीन हृदय को कर देता है।

अभिनवभारती

एवं ते नवैव रसाः। पुमर्थोपयोगित्वेन रञ्जनाधिक्येन वा इयतामेवोपदेश्यत्वात्। तेन रसान्तरसंभवेऽपि चार्षप्रसिद्धया सङ्ख्यानियम इति यदन्यैरुक्तं तत्प्रत्युक्तम्। भावाध्यायेऽपि चैतद्वक्ष्यते। आर्द्रतास्थायिकः स्नेहो रस इति त्वसत्। स्नेहो ह्यभिषङ्गः। स च सर्वो रत्युत्साहादावेव पर्यवस्यति। तथा हि—बालस्य मातापित्रादौ स्नेहो भये विश्रान्तः। यूने मित्रजने रतौ। लक्ष्मणादौ भ्रातरि स्नेहो धर्ममय एव। एवं वृद्धस्य पुत्रादाविति द्रष्टव्यम्। एषैव गन्धस्थायिकस्य लौल्यरसस्य प्रत्याख्याने सरणिर्मन्तव्या। हासे वा रतौ वान्यत्र पर्यवसानात्। एवं भक्तावपि वाच्यमिति।

अध्यायार्थमुपसंहरन् भाविनोऽवकाशं ददत्सङ्गतिं प्रकटीकर्तुमाह—एवमेते रसा ज्ञेया नवेति। रसवद्गीतमित्यादिव्यपदेशात् स्तूयते। समूला एवोपचारा इति दर्शयति—लक्षणलक्षिता इति। भावानामपि लक्षणं रसलक्षणमेव पूरयति।

मधुसूदनी

एवं भक्तावपीति। यथा या सरणिः गन्धस्थायिकस्य लौल्यरसस्य प्रत्याख्याने तथा सा सरणिः भक्तावपि मन्तव्या। अत्र गन्ध गति हिंसायाचनेषु इति धातोर्निष्पन्नः गन्धशब्दः याचनार्थकः। एवं याचनास्थायी भावो यस्य स। लोलस्य चपलस्य भावो लौल्यं चापलम्। स एव इतस्ततो याचते यो लोलो भवतीति। भक्तेः गुरुराजदेवता विषयकरतौ पर्यवसानं मन्तव्यम्। अधिकन्तु अत्र विषये भावाध्याये सप्तमे वक्ष्यते।

बालक्रीड़ा

इस प्रकार के ये नो ही रस हैं। पुरुष प्रार्थनीय अर्थों में उपयोगी होने से तथा रंजन की अधिकता से इतने ही उपदेश्य हैं। इससे अन्य रसों के होने पर भी जो यह रसों की नो संख्या का नियम है वह आर्ष प्रसिद्धि के अनुसार है ऐसा अन्यों का कहना प्रत्युक्त हो गया दत्तोत्तर हो गया। भावाध्याय में इस तथ्य को कहेंगे। आर्द्रता नामक स्थायी वाला स्नेह रस है ऐसा किसी का कहना असत् है। स्नेह का अर्थ अभिषंग है। अभितः संग चारो तरफ से आसक्ति है वह रति एवं उत्साह आदि में समाप्त हो जाता है। जैसे बालक का माता एवं पिता आदि में स्नेह भय में विश्रान्त है। युवकों का अपने प्रेमी एवं प्रेयसी की रति में। भाई का भाई में स्नेह धर्ममय ही होता है अतः उसकी धर्म में विश्रान्ति है। यही दशा वृद्धों का पुत्र आदि के ऊपर होने वाले प्रेम को भी समझनी चाहिए। यही सरणि गन्ध "गन्ध गतिहिंसायाचनेषु" इस धातु के अनुसार याचन रूप स्थायी भाव वाले लौल्य रस के प्रत्याख्यान करने में माननी चाहिए। क्योंकि उसका अन्तर्भाव हास्य या रति या अन्य किसी में हो जाता है। यही स्थिति भक्ति के विषय में भी कहनी चाहिए।

अब छठे अध्याय के अर्थ का उपसंहार करते हुए भावी अध्याय के अर्थ को अवकाश देते हुए संगति प्रकट करने के लिए कहते हैं कि इस तरह इन नो रसों को जानना चाहिए। उपचार लक्षणा समूल होती है यानी लक्षणा करने का कोई आधार होता है इसको दिखाते हैं

अभिनवभारती

विभावव्यभिचार्यनुभावलक्षणेन रसलक्षणमेव पूर्यते। रतिस्थायिभावप्रभवः ऋतु-माल्यादिविभावको नयनचातुर्याद्यनुभावक इत्युक्तमपि साकाङ्क्षमेव। कीदृशी हि रतिः कश्च विभावः कश्चानुभावः। तेन यद्यप्यापाततो भावानां लक्षणमिदं प्रतिभाति साहचर्यात् तथापि वाक्यैकवाक्यतया रसलक्षणमेवेदमित्यपिशब्दस्यार्थ इति शिवम्।

रत्यादिशक्त्यष्टकमध्यवृत्तिर्यस्य स्वहृन्मण्डलसम्प्रयोज्या(ज्यः)।
स्थायी शिवश्चेतसि तेन वृत्तिः कृता रसाध्याय इह क्रमेण॥

इति श्रीमहामाहेश्वराभिनवगुप्तविरचितायां नाटचवेदविवृतावभिनवभारत्यां
रसाध्यायः षष्ठः समाप्तः

मधुसूदनी

इति नाट्यशास्त्रे श्रीमधुसूदन शास्त्रिणः कृतौ मदुसूदन्यां षष्ठोऽध्यायः

प्रासूत रामो विदुषां वरेण्यो वक्तावरी श्रीमधुसूदनं यम्
महात्मनस्तस्य कृतिर्व्यरंसीन्नाट्येऽत्र षष्ठे मधुसूदनीयम्

बालक्रीड़ा

इति श्रीमधुसूदन शास्त्री की रचित मूलनाटचशास्त्र की हिन्दी टीका बालक्रीड़ा समाप्त हुई।

कि लक्षणों से लक्षित है। भावों के भी लक्षण रसों के लक्षणों को पूर्ण करते हैं। विभाव अनुभाव एवं व्यभिचारी के लक्षण से रस का लक्षण ही पूर्ण होता है। रति नामक स्थायी भाव से जिसका प्रभव है उत्पत्ति है। ऋतु एवं तदुद्भूत पुष्पों की माला आदि जिसम विभाव है। नयन चातुर्यादि जिसमें अनुभाव हैं ऐसा कहना भी साकांक्ष ही है। कैसी रति। कौन विभाव। कौन अनुभाव। इससे यद्यपि आपाततः यह भावों का लक्षण साहचर्य वश मालूम पड़ता है तद्यपि पूर्व वाक्यों की उत्तर वाक्यों के साथ एकता होने का नियम है अतः रसों का ही यह लक्षण है यह अपि शब्द का अर्थ है। इति शिवम्।

रत्यादि आठ शक्तियों के मध्य में रहने वाला, और अपने हृदय मण्डल स्थान में प्रयोक्ता प्रेरक शिव जिसके चित्त में स्थायी है उस अभिनव ने यहाँ रसाध्याय में क्रम से वृत्ति की है।

इति श्रीमधुसूदन शास्त्री की कृति नाटच शास्त्र के छठे अध्याय की बालक्रीड़ा हिन्दी टीका समाप्त हुई।

अभिनवभारती

भावानिदानीमिति। नन्वध्यायान्त एवैतदासूत्रितमिति किमनेन पुनरुक्तेन। 'भावाश्चापि कथं प्रोक्ताः' (ना. शा. ६-३) इत्यत्रैव प्रश्ने कृते पुनरिहाध्याये 'किं भवन्ति' इत्यादि च किमर्थमुच्यते।

अत्र केचिदाहुः—'भावाश्चापि' इत्यध्यायादौ 'भावानामपि लक्षणम्' इत्यध्यायान्ते च विभावादीनां सर्वेषां साधारण्येन प्रश्नप्रतिज्ञादि। अधुना तु-विभावादिषु वक्तव्येषु प्रथमं तावत्प्राधान्याच्चित्तवृत्तिरूपाः स्थायिव्यभिचारिणो लक्षणीया इति तद्विषयैवेयं प्रतिज्ञा प्रश्नश्च।

वयं तु ब्रूमः—भावशब्देन तावच्चित्तवृत्तिविशेषा एव विवक्षिताः। तथा च 'एकोनपञ्चाशता भावैः' इत्यादौ तानेवोपसंहरिष्यति। तेषां तु योग्यतावशाद्यथायोगं स्थायिसंचारिविभावानुभावरूपता संभवति। ये त्वेते ऋतुमाल्यादयो विभावा बाह्याश्च बाष्पप्रभृतयोऽनुभावा एकान्तजडस्वभावाः ते न भावशब्दव्यदेश्याः।

बालक्रीड़ा

अन्तर्मुखी अतः शुद्ध चित्तवृत्तिवाले पुरुष का बोध्य। रसमात्रमूर्ति केवलानन्द स्वरूप। मात्र शब्द केवल का पर्याय है। श्रुति कहती है कि "रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दी भवति" वही रस है अतः रस को प्राप्त कर यह प्राणी आनन्दी होता है। जैसे दोष को प्राप्त करने वाला दोषी होता है। वैसे ही आनन्द को प्राप्त करने वाला आनन्दी होता है। यदि रस आनन्द रूप नहीं हो तो उसको प्राप्त करने वाला आनन्दी कैसे हो सकता है किन्तु आनन्दी होता है। अतः रस आनन्द स्वरूप है फलतः रसमात्रमूर्ति यानी केवलानन्द-मूर्ति। श्रीमान् शोभासम्पन्न विभवसम्पन्न, त्रिणत्र अग्नि सूर्य एवं चन्द्ररूप तीन नयन वाले भगवान् मेरे ऊपर हृदय से अकृत्रिम भाव से प्रसन्न होवें। यहाँ भगवान् की स्तुति के बहाने विभाव अनुभाव एवं व्यभिचारी के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है इस सूत्र की व्याख्या कर दी है।

भावों की अब व्याख्या करेंगे। प्रश्न—"अतः ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि भावानामपि लक्षणम्। इस अध्याय के अन्त के श्लोक में आप यह सूचना दे चुके हैं कि अब इसके बाद भावों के लक्षण को कहूँगा। अब फिर भावों की व्याख्या करेंगे इसके कहने का क्या आशय है। और "भावाश्चापि कथं प्रोक्ताः" यहाँ पर भी भावों के बारे में प्रश्न कर चुके हैं। तब इस प्रचलित अध्याय में "किं भवन्ति" इत्यादि क्यों कहते हैं किस लिए कहते हैं।

उत्तर। इस पर कोई ऐसा कहते हैं कि "भावाश्चापि" यह अध्याय के आरम्भ में और भावानामपि लक्षणम् यह अध्याय के अन्त में विभाव अनुभाव आदि सबके सम्बन्ध में प्रश्न एवं प्रतिज्ञा आदि हो चुके हैं। अब तो विभाव आदि के विषय में कहना है। अतः प्रधानता की दृष्टि से प्रथम स्थायी एवं व्यभिचारी रूप चित्त वृत्तियों का लक्षण करना चाहिए इसलिए उन्हीं के विषय में यह प्रतिज्ञा है एवं प्रश्न भी है। हम तो कहते हैं कि भाव शब्द से चित्तवृत्ति विशेष ही, विवक्षित है। इसीलिए एकोनपंचाशत् भाव है इत्यादि स्थल में उन्हींका उपसंहार भी करेंगे। किन्तु उन भावों का रूप यथायोग माने योग्यता के बदौलत